कविवर पन्त
और
उनका 'आधुनिक कवि'

(कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का विशद अध्ययन तथा उनके 'आधुनिक कवि' की विस्तृत व्याख्या)

लेखक

प्रो० रामरजपाल द्विवेदी एम० ए०

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक
रामकृष्ण शर्मा
हिन्दी साहित्य संसार
नई सड़क, दिल्ली।

मूल्य
साढ़े सात रुपये
मई, १९५९

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली।

अनुक्रमणिका

[प्रथम खण्ड]

[द्वितीय खण्ड]

अपनी बात

जीवित कवि पर लिखना खतरे से खाली नहीं, और फिर पन्त पर लिखना तो और भी कठिन है क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने पर पर्यालोचन, भूमिकाओं, प्रस्तावनाओं, विज्ञापनों एवं स्वतंत्र लेखों में इतना अधिक लिख दिया है कि उससे कुछ अधिक लिख देना सरल नहीं। दूसरे अभी उनका कवि सजग है, उसकी प्रगति पर विराम नही लगा है। अतः उनके विषय मे किसी धारणा को बना लेना असंभव है। उनका गत्यात्मक कवि-जीवन आलोचक को किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचने देता। वह पहुँचने ही वाला होता है कि उसे कभी चुपके, कभी डंके की चोट पंत के दिक्परिवर्तन की सूचना मिलती है और वह अपने कहे पर पुनः सोचने को बाध्य हो जाता है।

पन्त का 'आधुनिक कवि' अनेक वर्षों से विभिन्न विश्वविद्यालयों के एम० ए०, साहित्यरत्न एव अन्य समकक्ष कक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित चला आ रहा है। इस पर कतिपय टीकाएँ भी लिखी गई है पर क्या वे वास्तव में उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की क्षुधापूर्ति के लिए पर्याप्त है? क्या पंत का अध्ययन करते समय एम० ए० के विद्यार्थियों को इन पैसावादी आलोचकों की कृतियों से तनिक भी लाभ हुआ है? अधिकाश पुस्तकों में टीका के नाम पर संकलित रचनाओं के अन्वय एवं पंत के विषय में बीस-तीस पेज रँग भर देने के अतिरिक्त और क्या है? इसी कमी को दृष्टिकोण मे रखकर प्रस्तुत प्रयास किया गया है। इसमें 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक की ही प्रतिनिधि रचनाएँ संगृहीत है। अतः प्रस्तुत पुस्तक के आलोचना-खण्ड में अधिकांशतः वही तक दृष्टि सीमित रखी गई है।

हिन्दी के आधुनिक युग की प्रसाद, निराला, पंत की वृहत्त्रयी विख्यात है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस त्रयी को बड़े-बड़े दुर्दिन देखने पड़े है—किसी को रहस्यवाद-छायावाद के कारण, किसी को भाषा-काठिन्य के कारण तो किसी को इसी कारण कि वह आसमानी है। सहृदयता लेकर बिरला आलोचक ही आगे बढ़ा। प्रसाद एवं पंत को तो कुछ वकील मिल भी गए पर तीसरे महाकवि को यही नही कि कोई वकील नही मिला प्रत्युत विरोधियों का, बहुत बड़ा झुण्ड मिला। 'आधुनिक कवि भाग २' के कवि का मूल्यांकन करने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में पन्त जी का आलोचनात्मक अध्ययन है। पंत जी का (और किसी का भी) जीवन-वृत्त जान लेना उनकी रचनाओं को समझने में अत्यंत सहायक होता है; अतः प्रथम अध्याय में उनकी जीवन-रेखा खींची गई है जो किसी स्थल पर गहरी हो गई है, किसी स्थल पर हलकी। दूसरे अध्याय

में उनकी रचनाओं का क्रमबद्ध विवेचन है। 'ग्राम्या' तक प्रत्येक संकलन को अलग-अलग लिया है, उपरांत सामूहिक-अध्ययन है। कारण स्पष्ट है—संकलन मे 'ग्राम्या' तक की ही रचनाएँ हैं। उनके उपन्यास, रूपकों, कहानियों आदि को जान-बूझकर छोड दिया गया है। अभिव्यंजना के स्पष्टतः तीन भाग हैं—भाषा, छंद, अलंकार। आधुनिक कवि रसकी बेडियों मे निगडित नहीं होते; अतः इस अध्याय से बेचारे रस को वैराग्य दे देना पड़ा है। चौथे अध्याय मे पंत के प्रकृति-चित्रण पर विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है। गुर्टू द्वारा संपादित 'सुमित्रानन्दन पंत' में माचवे जी के 'पंत और प्रकृति' लेख का ढंग अर्थात् प्रत्येक संकलन की प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं को छाँट भर देना मुझे कतई पसंद नही; इसीलिए मैंने साहित्य में बहुमान्य षट् विधाओ के अंतर्गत पंत के प्रकृति-चित्रण पर विचार किया है। 'गीति-काव्य' नामक अध्याय अपेक्षाकृत बढ़ गया है। पर इससे कम भी तो नही हो सकता था। पहले, गीत के प्रमुख तत्त्वों पर पंत को कसा है। पुनः विषयानुसार गीतों को पाँच भागों में विभक्त करके विचार किया गया है। वर्तमान हिन्दी गीतिकारों पर अँग्रेजी का प्रभाव असदिग्ध है। अंत में, इसीलिए, सॉनेट, ओड, आदि गीत के अँग्रेजी-प्रकारों पर भी दृष्टिपात किया गया है। अगले अध्याय में, प्रारंभ में, छायावाद पर सामान्य विचार करके उसकी पाँचों विशेषताओं को लिया गया है—एवं पंत जी की रचनाओं को प्रत्येक विशेषता के भीतर रखकर आँका है। जहाँ तक रहस्यवाद का प्रश्न है पंत जी मे यह साप्रदायिक बन के प्रायः नही आया है। हाँ, यत्र-तत्र रहस्यात्मक रचनाएँ अवश्य प्राप्त होती है यथा 'मौन-निमंत्रण' पर वे स्वाभाविक है। इसीलिए पंत जी के रहस्यवादी रूप पर प्रस्तुत कवि मे विचार नहीं किया गया। 'प्रगतिवाद' वाले अध्याय में कवि का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी दर्शा दिया गया है। यही कारण है कि मैंने नारी-विषयक स्वतंत्र अध्याय की आवश्यकता नहीं समझी। आठवें अध्याय में कवि की कोमल कल्पना के विषय में विचार किया गया है। उत्तरार्ध में उनकी रचनाओं में अनुभूति की कमी का भी सवाल उठाया है। पंत-काव्य तीन युगों मे बडी आसानी से विभक्त हो जाता है; अतः आगे के अध्याय में उनकी समस्त रचनाओं को तीन भागों मे विभक्त करके प्रत्येक भाग पर काफी देर तक विचार किया गया है। तृतीय युग में आध्यात्मवाद, अरविन्दवाद, समझौता-वाद की भी चर्चा है। प्रगतिवादियों के अनुसार यही काल उनका 'प्रतिक्रियावादी काल' है, इसीलिए पंत का प्रतिक्रियावादीपन दिखाने के लिए मैंने कोई स्वतंत्र अध्याय नहीं जोड़ा। दूसरे उनके 'आधुनिक कवि' में पंत-काव्य के दो ही युग प्रतिनिधित्व पा सके है। उनका तथाकथित प्रतिक्रियावादीपन इसमें प्रवेश नहीं कर सका है। अंतिम दो अध्याय भी इसी विश्वास से जोड़े गए है कि उनसे विद्यार्थियों का लाभ ही होगा। आशा है वे उन्हें सूपरफ्लूअस समझने की गलती नहीं करेंगे।

पुस्तक के दूसरे भाग मे पंत के 'आधुनिक कवि' में संगृहीत रचनाओं की

विस्तृत टीका है। इसमे मैने यत्र-तत्र शब्दों के अर्थ भी दे दिए है जो अत्यंत लाभ-कारी सिद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त व्याख्या की गई पंक्तियों में उपलब्ध प्रत्येक विशेषता का भी दिग्दर्शन कराया गया है। उच्च कक्षाओं में, ध्यान रखना चाहिए, यह चीज अपरिहार्य है। प्रत्येक रचना के सामने उसके लेखन-काल के अतिरिक्त उस संग्रह का भी नाम दे देना मुझे उचित लगा जिससे उसे लिया गया है।

पुस्तक कैसी बन पड़ी है--यह विज्ञ पाठकों से कहने की नहीं, सुनने की बात है। आशा है वे अपने विचार एवं सुझाव अवश्य प्रेषित करेंगे ताकि आगामी संस्करण मे इसे और भी सुन्दर दर बनाया जा सके। त्रुटियों की ओर इंगित का हृदय से स्वागत होगा।

अंत में एक बात और कह दूँ—मौलिकता का दंभ न करके इसे अधिकतम उपयोगी बनाने के लिए अनेक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं, 'जिन्हें श्री भरत शर्मा ने जुटाया था,' से लाभ उठाया गया है एतदर्थ मै सबका आभारी हूं। हिन्दी-साहित्य-संसार के उत्साही युवक संचालक श्री रामकृष्ण जी शर्मा के विषय में तो कहूँ ही क्या जिन्होंने अत्यन्त आत्मीय भाव से पुनः-पुनः प्रेरित करके इसे प्रकाश में ला ही दिया। मेरे आलोचना-तरु से गिरे हुए इस फल मे यदि विद्यार्थियों को तनिक भी मिठास लगा तो मेरे उत्साह में और भी अधिक संवर्धन होगा—इसमें संदेह नहीं।

अतरौली (अलीगढ़) **—रामरजपाल द्विवेदी**
६ मई १९५९

: १ :

जीवन-रेखा

आखिर हमें पंत कवि से काम है, पंत व्यक्ति से नहीं, फिर हमें उनकी जीवन-रेखा क्यों निहारनी है ? नहीं—ऐसी बात नहीं। कवि भी तो मानव है। उसका भी तो जीवन है—और उसके जीवन की सरल-वक्र लकीरे उसकी रचनाओं में आप ही उभर आती हैं। यही कारण है कि प्रत्येक कवि की रचनाओं की पृष्ठभूमि में उसके जीवन के विविध दृश्यो का पर्दा पड़ा रहता है। यदि किसी प्रकार इस परदे का रँग धुल जाय या धूमिल हो जाय तो भविष्य का पाठक उन रँगों को पहचानने के लिए अपने पसीने की चिन्ता नही करता। शैक्सपीयर, कालिदास, तुलसी प्रभृति महान कवियों की जीवन सबंधी खोजे आज भी जारी हैं। अतः पंत के—किसी भी कवि के—काव्य पर निगाह दौड़ाने से पूर्व उनके जीवन की झाँकी कर लेना अत्यंत समीचीन है।

अल्मोड़ा से ३२ मील उत्तर की ओर, समुद्रतल से आठ हजार फीट की ऊँचाई पर प्रकृति से आँख मिचौनी खेलता हुआ एक गाँव है कौसानी। इसी गाँव में सन् १९०० की २० वी मई (ज्येष्ठ कृष्ण ८ संवत १९५७) को सुमित्रानंदन पंत ने अपने शिशु नयन उघारे। उस समय तक महाकवि प्रसाद दस, निराला चार एवं प्रेमचंद बीस वसंत निहार चुके थे। इनकी माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी एवं पिता का नाम पं० गंगादत्त पत था। वे धनी जमींदार एवं कौसानी राज्य के कोषाध्यक्ष थे। बड़े जमीदार एवं पुष्कल धन—फिर भी वे बड़े सीधे सादे व्यक्ति थे। सुख में सुमिरन करने वाले वही थे। प्रातः बेला मे वे घण्टों ध्यानावस्थित रहते। भला ऐसे वातावरण से शिशु सुमित्रानन्दन—जो उन दिनों गुसाईदत्त के रूप मे अपने पिता की सबसे छोटी सतान था—अछूता रह जाता ? पर ऐसी सुख-ज्योति में भी दुर्भाग्य के तमस ने अपना चिह्न छोड़ ही दिया—और वह था इनके जन्मोपरांत ही स्वर्गादपि गरीयसी जननी का स्वर्गारोहण। बालक पंत भविष्य में विलख उठा, **"मै सोचने लगा यदि वह माँ आज जीवित होती तो कितनी प्रसन्न होती। कितने दुख की बात है कि वह सरस्वती अपनी आँखों से इतना न देख पाई कि उनका पुत्र सरस्वती की आराधना करके कैसा यशस्वी बनेगा।"** अपनी माँ की पुनीत स्मृति को उन्होंने बड़ा सँभाल कर रखा। 'वीणा' की कितनी ही कविताओं में ममतामय 'माँ' शब्द बिखरा पड़ा है। माँ-गुण-गान कई कविताओं

में दृष्टिगोचर होता है। इस संग्रह की अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार पढ़ी जाती हैं :—

"जीवन भर भी माँ ! मैं पूरे
गा न सकूंगी तेरे गीत,
अपनी वाणी मे स्वर भर !"

'ग्रंथि' मे भी इसके लिए उन्होंने नियति को कोसा है :—

"नियति ने ही निज कुटिल कर से, सुखद
गोद मेरे लाड़ की थी छीन ली;
बाल में ही हो गई थी लुप्त हा !
मातृ-अंचल की अभय-छाया मुझे।"

अनंतर इनका शैशव इनकी फूफी के अंचल की छाया मे पनपा। यह भी सीधी-सादी, पवित्र एव उदारमना थी।

प्रारम्भ मे पंत जी की गाँव-पाठशाला मे ही पट्टी पुजी। यहाँ ५-६ वर्ष टाट पर बैठने के अनंतर गवर्नमेण्ट हाई स्कूल अलमोडा मे उनकी हाजिरी होने लगी। नवी कक्षा तक शिक्षा-प्राप्त करने के बाद ही यह बनारस चले गए। मैट्रिक करने के बाद यह वहाँ से भी चले आए और प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज मे भरती हो गए। उस समय यह हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहा करते थे जहाँ उनका भविष्य उनसे खेलने के लिए आया करता था :—

"इस विस्तृत होटल में
मैं सुनती हूँ,
मेरा भी है सखि ! छोटा सा रूम,
जहाँ मेरी आकांक्षा सूम
गूंजती है प्रतिपल को तूम !"

उस समय भी यह कविताएं लिखा करते जिन्हे लोग मैथिलीशरण की भौड़ी नक़ल बताते। हिन्दी आपकी तब भी बड़ी जटिल होती—इतनी कि आपके अध्यापक भी न समझ पाते और उनके फेल होने की भविष्यवाणी करते। यह बात सन् १९२० के आस पास की है। इसके बाद ही १९२१ आया—गाँधीजी का १९२१ जिसमें प्रेमचंद जैसा "मरा आदमी भी जी उठा।" फिर पत जैसे जीवित युवक का तो कहना ही क्या ? यह भी अपने विद्यालय से असहयोग कर बैठे। फलतः यही पर इनकी कालिजी शिक्षा पर विराम लग गया। पर घर का अध्ययन इनका तीव्र-गति से चल निकला। हिन्दी-अँगरेजी के परम विद्वान प० शिवाधार पाण्डेय के श्री-चरणों में बैठकर इन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अँगरेजी के ग्रथों का अध्ययन-मनन किया। कविता वह पहले से ही करते थे, अब इनकी प्रतिभा और भी विकसित हो गई। उपनिषदों के गभीर अध्ययन से इनके जीवन की दिशा ही बदल गई। काव्य-रचना के साथ-साथ इन्होंने संगीत, डाक्टरी एव ज्योतिष का भी सम्यक् ज्ञानार्जन

किया। 'रूपान' पत्रिका का भी संपादन किया जिसने हिन्दी में नया मोड़ ला दिया। गंभीर (Reserved) व्यक्ति होने पर भी आपकी हिन्दी के मूर्धन्य कवि-लेखकों से मैत्री है। इस विषय में वे स्वयं लिखते है--"**श्री मैथिलीशरण की मुझ पर बड़ी कृपा रही है। उनका स्नेह मुझे मिला है। उनके चिरगाँव मै हो आया हूँ। वहाँ मैंने बड़े सुख का अनुभव किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय का मेरे प्रति बड़ा सद्भाव रहा। उनके सभापतित्व मे होने वाले प्रयाग के एक कवि सम्मेलन में जब मैंने 'छाया' कविता पढ़ी तो उहोंने गद्‌गद् होकर अपने गले की माला ही मेरे गले में डाल दी थी। 'रत्नाकर' जी भी मुझे बहुत प्यार करते थे यहाँ तक कि एक चित्र भी उन्होंने मेरे साथ खिचवाया था। श्रीधर पाठक से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। रविवार की संध्या को मै प्राय: उन्हीं के यहाँ खाना खाया करता था। प्रकृति के ये बड़े प्रेमी थे। (और अब पंत उनसे भी बड़े प्रकृति-प्रेमी मिल गए फिर तो कहना ही क्या?—लेखक) वे मेरी 'वीणा' की रचनाओं को बहुत पसंद करते थे। कभी-कभी कह दिया करते थे, "मुझे विश्वास हो गया तुम भविष्य के कवि हो।" 'प्रसाद' जी के साथ तो, जब मै काशी जाता, ठहरता ही था। उनकी अनेक मधुर स्मृतियाँ मेरे हृदय मे हैं। वे अत्यंत मधुर स्वभाव के व्यवहार-कुशल व्यक्ति थे। स्वाभाविक रूप से कविता जिसके व्यक्तित्व में निवास करे ऐस प्राणी थे वे। 'निराला' जी से सुहृद मित्र की भाँति घनिष्ठ संबंध रहा है। पहली बार अपने जामाता के साथ वे मुझे मिले थे। मुझे स्मरण है अपनी 'मौन निमन्त्रण' कविता मैंने उन्हे सुनाई थी और उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। जिन दिनों निराला जी लखनऊ मे थे और मै कालाकाँकर से वहाँ जाता तो उनसे नित्य भेट होती। हम साथ ही संध्या समय टहलने जाते और कभी-कभी अमीनाबाद मे साथ बैठकर चाय पीते। उन दिनों का मुझे अब भी स्मरण है। 'निराला' एक बार कालाकाँकर भी आए थे और यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि निराला मुझे बहुत प्यार करते है। महादेवी से मेरा प्रथम परिचय धीरेन्द्र वर्मा के विवाह में हुआ। मुझे देखकर वह सहसा हँस दीं, इस समय इतना ही स्मरण है।······'संसद्' मे जब उपेन्द्रनाथ 'अश्क' रहते थे तो वहाँ जाता ही रहता था।**" पंत जैसे भोले व्यक्ति की मित्र परिधि इतनी विस्तृत क्यों न हो।

हाँ, तो कॉलेज छोडने के पश्चात् वे कभी प्रयाग, कभी काशी, कभी कौसानी में सरस्वती की आराधना करने लगे। बीच मे पारिवारिक संकटों ने भी उन्हे राहत की साँस नहीं लेने दी—"**सन् १९२१ में जब मैंने कॉलेज छोड़ दिया, आर्थिक द्वार तो मेरे लिए उसी दिन बन्द हो गया था। मेरी माँ नहीं रहीं। पिता भी चले गए। भाइयों ने विशेष काम नहीं किया। इस प्रकार घर का सहारा भी चला गया। मैं अच्छे ढंग से पला हूँ, अच्छे ढंग से रहने का आदी हूँ, और सभी बहुत अच्छे ढग से रहें--इस बात का पक्षपाती हूँ। ऐसी दशा में क्या यह न्याय संगत था, क्या**

यह व्यावहारिक था, क्या यह संभव भी था कि मैं विवाह की बात सोचता ?" और यह 'था' 'है' और 'होगा' में परिवर्तित हो गया। सन् १९२६ मे इनके बडे भाई का देहांत हो गया। उन्होंने बड़े पैमाने (Large Scale) पर उद्योग प्रारभ किया था पर लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई। जब उनका स्वर्गवास हुआ ९२,००० रुपए कर्ज था। पिता जी ने जायदाद बेच कर ऋण चुकाया पर इसके एक वर्ष बाद ही वे भी चल बसे। कवि पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडा। सन् '३० मे काला-काँकर के महाराज अवधेशसिह अपने लघु भ्राता के साथ अल्मोड़ा आए। कवि के आर्थिक संकट से वे अत्याधिक प्रभावित हुए और उनसे कालाकाँकर चलने की प्रार्थना की। उन्होंने मना किया पर नरेश की स्नेह प्लावित हठ के कारण उन्हें वहाँ जाना ही पड़ा। सन् १९३४ तक वे वही रहे एवं 'गुजन' तथा 'ज्योत्स्ना' जैसी सुघर रचनाओं को वही जन्म दिया। वहाँ से वे पुनः अल्मोडा चले गए। इसके अनतर इन्होंने सुप्रसिद्ध नृत्यकार उदयशकर भट्ट के साथ बडे-बड़े नगरों की यात्रा की। 'कल्पना' चित्रपट के संबंध मे इन्हे मद्रास भी रहना पड़ा जहाँ वे अरविद के संपर्क मे आए। इस विषय मे वे स्वय लिखते है, **"अपनी अस्वस्थता के बाद मुझे 'कल्पना' चित्रपट के सम्बन्ध में मद्रास जाना पड़ा और मुझे पांडिचेरी मे श्री अरविंद के दर्शन करने तथा श्री अरविंद आश्रम के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। इसमें सदेह नहीं कि श्री अरविंद के दिव्य जीवन दर्शन से मै अत्यंत प्रभावित हुआ हूँ। श्री अरविंद आश्रम के योग युक्त (अतः संगठित) वातावरण के प्रभाव के ऊर्ध्व मान्यताओं संबंधी, मेरी अनेक शंकाएँ दूर हुई है। 'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की रचनाओं में वह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।"**[1] इन दिनों वे अपने प्रिय नगर प्रयाग में रह रहे है।

स्वभाव आपका, जैसा कि पूर्व ही लिखा जा चुका है, अत्यंत सरल एवं छल-विहीन है। जो सोचते है वही कहते है। बात को घुमा फिराकर कहना उन्हे नही आता। जहाँ तक उनके व्यक्तित्व का प्रश्न है वह खुले कुसुम के समान है। विधाता ने बड़े मनोयोग से इन्हे सजाया-सँवारा है। हिन्दी कवियों मे पौरुष के लिए निराला एव कोमलता के लिए पत कहावत बन गए है। गठित एव सुकुमार वपु, गौर वर्ण, प्रदीप्त नेत्र एव उन्नत ललाट और उससे भी अधिक उनके चिर कुमार चिकुर आकर्षण के सहज बिदु है। 'बच्चन' के लिए तो उनके बाल ही सर्वप्रमुख थे—इतने कि उन्होंने स्वयं वैसे ही बाल रखा लिए थे। उन बालों का सुनहलापन किसी दिन ईर्ष्या की वस्तु थी। पर समय तो अपना कार्य करता ही है। उसे दया कहाँ ? हाय रे समय। तेरी उँगलियों ने उस कोमल चेहरे पर कैसे झुर्रियाँ लिख दी ?

---

१. 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना', पृष्ठ १९

बाल-लहरियों को कुछ और भी खेल लेने देता तो तेरा क्या बिगड जाता ? उन बालों में अब वह सुनहरापन नहीं है, वे भूरे और सफेद भी हो चले हैं पर आज भी घुँघराले हैं और कंघी के क्षणिक स्पर्श से इच्छित आकार प्रकार से उनके सिर पर शोभायमान हो जाते हैं। पंतजी को इन बालों से बडा मोह है। लोगों से बातचीत करते, चलते फिरते उनकी उँगलियाँ उन्हे ठीक करने मे व्यस्त रहती है। इन बालों की सुंदरता के लिए वे नाई के ऋणी नही है। अपने जीवन में नाई को उन्होंने बहुत कम पैसे दिए होंगे। खुद काटते छाँटते है। यही कारण है कि 'सरस्वती' के भू० पू० संपादक प० देवीदत्त शुक्ल कहा करते थे, "**पंत जी के बालों में भी कवित्व है।**" श्री राजेन्द्रसिंह गौड़ उनके व्यक्तित्व के विषय में इस प्रकार लिखते है—"**हिन्दी काव्य के उन्नायकों में पंत का व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावशाली है। उनके रेशम से कोमल कुंचित केश, उनका प्रशस्त ललाट, उनकी चमकती आँखें, उनका सुगठित शरीर जहाँ हमें उनके शारीरिक सौंदर्य का परिचय देता है वहाँ उनकी वेष-भूषा, उनकी रहन-सहन, उनकी चाल ढाल से हमें उनके आंतरिक सौंदर्य का, उनकी कला-प्रियता का भी आभास मिल जाता है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे कला प्रेमी हैं। प्रकृति सुंदरी···उनकी काव्य-प्रेरणा का रहस्य है। उनमें जो शालीनता, चिंतनशीलता, सौम्यता, दार्शनिकता, कल्पनाशीलता और उदारता है वह भी उनके प्रकृति प्रेम के कारण। × × × पंत के व्यक्तित्व की एक यह भी विशेषता है कि उनका अंत व्यक्तित्व जितना कोलाहलपूर्ण और गंभीर है उतना ही उनका बहिर्व्यक्तित्व उल्लासपूर्ण है। × × × उनका अतरंग और बहिरंग दोनों सुंदर है। उनमें भावना का सौकुमार्य साधारण व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक है, इसलिए वह जीवन के क्षेत्र में खड़े नहीं हो सकते। उनका अब तक अविवाहित रहना, जीविका की ओर से उदासीन रहना, कभी स्थायी रूप से कहीं न रहना आदि ऐसी बातें है जिनसे यह सिद्ध होता है कि वह अपने जीवन में किसी प्रकार का संघर्ष सहन नहीं कर पाते।**" आगे चल कर गौड़ जी पत की पलायनशीलता के विषय मे लिखते है—"**जीवन की बहुरंगी कठिनाइयों से वह उसी प्रकार भागते है जिस प्रकार एक साधक; और वस्तुत वह एक साधक है। जीवन का एकाकीपन उनकी साधना में सहायक हुआ है। अतएव, वह निरंतर एकांत एवं अंतर्मुखी होती गई है। इस प्रकार उनका समस्त जीवन ही एक पलायन है, एक स्केप है और यही पलायनवृत्ति उनकी सौंदर्य-साधना की जननी है। पलायन का मूल है अपने में वर्त्तमान विषमताओं के समाधान की शक्ति का अभाव देखना। इसका यह अर्थ हुआ कि मनुष्य जब अपने में वर्तमान विषमताओं का समाधान नहीं कर पाता और उनसे मानसिक पराजय स्वीकार कर लेता है तब वह पलायनशील हो जाता है। पंत हिन्दी के पलायनशील कवि है और वस्तुतः इसी पलायनशीलता ने उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया है।**" शिवचंद्र नागर

ने अपनी प्रथम भेंट के दृश्य में उनके व्यक्तित्व को इन शब्दों मे बाँधा है, **"उनका रंग बहुत अधिक गोरा नहीं था, पर उनके 'क्लीन शेव्ड' चेहरे की रेखाएँ बड़ी ही आकर्षक थीं। उनके नेत्र बड़े ही भाव-पूर्ण, एक हलकी आभा से ओत-प्रोत तथा स्वप्निल थे, उनकी नासिका जैसे प्रत्येक वस्तु के आंतरिक तत्वों को जानने में समर्थ हो इस प्रकार सुंदर और नुकीली थी। वे न तो अधिक स्थूलकाय ही और न सूक्ष्म-काय थे, पर स्वस्थ लगते थे। उनकी ऊँचाई लगभग पाँच फुट तीन इंच के आस-पास होगी ·····। आश्चर्य की बात यह थी कि उनके शरीर की कोमलता पर अभी उम्र ने अपना कोई गहरा चिह्न नहीं छोड़ा था और सचमुच उनके हाथ और उन हाथों की उँगलियाँ बड़ी ही कोमल-कोमल और शरीर के अनुपात में कुछ लघु-लघु सी लगती थीं। स्वर्णाभी की छाया लिए हलके काले बालों में कहीं-कहीं श्वेत बाल अपनी विजय पताका फहराकर अपने अस्तित्व की घोषणा करना चाहते थे, पर उनके बालों में व्याप्त एक प्रकार की चमक ने उन्हें अपने में डुबोकर परास्त कर दिया था। इस प्रकार सौम्यता, सुंदरता और कोमलता की सामंजस्यमयी रेखाओं से बनी थी वह मूर्ति। निस्संदेह इस मूर्ति का सौंदर्य 'लिओनार्दो विंची' या 'बायरन' का-सा स्त्रियों के मन को झकझोर देने वाला और उन्हें पागल बना देने वाल उत्तेजनात्मक सौंदर्य नहीं था, बलिक 'शैली' का-सा शान्त, सौम्य और दिव्य सौंदर्य था—कुछ-कुछ वैसा ही जैसे शरद-चाँदनी में तैरने वाले धवल मेघ खण्डों का सौंदर्य।"**

वेश-भूषा आपकी बडी मोहक है। प्रत्येक वस्त्र वे अपनी अभिरुचि के अनुसार ही सिलवाते है। शरीर पर कोट, पेण्ट, टाई के साथ मूल्यवान चश्मा लगाना कितना फबता है! रंगों का ज्ञान भी उन्हें आश्चर्यजनक है। फर्श, पर्दे, गिलाफ, चादर आदि प्रत्येक के रंग मे उनकी अपनी नफासत है। चश्मे भी विभिन्न रंग के हैं इनके पास। हाजिर जवाबी का गुण भी प्रकृति ने उन्हें दे दिया है। मंत्रों एवं ज्योतिष में उनकी अडिग आस्था है। मजाक करने में भी कमी नही है। किसी भी रोग का निदान करना एवं उसकी दवा देना उनका वैशेष्य है। बच्चन ने इसीलिए तो कहा था कि **"पंत जी को अपने घर में रखना एक अच्छे डॉक्टर को घर में रखना है।"** प्रकृति से सघन प्रेम होने के कारण उन्हें भीड में जाना कतई पसंद नही है। किशोरावस्था में तो वे घण्टों प्रकृति नटी के करतबों को निहारते रहते थे। हाँ, बाद मे उन्हे "अवसर" ही नहीं रहा। इतने पर भी यह सुकुमार कवि किसी-न-किसी के साथ का सदैव इच्छुक रहा है। नियति का मजाक देखिए कि साथी की ललक रखने वाला साथी विहीन, अविवाहित रहा। कवि को विश्वास हो गया कि जगत 'अति दुख' से ही नही 'अति सुख' से भी पीड़ित है अतः वह अतुल सुख का आकांक्षी नहीं है। वह तो अपने जोवन को सुख और दुख के मंजुल संमिश्रण से रंगीन बनाना चाहता है:—

"मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख।
सुख-दुख की आँख मिचौनी,
खोले जीवन अपना मुख।"

सुख-दुख की इसी आँख-मिचौनी को शरदः शतम् तक खेलता हुआ कवि काव्य-पिपासुओं को नव-नवीन सुधा पिलाता रहे---यही कमना है।

: २ :

पंत जी की रचनाएँ

वैसे तो कवि का हृदय स्वयमेव ही फूटा करता है, अंकुश मारकर किसी को सही मानों में कवि नहीं बनाया जा सकता, फिर भी कुछ घटनाएँ पत्थर को भी पिघला देती है, कुलिश क. भी रुला देती है, हिमालय को भी गला देती है। 'आधुनिक कवि'[1] मे पंत जी अपने कवि बनने का राज इस प्रकार बताते है, "**कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल को है। कवि-जीवन के पहले भी, मुझे याद है, मैं घण्टो एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौंदर्य जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मै आँखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्य मेरी आँखों के सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक फैली एक के ऊपर एक उठी यह हरित, नील, धूमिल, कूर्माचल की छायांकित पर्वत-श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत-मुकुट हिमाचल को धारण किए हुए है और अपनी ऊँचाई से अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हुए हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान नीरव सम्मोहन के आश्चर्य में डुबाकर कुछ काल के लिए, भुला सकती है।**" गरज कि जिस दिन से पंत ने रेंगना सीखा, कवि बन गए। शैशवावस्था मे भी वे मूक कवि थे। प्रकृति-सौंदर्य ने उनकी मूकता मुखरित करा ही ली, खामोशी छुड़ा ही दी।

वे जब प्रारंभिक कक्षाओं मे थे, तभी से कविताएँ लिखने लगे। उनकी कविताओं के विषय 'तम्बाकू का धुआँ' और 'कागज कुसुम' आदि एवं प्रकाशन-स्थल 'सुधाकर', 'अलमोड़ा अखबार' आदि होते। प्रारंभ से दो-दो पंक्तियाँ पेश है :—

"सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में।
रखता जहाँ बसे हैं भगवान विश्व-स्वामी ।।"

—('तम्बाकू का धुआँ')

"कागज कुसुम बना तू छबिहीन क्यों बना है।
तू रूप रंग में तो उपवन कुसुम सदृश है।।"

—('कागज कुसुम')

---

१. पर्यालोचन, पृष्ठ ७-८

पंत जी की काव्य रचनाओं का क्रम इस प्रकार है : (१) वीणा [१९१८]; (२) ग्रंथि [१९२०]; (३) पल्लव [१९२२-२६]; (४) गुंजन [१९२६-३२]; (५) युगांत [१९३४-३६]; (६) युगवाणी [१९३७-३९]; (७) ग्राम्या [१९३९-४०]; (८) स्वर्ण-किरण [१९४७]; (९) स्वर्णधूलि [१९४८]; (१०) मधुज्वाल [१९४८]; (११) युगपथ [१९४९]; (१२) उत्तरा [१९४९]; (१३) अतिमा [१९५५] एवं (१४) वाणी [१९५७]। इन काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त उनके 'पल्लविनी' एवं 'आधुनिक कवि नं० २ संकलन' तथा ज्योत्स्ना, पाँच कहानियाँ, उमर खैयाम की रुबाइयाँ, खादी के फूल (बच्चन के साथ), रजत शिखर, शिल्पी आदि अन्य ग्रंथ प्रकाश में आ चुके है ।

वीणा—पंत जी की उन्नीस वर्ष तक की काव्य राशि 'वीणा' मे सुरक्षित है। इसे इन्होंने 'दुधमुँहा प्रयास' एवं 'बाल कल्पना' कहा है । 'वीणा' के 'विज्ञापन' के दूसरे पैरा मे वे लिखते है : "**इस संग्रह में दो एक को छोड़कर अधिकांश सब रचनाएँ सन् १९१८—१९ की लिखी हुई हैं। उस कवि-जीवन के नव-प्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नूपुर ध्वनि तथा अनिर्वचनीय सौंदर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो मेरा 'मंदः कवियशः प्रार्थी' निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि, वीणा-वादिनी के चरणों के पास बैठ, स्वर साधना करते समय, अपनी आकुल-उत्सुक हृत्-तंत्री से बार-बार चेष्टा करते रहने पर अत्यंत असमर्थ अँगुलियों के उलटे-सीधे आघातों द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट-अस्पष्ट झंकारें जागृत कर सका है वे इस वीणा' के स्वरूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इसकी भाषा यत्र-तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझा; क्योंकि तब इसका सारा ठाट ही बदल देना पड़ता।**" इस प्रकार 'वीणा' की प्रथम झंकार से ही द्विवेदी युग सिहर उठा पहली उठान की रचनाएँ होने पर भी कवि ने तत्युगीन कवियों से अलग ही एक लकीर खीच दी। कवियों के जमघट में कवि को भय था कदाचित उसकी तूती सुनाई न पड़े, अतः अपनी प्रथम रचना में ही वह गा उठा :—

> **'यह तो तुतली बोली में है**
> **एक बालिका का उपहार;**
> **यह अति अस्फुट ध्वन्यात्म है**
> **बिना व्याकरण, बिना विचार।**
> **इस बोली में कौन सुनेगा**
> **इसकी वीणा को निस्सार ?**
> **ताल-लय रहित मेरी वीणा।"**

पर इस 'ताल लय रहित' काव्य-संग्रह मे भी बड़ी-बड़ी सुंदर तालें आई हैं :—

"कौन-कौन तुम परिहृत-वसना,
म्लान-मना, भू-पतिता सी !
धूलि-धूसरित, मुक्त-कुंतला,
किसके चरणों की दासी ?"

× × ×

"विजन-निशा में किन्तु गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के,
आनंदित होती हो सखि ! नित
उसकी पद-सेवा करके।"

यद्यपि इस दुधमुँही वय में कवि से किसी दार्शनिक सत्य की उद्भावना की आशा रखना व्यर्थ है फिर भी यत्र-तत्र रहस्यात्मक संकेत मिलते हैं :—

"उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मन में दुख पाता है।"

कहीं कहीं प्रतिविम्बवाद भी दिखाई पड़ता है :—

"माँ ! वह दिन कब आएगा जब
मैं तेरी छबि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है,
जग के निर्मल दर्पण में।"

रहस्यात्मक संकेत, प्रतिबिम्बवाद, प्रकृति अंकन के साथ-साथ विश्व-प्रेम, प्रार्थना आत्म-निवेदन सम्बंधी रचनाएँ भी हैं। प्रार्थना परक कविताएँ 'माँ' को संबोधन करके लिखी गई हैं। यह 'माँ' विराट सत्ता है जो जगत के कण-कण मे व्याप्त है। **'मम जीवन की प्रमुदित-प्रात'** वाला गीत 'गीतांजलि' के **'अंतर मम विकसित कर'** वाले गीत से मिलता-जुलता है। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य रचनाओं पर भी रवीन्द्र की भीनी छाप है। कवि में विश्व-प्रेम का इतना प्रावल्य है कि वह निज का उत्सर्ग करने मे तनिक भी नहीं हिचकिचाता :—

"कुमुद-कला बन कल हासिन,
अमृत-प्रकाशिनि नभ-वासिनि,
तेरी आभा को पाकर माँ !
जग का तिमिर-त्रास हर दूँ।"

× × ×

"तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,

यह जग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?"

× × ×

"दग्ध-हृदय की विरह-व्यथा को
हरने दो, माँ ! हरने दो !"

इसके अतिरिक्त भी 'वीणा' की लगभग आधी रचनाएं **'माँ'** को संबोधित करके लिखी गई हैं जो वस्तुतः बड़ी भोली बन पड़ी हैं। पंत की 'वीणा की 'माँ' कोई साधारण नहीं अपितु विश्व जननी है जिसका प्रतिबिंब, जैसा कि पीछे कहा, 'जग के निर्मल दर्पण में' पड़ा है। इन कविताओं में **'माँ'** के प्रति एक बालिका का जितना अनुराग हो सकता है, उँडेला हुआ है। कवि का यह भी विश्वास है कि शक्तिशील सौंदर्य-समन्वित माँ का गुणगान क्या जीवन में कभी पूरा हो सकता है :—

"पर अब करती हूँ, अनुमान
मुझ में कितना था अज्ञान !
जीवन भर भी माँ ! मैं पूरे
गा न सकूंगी तेरे गीत
अपनी वाणी में स्वर भर !"

बाल-सुलभ जिज्ञासा कई स्थलों पर द्रष्टव्य है :—

"इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !
जहाँ मलिनता विचर रही है
जहाँ शून्यता का है स्रोत।"

× × ×

"छवि की चपल अँगुलियों से छू
मेरे हृत्-तंत्री के तार,
कौन आज यह मादक, अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार !"

कर्मयोगिनी सरिता को बिना साँस लिए आगे ही जाते देखकर कवि शांत नहीं रह सकता :—

"माँ ! उसको किसने बतलाया
उस अनन्त का पथ अज्ञात ?
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल ?"

५८ वां गीत कल्पना, अनुभूति, संगीतात्मकता, सौंदर्य, धारावाहिकता आदि के सुखद संमिश्रण से प्रस्तुत संकलन की श्रेष्टतम रचना है। पखेरू को बाल रवि

के प्रथम कर का बोध कैसे हो जाता है, यही सोचकर कवि पूछ बैठता है :—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना ?"

× × ×

"कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अंतर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?"

निम्न पंक्तियाँ बड़ी ही कोमल है जो पाठक को 'पल्लव' तक ले चलने के लिए तैयार करती है :—

"शशि किरणों से उतर-उतर कर
भू पर कामरूप नभचर,
चूम नवल-कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना।"

कतिपय शब्द वस्तुत: काव्य के अनुरूप नही है, कवि स्वयं नही चाहता था उन्हें। मम, स्वीकारो, पत्रं-पुष्पं, निर्माऊँ, वय-वाली आदि ऐसे शब्द है। इस प्रकार 'उल्टे सीधे आघातों से' कवि की वीणा से जो 'अस्फुट-अस्पष्ट झंकारें' निस्सरित हुई वे पं० श्रीधर पाठक की याद दिलाती है जो 'वीणा' की रचनाओं को सुनकर पंत जी से कहा करते थे—**"तुम भविष्य के कवि हो"**

ग्रंथि—यह जनवरी २० में, अतुकांत छद मे लिखी, एक प्रणय-गाथा है। 'वीणा' का आशावादी कवि प्रस्तुत कविता में निराशावादी हो गया है। इसकी कथा बडी सीधी-सादी है जो नायक के सम्मुख टेढ़ी लकीर खीची गई है। नायक की नौका अचानक ही डूब जाती है। जब वह होश मे आता है तो अपने सर को एक बालिका की गोद में रखा हुआ पाता है—ऐसी बालिका की गोद मे जिसका सौदर्य 'अपूर्व' है। नयनों से बातें होती है इन दोनों की अनतर, जैसा कि विरह काव्य में होता ही है, बालिका के अंचल का छोर नायक के सामने ही किसी और से बँध जाता है तथा नायक सिसकता रह जाता है और···और बस। अफसाना नितांत काल्पनिक है अथवा अनुभूतिमय—कहना कठिन है। नगेन्द्र जी तो इसे कवि की कहानी बताते हैं—**"जब तारुण्य का बाल रवि उसके प्राणों को पुलकित कर रहा था, उसी समय मधुबेला भाग्य ने उसके हृदय में एक ग्रंथि डाल दी जिसे वह कदाचित अभी तक नहीं खोल सका है। बहुतों से सुना है कि 'ग्रंथि' पतजी के अपने अनुभव पर आधृत है जिसमें उन्होंने अपनी प्रणय कहानी लिखी है।"** यहाँ बच्चनजी का पलड़ा कि **'पंत जी कल्पना के गायक हैं, अनुभूति के नहीं''** हलका पड़ जाता है।

कवि ने प्रथम बार प्रेम के विषय में अपने भावों की अभिव्यक्ति की है। प्रीति

की रीति कवि ने यूँ बताई है :—

"यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा ?"

और हृदय बिधवाने के बाद?—

"प्रेम ही का नाम जप, जिसने नहीं
रात्रि के पल हों गिने, प्रति शब्द से
चौंक कर, उत्सुक नयन जिसने उधर
हो न देखा-प्यार उसने क्या किया ?"

कुछ अन्य पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं:—

"मंद चलकर, रुक अचानक अधखुले
चपल-पलकों से हृदय प्राणेश का
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी
तरुणता का गर्व उसने क्या किया ?"

इस कृति में अलंकारों को भी उचित स्थान दिया गया है। निम्न पंक्तियों में उपमाओं की झड़ी लग गई है :—

"जब, अचानक अनिल की छवि में पला
एक जलकण, जलद-शिशु-सा, गान-सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।"

यह पढ़कर 'उद्धव शतक' में आई हुई ऐसी ही पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं। उपमा, श्लेष, सहोक्ति, यथासंख्य, अनुप्रास आदि एक साथ ही इन पंक्तियों में गूँथ दिए गए हैं :—

"निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा,
एक पल निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।"

अपने ही नहीं ध्वनि-चित्रण (Onomatopoeia), मानवीकरण (Personification), विशेष विपर्यय (Transferred Epithet) आदि पाश्चात्य अलंकार भी 'ग्रंथि' में बाँध दिए गए हैं। दो पंक्तियाँ पर्याप्त हैं :—

"दीनता के ही विकंपित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से।"

इस तरह वेदना से सराबोर प्रणय की यह ग्रंथि अत्यंत ही मनोहर एवं 'परिपूर्ण प्राण-हीन सृष्टि' हो गई है।

पल्लव—कवि की पच्चीस वर्ष तक की काव्याराधना का क्लाइमैक्स पल्लव है—" **'पल्लव' में मैंने १६१८ से १६२५ तक की, प्रत्येक वर्ष की दो-दो, तीन-तीन कृतियाँ रख दी हैं जिनमें से अधिकांश 'सरस्वती' तथा 'श्री शारदा' में समय-समय पर प्रकाशित हो चुकी हैं।**"

> **"न पत्रों का मर्मर संगीत,**
> **न पुष्पों का रस, राग, पराग,**
> **एक अस्फुट अस्पष्ट संगीत,**
> **सुप्ति की ये स्वप्निल मुसकान;**
> **सरल शिशुओं के शुचि अनुराग**
> **वन्य विहंगों के गान।**
> **हृदय के प्रणय कुंज में लीन,**
> **मूक कोकिल का मादक गान।**
> **बहा जब तन-मन बंधन हीन,**
> **मधुरता से अपनी अनजान।**
> **खिल उठी रोओं सी तत्काल,**
> **पल्लवों की यह पुलकित डाल।"**

वास्तव मे 'पल्लव' पत जी की वचन-रचना का प्रथम प्रतिमान है; उनके स्वप्न-शिल्प, राग बोध एव रसानुभूति के सस्मित सकेतों से भरा हुआ तारकित आकाश।[1] इनकी कविताएँ तो द्विवेदी युग के लिए कफन बन ही गई, 'भूमिका' ने भी हिन्दी जगत मे कुहराम पैदा कर दिया। इस भूमिका का हिंदी में वही मूल्य है जो सन् १८०० में आँग्ल कवि वर्ड्सवर्थ की 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका (Preface to the Lyrical Ballads) का। इसके छयालीस पृष्ठों के 'प्रवेश' (चतुर्थावृत्ति) में कवि ने यह दर्शाने का सफल प्रयास किया है कि उसने अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम खड़ी बोली ही क्यों बनाया, परंपरा से चली आती हुई ब्रजभाषा को क्यों नहीं। वे लिखते है, "**हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया है, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कण्ठ फूट गया, अस्फुट अँग कट-छँट गए, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गई; वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया; पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई; हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगीं, ज्ञान की परिधि बढ़ गई।**" आगे चलकर महारानी ब्रजभाषा को अँगूठा दिखाते हुए वे कहते हैं, "**मुझे तो इन तीन-चार सौ वर्षों की वृद्धा (अर्थात् ब्रजभाषा) के शब्द बिल्कुल रक्त-माँसहीन लगते हैं; जैसे भारत की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गई हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गए**

---

१. त्रयी, पृष्ठ ५६

हों, जैसे साहित्याकाश का 'तरणि' ग्रहरण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो; भाषा के प्राण चिरकाल से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गए हों···और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा पुता न हो, श्रीहीन बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी——'कहत' 'लहत' 'हरहु' 'भरहु'——ऐसी लगती हैं जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो। पर यह सब खड़ीबोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का आभास पड़ जाने से।" महारानी को अँगूठा दिखाने के पश्चात् पंत जी खड़ी बोली का घूँघट उघाड़ कर दर्शकों से कहते हैं——"खड़ी बोली आगे की स्वर्गाशा है, वह समस्त भारत का हृत्कंपन है। हमें भाषा नहीं राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है; पुस्तकों की नहीं मनुष्यों की भाषा जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते, कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं। जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके, जो कालानिल के ऊँच-नीच, ऋजु-कुंजित, कोमल-कठोर घात-प्रतिघातों की ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत-शत स्पष्ट, स्वरूपों में तरंगित कल्लोलित हो, आलोड़ित-विलोड़ित हो, हँसती गरजती, संकुचित-प्रसारित होती, हमारे हर्ष-रुदन, विजय-पराभव, चीत्कार-किलकार, संधि-संग्राम को प्रतिध्वनित कर सके। यह अत्यंत हास्यजनक तथा लज्जा स्पद हेत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में; हमारे मन की वाणी मुँह की वाणी न हो × × × हम इस ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली नहीं चाहते; इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुराने फैशन की मिस्सी पसंद नहीं जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रंग जाती, फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिल्कुल 'आउट-ऑव डेट' होगई।"···ब्रजभाषा की यह छीछा-लेदर हमारे वर्तमान रसखान, ब्रजभाषा के अनन्योपासक कविवर 'रत्नाकर' को अत्यंत अखरी। सन् १९२२ में उन्होंने कहा, "जहाँ एक ओर (यानी खड़ीबोली की) सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है वहाँ दूसरी ओर हमारी ब्रजभाषा का काव्य-क्षेत्र क्रमशः संकुचित होता जा रहा है। जो भाषा एक समय हिन्दी काव्य का प्रधान क्रीड़ा क्षेत्र और सर्व-मान्य थी उसी की ओर से आज हमारे नवयुवक कविगण उदासीन हो रहे हैं। जो अनेक उच्चकोटि के ग्रंथ-रत्नों की जननी थी उसी के गौरव को नष्ट करने का आज जहाँ-तहाँ प्रयत्न देख पड़ता है। इसके कई कारण हैं × × × समस्त संसार में सर्वतोमुखी क्रांति की उद्भावना हो रही है। इस क्रांति का उद्देश्य प्राचीनता के विरुद्ध चाहे वह साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक हो, एक घोर आंदोलन खड़ा करना है। × × × मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी

भाषा की इस दौड़ादौड़ में कहीं ऐसा न हो कि शताब्दियों के साहित्यिक परिशीलन से हमने ब्रजभाषा या अवधी में जो मधुरता, प्रसाद, ओजस्विता आदि गुणों का संग्रह किया है, तथा सूक्ष्म से भावों को अत्यंत संक्षिप्त रूप में प्रकट करने की शक्ति का जो संपादन किया है, उसे हम क्रांति के आवेश में आकर सर्वथा नष्ट न कर दें और अपनी पद्य की भाषा को पुनः आरभ से योग्यता प्राप्त करने की और उन्मुख करें। × × × जब खड़ी बोली के पक्षपाती कवियों को अपने प्राचीन साहित्य अर्थात् ब्रजभाषा की उपेक्षा करते, उसे हीन दीन तथा सर्वथा घृणित बताते हुए देखता हूँ तो मुझे आंतरिक व्यथा होती है। जिस साहित्य ने आपको जीवनदान दिया है, आपको शक्ति सम्पन्न किया है, विषय परिस्थितियों में आपकी सहायता की है और संकट समय आपका उद्धार किया है, उसके प्रति आपको कृतज्ञ होना चाहिए और उसके भण्डार को सदा सर्वदा के लिए रक्षित रखने का दृढ़ उद्योग करना चाहिए। × × × अन्य देशों में भी प्रचीन साहित्य का अर्वाचीन साहित्य से कहीं अधिक आदर होता है। चाँसर और फिरदौसी अवज्ञा के नहीं अपितु पूजा के पात्र समझे जाते हैं।"[1] बात 'रत्नाकर' जी की भी बड़े पते की है पर पंत तो गद्य और पद्य का कोष अभिन्न करना चाहते थे, आत्मा और वाद्ययंत्र की सरग में एक ही बनाना चाहते थे, ब्रजभाषा को समाप्त कर खडी बोली को राष्ट्र-भाषा के सिहासन पर बिठाना चाहते थे।

और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'पल्लव' में कवि ने अपनी भाषा को हर दिशा से सजाया सँवारा। ब्रजभाषा के साफ सुथरे राजमार्ग को छोडकर खड़ी बोली की कटकाकीर्ण पगडण्डी पर चलने का साहस करना एक नये युग का उद्घोष था। इस पगडण्डी को इन्होंने इतना साफ बना लिया कि इस पर भविष्य मे हिन्दी का काफिला बिना जूता पहने ही दौड़ लगा सकता है। राहुल जी के शब्दो मे **"एक सच्चे पारखी की तरह पंत न त्रिकाल से मौजूदा शब्दों को सेर-छटाँक मे नहीं रत्ती और परमाणुओं के भार में तौल कर उनके मोल को बड़ी बारीकी से आँका, और उसे किसी यूनानी प्रस्तर-शिल्पी की भाँति अपनी छेनी और हथौड़े के बहुत कोमल और दृढ़ हाथों से काटा-छाँटा, उसे सुंदर भावों के प्रगट करने का माध्यम बनाया। शब्द के सुंदर, निर्माण और विन्यास में पंत अद्वितीय हैं।"[2]** पंत के इसी शब्द-निर्माण को ध्यान में रखकर मैंने लिखा था, हृदय के कुसुम-करों से, गुमसुम 'खड़ी' हुई 'बोली' को इन्होंने इस कौशल से सजाया-सँवारा कि भारत जैसे महान् राष्ट्र की 'भाषा' की चूनरी ओढ़, गर्व से ऊँचा मस्तक कर विश्व-भाषाओं के

---

१. **'पल्लव' का 'प्रवेश', पृष्ठ १३**

२. **बीसवें अ० भा० हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति भाषण से, पृष्ठ ३१–३४.**

प्रतियोगिताकक्ष में प्रवेश पा सकी।"[1]

'पल्लव' की वैसे तो प्रत्येक रचना ही श्रेष्ठता का उदाहरण है पर 'परिवर्तन' का तो कहना ही क्या ? यह सन् २४ की रचना है जब कवि अल्हड़ यौवन की देहरी लाँघ गया था। स्वयं पंत के शब्दों में, "**इस कविता-जगत में नित्य जगत को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसा परिवर्तन ला सका था, 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का केवल प्रतीक मात्र है।**" इसकी दार्शनिकता मे पं० शांतिप्रिय द्विवेदी कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव देखते है जिसमे '**परिवर्तनमय विश्व की करुण अभिव्यक्ति इतनी वेदनाशील हो उठी है कि वह सहज ही सभी हृदयों को अपनी सहानुभूति के कृपा सूत्र में बाँध लेना चाहती है**"—

**"अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !"**

× × ×

**"करते हो संसृति को उत्पीड़ित मद मर्दित
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला कौशल चिर संचित
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल-हिल उठता है टलमल,
पद दलित धरातल।"**

इतना ही नहीं—

**"खुले भी न थे लाज के बोल
खिले भी चुँबन शून्य कपोल,
हाय ! रुक गया यहीं संसार,
बना सिंदूर अँगार !"**

इस महान कविता में भिन्न-भिन्न वर्ण के चित्र हे। कहीं शृंगार का अरुण राग है तो कही वीभत्स का नीला रंग है। एक ओर यदि 'स्वर्णभृङ्गों के गंधविहार है तो दूसरी ओर 'वासुकि सहस्र फन की शत-शत फेनोच्छवसित स्फीत फूत्कार' है। कवि की भाषा की इतनी प्रबल शक्ति अन्यत्र कम दिखाई देती है। जिस प्रकार मानव जीवन के सिनेमा-गृह मे मनोहर और भयंकर चित्र प्रतिक्षण बदलते रहते हैं ठीक इसी प्रकार परिर्तवन के चित्र पल मे रम्य और पल में भयानक होते रहते है। कवि श्री निराला ने उचित ही लिखा कि "**यह किसी भी बड़े कवि की कविता से**

---

१. 'हिन्दी के युग प्रवर्त्तक कवि पंत' लेख में।

२. प्रसाद और पंत का तुलनात्मक विवेचन, पृष्ठ ३६५.

निस्संकोच मैत्री कर सकती है।"

इसके अतिरिक्त भी 'मौन-निमंत्रण', 'आँसू', 'उच्छ्वास', 'नक्षत्र', 'छाया', 'बादल' आदि अत्यंत सुघर कलाकृतियाँ हैं। 'मौन-निमंत्रण' का तो कहना ही क्या? जिस समय कवि ने यह गीत सुनाया था, हिन्दी-महारथियों के इन्द्रासन डगमगा उठे थे। बख्शी जी तो 'अवाक्' होकर पंत जी की ओर निहारते रह गए थे। भाषा-प्रांजलता, रहस्यात्मकता एवं गेयता का ऐसा सुखद समन्वय दुर्लभ ही है—

"देख वसुधा का यौवन-भार
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन!"

'आँसू' की बालिका भी असाधारण थी:—

"तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि!
त्रिवेणी की लहरों का गान।"

आँसू के विषय में कवि सोच ही नहीं पाता कि यह 'विरह' है अथवा 'वरदान', उसके लिए तो 'वरदान' ही है क्योंकि काव्य इसी से फूटता है:—

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड़कर नैनों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।"

'बादल राग' हिन्दी के लिए प्रथम पुरुष की नई ही शैली है, इस रचना में एक स्थान पर उपमाएँ सर्वथा मौलिक एवं मोहक हैं:—

"धीरे-धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह से
फैल लालसा से निशि-भोर।"

पर इसका यह अर्थ नहीं कि 'पल्लव' सर्वथा कलक-विहीन है। आलोचकों ने बताया है कि इसकी कतिपय रचनाएँ ज्यों की त्यों अनुवाद हैं। निराला जी ने 'पंत और पल्लव' नामक लम्बे निबन्ध में बड़ी तीखी आलोचना की है—एक-एक भाव की, एक-एक पंक्ति की, एक-एक शब्द की। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पंत

"चौर्य कला में निपुण हैं। × × × एक पंक्ति किसी एक कविता से ली, दूसरी किसी दूसरी कविता से, तीसरी में कुछ अपना हिस्सा मिलाया, चौथी में तुक मिलाने के लिए वैसा ही गढ़ कर कुछ बैठा दिया गया।"[1] 'पल्लव' के शब्द सौंदर्य की जहाँ प्रत्येक ने प्रशंसा की है वहाँ निराला जी लिखते हैं, **"सुंदर-सुंदर भावों को इन्होंने बड़ी बुरी तरह नष्ट कर डाला है। यह केवल इस लिए कि यह भाव के सौंदर्य पर उतना ध्यान नहीं देते जितना शब्दों के सौंदर्य पर। × × × (इसलिए) इनकी कविता में चिह्न (Female Graces) अधिक पाए जाते हैं।"**[2] 'उच्छ्वास' जैसी बहुत प्रशंसित रचना में भी कई असंगतियाँ हैं।

सर्वांशेन 'पल्लव' काव्य-प्रासाद की अत्युच्च अट्टालिका है जिसकी पच्चीकारी की प्रशंसा प्रगतिवादी, भाववादी, विज्ञानवादी, मनोविज्ञानवादी—प्रत्येक दर्शक ने मुक्तकण्ठ से की है। शुकदेव बिहारी मिश्र ने तो यहाँ तक कहा— **"मैं केवल हिन्दी के नवरत्नों को ही महाकाव्य मानता हूँ, किंतु 'पल्लव' को पढ़कर मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि यह बालक भी महाकवि है।"**

गुंजन—इन ४६ रचनाओं में पंत जी की आत्मा का 'उन्मन गुंजन' है। जैसा-कि पूर्व ही लिखा जा चुका है 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता से कवि का जीवन-पखेरू सर्वथा नयी दिशा की ओर मुड गया। जैसे-जैसे उसका शैशव पीछे खिसकता गया, भावुकता दूर होती गई। प्रस्तुत काव्य-संग्रह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन रचनाओं मे चिन्तन की गंभीर अनुभूति है, अतः प्रेषणीयता (कम्युनिकेबिलिटी) अधिक नही हो पाती। जन-साधारण को, इसीलिए, यह दुरूह लगती है। एक कारण यह भी है कि 'पल्लव' एवं 'गुंजन' के मध्यकाल मे कवि बहुत बीमार रहा, अतः उसका जीवन के प्रति एक नया ही दृष्टिकोण बन गया। गत रचनाओं तक वह केवल 'सुंदरम्' का ही भक्त था, अब उसे 'सत्यम्' का भी सामना करना पड़ा अत; वह अपने हृदय की बात सुनना छोड़कर संसार के अश्रु निरखने सरक आया— **"मैं 'पल्लव' से 'गुंजन' में अपने को 'सुन्दरम्' से 'शिवं' की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ।"**[3] **'पल्लव' मानसी सृष्टि है इसलिए उसमें स्वप्नादेश का भावावेश है किन्तु 'गुंजन' में आत्म-चिंतन आत्म-मनन की गंभीर ध्वनि है, मन-मधुकर के पंख डुबाने वाले आत्ममधु की चेतन सुगन्ध।"**[4] आकाश के ओर-छोर को नापने वाला कवि धरती की ओर मुड़ने के लिए परिस्थितियों ने मजबूर कर दिया। उसे एक नई ही अनुभूति हुई :—

---

१. प्रबंध-पद्य, पृष्ठ ७२
२. प्रबन्ध-पद्य, पृष्ठ ७२
३. आ० कवि 'पर्यालोचन'—पृष्ठ ११
४. 'अयी', पृष्ठ ५८

"जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित है अति सुख से।"

फिर ? क्या इसका कोई समाधान नहीं ? है क्यों नहीं :

"मानव-जग में बँट जावे,
दुख सुख से औ' सुख-दुख से।"

कवि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति अब सुख-दुख में समत्व स्थापित कर अंतर्मुखी बनने मे प्रयत्नशील है। कवि ने और भी निष्कर्ष निकाले जिन्हे मीठे शब्दों मे इस प्रकार बाध दिया—

"कँप कँप हिलोर रह जाती
रे मिलता नहीं किनारा।
बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।"

'नौका विहार' इस संकलन की 'ए-वन' रचनाओं में मे है जो शब्द-चित्रों के लिए बेजोड है :—

"सैकत शैया पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है, श्रांत, क्लांत निश्चल।
मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर,
तिर रही खोल पालों के पर।"

हंसिनी का चित्र कितना गहरे रंगों से बनाया गया है। इस कविता की अंतिम पक्तियों मे—**'इस धारा सा ही जग का क्रम'** से अतिम पंक्ति तक—कवि उसी प्रकार दार्शनिक हो गया है जिस प्रकार 'एकतारा' मे। उधर 'चाँदनी' भी इतनी सुदर है कि असुदर हो गई है। सबूत प्रारभिक पक्तियों मे दी है :—

"नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशि मुखधर
नीरव, अनिमिषि, एकाकिन !
वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
जो लहराती जग-जीवन !"

इसमे अप्रस्तुत मानवी रूप-चित्रण इतना अधिक चटकीला है कि प्रस्तुत चाँदनी का रूप गौण पड़ गया है। इसके अतिरिक्त समूचे संकलन मे 'रे' शब्द का पुष्कल प्रयोग है। पाठकों को बुरा न लगे, अतः कवि इसके 'विज्ञापन' मे सफाई देते हुए कहता है— **'सा' से जो मेरी वाणी का सम्वादी स्वर एकदम 'रे' हो गया, यह**

उन्नति का क्रम संगीत-प्रेमी पाठकों को खटकेगा नहीं—ऐसा मुझे विश्वास है।" संक्षेप में प्रस्तुत संकलन पाठक को कवि के दिशांतर प्रयास से आगाह कर देता है—कह देता है कि कवि के छायावादी युग का अंत अब अधिक दूर नहीं।

युगांत——यह ३३ कविताओं का संग्रह है जो पहले सन् '३६ मे स्वतंत्र पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ, अनंतर सन् '४९ में 'युगातर' को अपने आंचल में बाँधकर 'युगपथ' नाम मे प्रकाश में आया। **" 'युगांत' में मैं निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अभी समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है।"** कवि के यह शब्द तत्कालीन सत्य को पूर्णतया शब्दबद्ध करते हैं—'पिछला युग' अर्थात् छाया युग, 'नवीन युग' अर्थात् प्रगति युग। सन् १९३६ हिन्दी साहित्य का बडा मूल्यवान वर्ष है। यह वह स्थल है जहाँ छायावाद अपना दम तोड देता है और एक नितांत नवीन वाद-शिशु हिन्दी प्रांगण में थिरकने लगता है। 'पल्लव' तक पंत का कवि कल्पना एवं भावना का चितेरा था, 'गुंजन' की साधना व्यक्तिगत तो थी पर व्यक्तिवादी दायरे से बाहर हो जाने के लिए तड़प रही थी, 'युगांत' मे कवि ने अपने तक ही सीमित केन्द्र को त्यागकर 'असुन्दर' जगत के खण्डहरो की ओर डग भरने का उपक्रम रचा। अब वह सौंदर्य एवं आनंद का इतना लोभी नहीं, अब वह इनका जगत में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कोकिल से अब कवि रंगीन तराने मुनाने को नहीं कहता अपितु:—

> **"गा कोकिल! बरसा पावक-कण,**
> **नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,**
> **ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बंधन!**
> **पावक पग धर आवे नूतन,**
> **हो पल्लवित नवल मानवपन।"**

कवि चाहता है कि जगती पुरातनता का वस्त्र उतार फेंके, अतः प्रथम गीत मे ही वह कहता है :—

> **"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,**
> **हे स्रस्त-ध्वस्त हे शुष्क-शीर्ण!**
> **हिम-ताप पीत मधुवात-भीत,**
> **तुम वीतराग, जड़ पुराचीन।"**

सौंदर्य के अमर गायक ने जब वसंत में पर्वत-घाटी देखी तो अचरज कर उठा :—

> **"लो चित्र-शलभ सी, पंख खोल,**
> **उड़ने को है कुसमित घाटी।**
> **यह है अलमोड़े का वसंत,**
> **खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी।"**

चिड़ियों की 'टी-वी-टुट्-टुट्' भी बड़ी कर्णप्रिय है। जड़वाद-जर्जरित एवं यंत्राभिभूत जग निहारकर पंत का अंतर सिहर उठता है, मानव की कराह सुन-सुनकर कवि के व्यक्तिगत सौंदर्य एवं आनंद पर दुख की झीनी चादर पड़ जाती है, ऐसे में उसे महात्मा गांधी की याद आती है, जो जड़वाद के विशाल पादप को आमूल उखाड़ फेकने के लिए कटिबद्ध थे। कवि उनकी प्रशस्ति से गा उठा :—

"जड़वाद जर्जरित युग में
अवतरित हुए आत्मा महान,
यंत्राभिभूत जग में करने,
मानव-जीवन का परित्राण।"

इतना ही क्यों उसने गांधी को संबोधित करके पुनः कहा :—

"आए तुम मुक्त पुरुष कहने—
मिथ्या जड़-बंधन सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं मा भैः
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम।"[1]

आचार्य शुक्ल के शब्दों में, " **'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बँधा हुआ 'गुंजन' में कभी-कभी उसके बाहर और 'युगांत' में लोक के बीच दृष्टि फैलाकर आसन जमाता हुआ दिखाई देता है। 'गुंजन' तक वह जगत से अपने लिए सौंदर्य और आनन्द का चयन करता हुआ प्रतीत होता है, 'युगांत' में आकर वह सौंदर्य और आनंद का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौंदर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है।**"

भाव ही क्यों, 'युगांत' की भाषा भी 'पल्लव' जैसी कोमल, करुण, सरस, प्रांजल नहीं रही। उसमें मांसलता (अधिक नहीं जैसी कि आगे की रचनाओं मे) प्रौणता एवं महाप्राणता आ गई। निराला जी द्वारा लगाया गया आरोप कि इनकी रचनाओं में **'स्त्रीत्व के तत्व अधिक पाए जाते हैं'** बहुत कुछ पुछ गया।

युगवाणी—'युगांत', में पंत जी ने छायावादी युग का अंत कर दिया एवं प्रस्तुत संकलन में उसने अपने युग की समस्याओं को वाणी देने का सफल प्रयास किया। इसमें कवि मार्क्स एवं मार्क्सवाद से प्रभावित तो है पर गाँधीवाद को विसार कर नहीं। कवि न तो अकेले मार्क्सवाद का पिछलग्गू है और न आध्यात्मवाद का। 'उत्तरा' की प्रस्तावना (पृ० ७) में वह इसीलिए तो सीख देता है—"**जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारकों ने आत्मवाद से प्रकाशअंध होकर मानव-चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया, मिथ्या कहकर भुला देना चाहा··· उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान दर्शनवादी···और विशेषकर मार्क्सवादी भौतिकता**

---

१. **इसके साथ ही 'ग्राम्या' की 'महात्मा जी के प्रति' कविता पठनीय है।**

के अंधकार में और कुछ भी न सूझने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (सामूहिक अंतर्चेतना) आदि को पदार्थ का बिम्बरूप, गौण स्तर या ऊपरी प्रतिविधान कहकर उड़ा देना चाहते हैं जो मान्यताओं की दृष्टि से ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोण में सामजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रांति है। किंतु मात्र अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स) के सिद्धान्तों द्वारा जड़ चेतन (मैटर-स्पिरिट) की गुत्थी को सुलझाना इतना दुरूह है कि युग-मन के अनुभव के अतिरिक्त इसका समाधान सामान्य बुद्धिजीवी के लिए संभव नहीं। अतएव साहित्य के क्षेत्र में मान्यताओं की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या आध्यात्मवाद की दुहाई देकर आज जिन हास्यप्रद तर्कों में उलझ रहे हैं उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणों का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार करें।" दोनों की--पूर्व की, पश्चिम की, गाँधी की, मार्क्स की। कवि के मन का यह ऊहापोह तब प्रकाश में आता है जब वह गाँधी और मार्क्स दोनों को सलाम झुकाता है। कवि ने 'बापू' शीर्षक कविता में गाया:--

"नव संस्कृति के दूत! देवताओं का करने कार्य,
आत्मा के उद्धार के लिए आए तुम अनिवार्य।"

'मार्क्स के प्रति' यह कहा:--

"धन्य मार्क्स! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर!"

'समाजवाद गाँधीवाद' की पंक्तियाँ यूँ हैं:--

"मनुष्य का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद।"

अर्थात् रामाय स्वाहा, रावणाय स्वाहा। कवि की धारणा है कि साम्यवाद से भूतल स्वर्ग बन जाता है, अतः वह उसका दोनों बाँहें फैलाकर अभिनन्दन करता है:--

"साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।"

मार्क्सवाद के इसी प्रभाव के कारण अब पंत उनको फटकार देते हैं जो पैरों तले धरती की ओर ध्यान न देकर गगन की ओर ताकते हैं:--

"ताक रहे हो गगन?"

× × ×

"देखो भू को।"

कारण यह है कि सौंदर्य आकाश में नहीं पुण्यप्रसू धरती पर है:--

"इस धरती के रोम-रोम में
भरी सहज सुंदरता,

कूड़ा करकट सब कुछ भूपर
लगता सार्थक, सुंदर।"

अब उसे सत्य, शिव, सुन्दर आकर्षित नहीं करता; अब तो 'असुंदर' वस्तुएँ ही सुदर लगती हे। पल्लव का कवि, जिसने लिखा था, "**जिस प्रकार बड़ी चुवाने के पहले उड़द की पीठी को पथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढांचे में ढालने से भाषा को भी हृदय के ताव में गला कर कोमल, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।**" अब अपने इस कथन को बुहार कर कहता है:—

"खुल गए छंद के बंध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास।
बन गए कलात्मक भाव,
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख
लगता ललाम!
सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित भाव-मान
बन गए स्थूल...।"

इसी 'नव दृष्टि' को लेकर युग की वाणी अयास बही है, परिश्रमविहीन। काव्य का विषय एवं भाषा छाँटने के लिए अब उसे छायावादी बाजार में नहीं जाना पड़ता, उसके आस-पास ही हजारों वस्तुएँ है। देखिए पास ही क्या-क्या चीजें हैं:—

"सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तसवीरें नीली-पीली।"

इस प्रकार ८२ रचनाओं का संकलन 'युगवाणी' जैसा कि कवि ने 'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' (पृ० ३४) में लिखा है, "**ग्राम्या के लिए पृष्ठ भूमि का काम करती है।**"

ग्राम्या—'ग्राम्या' केवल तीन मास में लिखी गई—दिसंबर सन् '३९ से फरवरी सन् '४० तक पिछले संकलन ने पृष्ठभूमि का काम दिया, 'ग्राम्या' में एक नया अध्याय खुला, पर खेद कि वह अध्याय इन ५३ कविताओं तक ही सीमित रहा। आगे के अध्याय और ही तरह के हो गए। इसके 'निवेदन' में ही पाठकों के लिए एक चेतावनी है—"**इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम्य जीवन में मिलकर, उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गई है।**

ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।" 'ग्राम्या' और 'पल्लव' के कवि के भिन्नत्व के समक्ष अपरिचित पाठक बहुत बड़ा प्रश्नवाचक चिह्न लगा देगा। इस विषय में ये पंक्तियाँ अमित प्रभावशाली है—**"सौंदर्य चेतना के स्तर पर संचरित होने वाली कवि की प्रतिभा 'पल्लव' सिरजती है और सामाजिक चेतना के धरातल पर वही 'ग्राम्या' की सृष्टि करती है—यह आश्चर्यजनक दो छोरों का अदृष्टपूर्व इन्द्रधनुषी मिलन कवि की असाधारणा, अद्वितीयता का परिचायक तो है ही, उसकी निर्लेप संक्रमणशीलता का भी जयघोष है। सत्यं, शिवं, सुंदरम् का समन्वय इसी शिखर पर संभव है। ऐसा ही समन्वय गीता, रामचरितमानस, आदि में भी है।'**[1] नगेन्द्र जी ने प्रस्तुत सकलन के विषय में कहा, **"युगवाणी में पंत जी अपने नवीन सिद्धान्तों की रूपरेखा निश्चित कर रहे थे। सिद्धांत अभूतपूर्व होते है इसलिए 'युगवाणी' रस से पुष्ट माँस नहीं है। 'ग्राम्या' तक वे सिद्धान्त स्थिर कर चुके और अब उन्होंने उसके प्रयोग के लिए मूर्त आधार चुन लिया। स्वभावतः 'ग्राम्या' की स्नायुओं में कवित्व का गाढ़ा रस प्रवाहमान है, अंग भरे हुए और यौवनपीन है:—**

> **"हैं माँस-पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता,**
> **संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज।**
> **कृत्रिम रति की हैं नहीं हृदय में आकुलता,**
> **उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।"**[2]

इसकी आलोचना करते समय 'कर्मवीर' ने लिखा था—" **'ग्राम्या' पके हुए धान से लहलहे खेत के समान है। उसमें ग्रामीण जीवन की आर्द्रता है। एस्थीट कवि ने कई सुन्दर चित्र-राग आलेखित किए है। भाषा और भी सरल ओजवती और सजीव हो उठती है। कई जगह ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग है जो 'लोकल कलर' उत्पन्न करते हैं।"**

आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 'पंत की बहिर्मुखी साधना' नामक लेख में 'ग्राम्या' की रचनाओं को तीन भागों में बाँटा है :—

(१) ग्राम्यदर्शन, (२) ग्रामचिंतन, (३) विविध।

(१) ग्रामदर्शन मे ग्रामों के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, तरुण आदि का रूप-वर्णन तथा उनके रीति-रिवाजों का चित्रण तथा प्रकृति वर्णन है।

(२) ग्राम्य चिंतन में कवि ग्रामों की अवस्था पर सहानुभूतिपूर्ण चिन्तन करता है।

(३) विविध रचनाओं में ग्राम का बाहरी-भीतरी रूप ही नहीं, अन्य विषय

---

१. **त्रयी—पृष्ठ ६०**

२. **सुमित्रानंदन पन्त—पृष्ठ १७६**

भी समाविष्ट हैं—जैसे भारत माता, महात्मा जी के प्रति, राष्ट्र गान, सौंदर्य कला, अहिंसा, आधुनिका आदि।

'ग्राम्या' का नायक ग्राम है जिसे कवि सामंत युग के खण्डहर के रूप मे देखता है जिसका फोटो, चाहे पंत जी ने दूर से ही लिया हो, बड़ा साफ आया है :—

"यहाँ नहीं है चहल-पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ मर्मर ले वन की।
आता मौन प्रभात अकेला संध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी।"

× × ×

"यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।"

× × ×

"कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी नर ?"

× × ×

"प्रकृति धाम यह, तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत ! !"

स अपरिचित नरक के साथ-साथ कवि की निगाह उन नारकीय जीवों पर भी पड़ गई है जो उसे अपने लिए स्वर्ग बनाते दीखते है। धोबी, चमार, कहार—नृत्य द्वारा अपने अवसादमय जीवन का विषाद खोते है। धोबियो का नृत्य देखिए :—

"उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ हुडुक घुड़ुकता ढिम ढिम ढिन,
मजीर खनकते खिन खिन खिन,
मदमस्त रजक होली का दिन,
लो छन छन, छन छन,
छन छन, छन बन,
थिरक गुजरिया हरती मन।"

× × ×

"फहराता लहँगा लहर लहर,
उड़ रही ओढ़नी फर फर फर,
चोली के कन्दुक रहे उघर।"

पर कवि अपने पाठक को मुगालते में नहीं रखना चाहता, अतः फौरन कह देता है :—

"स्त्री नहीं गुजरिया वह है नर !"

इधर चमारों का नाच देखिए :—

"अ र र र· · ·
मचा खूब हुल्लड़ हुड़दंग
धमक धमाधम रहा मृदंग,
उछल कूद, बकवाद झड़प में
खेल रही खुल हृदय उमंग
यह चमार चौदस का ढंग।"

यह चमार नाच क्यों हो रहे हैं ? कवि स्वयं उत्तर देता है :—

"ये समाज के नीच अधम जन,
नाच कूद कर बहलाते मन,
वर्णों के पद दलित चरण ये
मिटा रहे निज कसक औ कुढ़न
कर उच्छृंखल उद्धतपन !"

और कहार ? उनका नृत्य ऐसा वैसा नहीं—रुद्र नृत्य है:—

"हुलस नृत्य करते तुम, अटपट धर पटु पद, उच्छृंखल,
आकांक्षा से समुच्छ्वसित जन मन का हिला धरातल।"

× × ×

"एक हाथ में ताम्र डमरू धर, एक शिवा की कटि पर,
नृत्य तरंगित रुद्ध पूर-से तुम जन मन के सुखकर।"

कवि उनके—कहारों के—रुद्र नृत्य से अत्यधिक प्रभावित हुआ। कहे बिना नहीं रह सका वह :—

"खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर,
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौंदर्य स्वप्न दिखलाकर !
युग-युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अंतर,
जन मानव गौरव पर विस्मितः मैं भावी चिंतन पर।"

इन तीनों नृत्यों का स्थान 'ग्राम्या' में प्रमुख है। इन चित्रणों से ग्रामीणों का दैन्य और भी स्पष्ट हो जाता है। दूसरे अब तक के किसी कवि ने इन लोक नृत्यों की ओर कभी ध्यान भी नहीं दिया था अतः यह हिन्दी में अपूर्व है। 'ग्राम्या' की एक और विशेषता है और वह है व्यंग्य—तिलमिला देने वाला व्यंग्य। चमारों का एक उस्ताद है करिंगा जो बाँसुरी बजा कर झूम-झूमकर फबतियाँ कस रहा है :—

"जमींदार पर फबतीं कसता,
बांम्हन ठाकुर पर है हँसता,
बातों में वक्रोक्ति, काकु औ

श्लेष बोल जाता वह सस्ता,
कल काँटा को कह कलकत्ता!"

'स्वीट पी' भी ऐसी ही रचना है जिसमें कवि लिपस्टिक लगाए हुए शहर की चटक मटकदार नारी का खाका खींचता है :—

"शयन कक्ष, दर्शन गृह की शृङ्गार!
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प मात्र में शोभित रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम निज शोभा ही के भार!"

× × ×

"मृदुल मलय के स्नेह स्पर्श से
होता तन में कंपन।"

× × ×

"ऊँची डाली से तुम क्षण भर
नहीं उतर सकती जन भू पर!
फूली रहती
भूली रहती
शोभा ही के मारे।"

इस व्यंग्य की पृष्ठभूमि में एक कचोट भी है:—

"हाय, न क्या आंदोलित होता
हृदय तुम्हारा
सुन जगती का क्रंदन?
क्षुधित व्यथित मानव रोता
जीवन पथ हारा
सह दु:सह उत्पीड़न।
युग-युग से दुखकातर
द्वार खड़े नारी नर
देते तुम्हें निमंत्रण।"

इतने पर भी—

"क्या न बिछाओगी जन-पथ पर
स्नेह सुरभिमय
पलक पँखड़ियों के दल?
स्निग्ध दृष्टि से जन-मन हर
आँचल से ढँक दोगी न शूल चय?"

'वे आँखें' की 'घर में विधवा रही पतोहू'-से आगे चलने वाली पंक्तियाँ

तिलमिला देती है। ग्राम वधू जब अपने पति के घर जाती है तो बारी-बारी से माँ, मौसी, सखियों आदि के गले मिलती है और इस अवसर पर घण्टों रोती है पर ज्योंही गाड़ी में बैठती है उसके रुदन का वाष्पीकरण हो जाता है और वह धनी पति से हँसकर बातें कर निकलती है। 'महान' रचना मे कवि ने गहनों के प्रति अमिट प्रेम पर व्यंग्य किया है। ग्राम-स्त्रियाँ, चाहे पैदल न चल सकें, पर अपने बदन से गहनों को अलग नहीं कर सकतीं। पर सबसे निराला व्यंग्य तो इस संकलन की चौबीसवीं रचना--'संध्या के बाद'--मे है। शाम हो गई है और लाला ने अपनी 'टिन की ढबरी' जला ली है। अब उन्हें सूझता है अपनी तुलना शहर के व्यापारी से करने की। लाला सोचता है वह भी शहरी बनियों की भाँति महाजन क्यों नहीं बन जाता ? यह सोच सोचकर वह मानो मार्क्स साहब का पाठ कर निकलता है:-

"यह क्या संभव नहीं
व्यवस्था में जग की कुछ हो परिवर्तन ?
कर्म और गुण के समान ही
सकल आय व्यय का हो वितरण।"

× × ×

"क्या ऐसा कुछ नहीं
फूंक दे जो सबमें सामूहिक जीवन ?
मिलकर जन निर्माण करें जग,
मिलकर भोग करें जीवन का,
जन विमुक्त हों जन शोषण से,
हो समाज अधिकारी धन का ?"

लाला का विश्वास है कि सब पापों की जननी दरिद्रता ही है, अतः वे चाहते है कि देश-देश की प्रजा सुखी हो, उसका पाप, ताप, भय निरोहित हो जाय। विचार बड़े सुदर हैं, बड़े ऊँचे, पर--

"टूट गया वह स्वप्न वणिक का,
आई जब बुढ़िया बेचारी,
आध पाव आटा लेने,
लो, लाला ने फिर डंडी मारी।"

'ग्राम्या' में नारी पर भी कई कविताएँ हैं--ग्राम युवती, ग्राम नारी, ग्राम-वधू, स्वीट पी, स्त्री, आधुनिका, मजदूरनी, नारी आदि। नारी के प्रति कवि की बड़ी श्रद्धा है। कवि पुकार कर कहता है कि वह योनिमात्र नहीं है, वह भी प्रतिष्ठित मानवी है ! बड़े दुख का विषय है कि वह युग-युग की बंदिनी है नर की छाया इंगित से संचालित एवं चिर पद लुठित है। उसे मजदूरनी बड़ी प्रिय लगती है जो जीवन के काम-काज को बँटा रही है, जो उन्मुक्त समीर का सेवन करती

है, इसलिए उसका स्वास्थ्य शुभ है। चित्र निहारिए :—

"सिर से आँचल खिसका है,—धूल भरा जूड़ा,
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसतीं, बतलातीं सहोदरा सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से।"

पर दूसरी ओर अब भी ऐसी नवेलियाँ है जो बिहारी की नायिकाएँ लगती है :—

"पशुओं से मृदु चर्म, पक्षियों से ले प्रिय रोमिल पर,
ऋतु कुसुमों से सुरँग सुरुचिमय चित्र वस्त्र ले सुंदर,
सुभग रूज, लिपिस्टिक, ब्रोस्टिक, पौडर से कर मुख रंजित,
अंगराग, क्यूटेक्स अलक्तक से बन नख शिख शोभित।"

ऐसी नारी के प्रति कवि के हृदय में कोई स्थान नहीं है। वह उन्हें प्रेम, दया, सहृदयता, शील, क्षमा, परदुखकातरता, तप, सयम, सहिष्णुता, त्याग, तत्परता से हीन फूल, लहर, तितली, विहंगी, मार्जारी कहता है। 'उद्‌बोधन' मे कवि नर-नारी दोनों से 'वासना के वसन' खोलने का आग्रह करता है। इसके अतिरिक्त 'बापू' पर भी रचनाएँ है। चरखा और अहिंसा पर भी कवि ने लिखा है। अहिंसा के विषय मे पत जी कहते है :—

"बंधन बन रही अहिंसा आज जनों के हित।
वह मनुजोचित निश्चित, कब? जब जन हो विकसित॥"

'वाणी' मे कवि कहता है कि 'उसे अब अलंकारों की क्या आवश्यकता है? उसे चाहिए कि जन मन के जीवनाधिकार को किसी प्रकार दूर कर दे, मानव उर निःशब्द द्वार खोल दे, भविष्य के सत्य को झंकृत कर दे, जग का रूपांतर कर दे और किसी प्रकार जन मन तक उसके "विचार" (भाव नही) पहुँचा दे। इस प्रकार सामाजिक रीतियों—कुरीतियों को तत्समाज की बोली मे वाणी दे कवि बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय अपनी 'ग्राम्या' समाप्त करता है :—

"हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ण—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु! भव मानवता का वर।"

स्वर्ण किरण और स्वर्ण धूलि—पंत जी का एक युगांत सन् '३५ में हुआ था और दूसरा सन् '४० में। स्वर्ण काव्य के साथ उनकी कविता ने पुनः नया मोड़ लिया। कवि बीमार भी रहा अतः उसे मनन करने का अच्छा अवसर मिला। उधर सन् '४२ का आंदोलन भी हो गया। कवि का मन क्लांत हो उठा। उसे बाहर शांति न मिल सकी—वह शांति अरविंद मे मिली। इस विषय मे वे स्वयं लिखते है—**"अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन चेतना का स्वप्न संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक तथा**

आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के 'भागवत जीवन' (दि लाइफ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खण्ड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिंतन को अत्यंत सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है। × × × श्री अरविन्द के दर्शन करने तथा श्री अरविंद के आश्रम के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सका। × × × 'स्वर्णकिरण' और उसके बाद की रचनाओं में यह प्रभाव, मेरी सीमाओं के भीतर, किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है।"[1] इस प्रकार कवि ने इन काव्यों में अंतर्जीवन एव अंतरचेतना को महत्त्व दिया है जिस प्रकार कि 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' मे बहिर्जीवन एवं बहिर्चेतना को। वैसे सामान्यतः उसमें बहिरतर जीवन के समन्वय को ही अधिक प्रधानता दी गई है। अरविद के दर्शन का प्रभाव कवि पर यह पड़ा कि 'ग्राम्या' के अनंतर 'स्वर्णधूलि' मे तो उसने अपनी रचनाओं का थोडा बहुत सामाजिक आधार रक्खा भी[2] पर 'स्वर्ण-किरण' की रचनाएँ सर्वथा चेतना प्रधान हो गई। कवि को विश्वास हो गया कि बहिर्जगत ही सब कुछ नहीं है, अंतर्जगत का भी मूल्य है :—

"सामाजिक जीवन से कहीं महत् अंतर्मन,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना जीता किंतु चिरंतन।"

कवि यह सोचे बिना नही रह सका कि जगत के दैव्य का एकमेव कारण यही है कि मानव ने भौतिकता के पीछे चेतना की पुकार को बिल्कुल अनसुना कर दिया है :—

"बहिर्चेतना जागृत जग में अन्तर्मानव निद्रित।
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अंतर्जीवन मूर्छित मन।।"

पंत का यह आध्यात्मिक मानववाद है क्या ? इसका उत्तर उन्होंने 'सर्वोदय' शीर्षक रचना मे दिया है :—

"भू रचना का भूतिवाद युग
हुआ विश्व इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शांति के
हों गत संस्कृत धर्म समन्वित!
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम
मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योगित

१. **उत्तरा की प्रस्तावना, पृष्ठ १८-१६**
२. **'स्वर्णधूलि' का धरातल सामाजिक है'**—'स्वर्णधूलि' का 'विज्ञान'

एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता 'का संघर्षण
विपुल ज्ञान संग्रह भव पथ का
विश्व क्षेत्र का करे उन्नयन।"

कवि के अनुसार 'जीवन वारिधि का उद्वेलन', 'भू के तट' किसी भी प्रका नहीं रोक पाते अर्थात् कभी-कभी अंतर्मन की पुकार इतनी दुर्निवार हो जाती है कि मनुष्य भौतिकता को छोड कर महाचेतन की ओर प्रधावित होने के लिए ललक उठता है। कभी-कभी तो चेतना के लिए भौतिकता भार वन जाती है 'स्वर्णकिरण' की 'अशोकबन' का रूपक इसी अर्थ को लिए हुए है। सीता चेतना है जो लंका की स्वर्ण-भौतिकता के बीच मुक्ति के लिए सिसक रही है। यह सिद्धांत वादी लम्बी रचना है। इस आख्यान द्वारा भी कवि आध्यात्मवाद का प्रचार करना चाहता है :—

"पृथ्वी की पुत्री यह सीता
पृथ्वी जिससे हुई पुनीता
वह क्या आदिम भू जीवन के
छाया तम को अपनाएगी?"

कवि ने अपना प्रतीक इन शब्दों में बाँधा :—

"रावण था युग वैभव प्रतिमा
अमित प्रताप, बुद्धि, बल, गरिमा
युग आकांक्षा से अविद्ध वह
जन मन शत्रु, मही भीना
जन आकांक्षाओं को था उठना
प्रभु को उतर मनुज था बनना
भू-ईप्सा को स्वर्ग दया से
होना था जग हित परिणीता।"

इसका भी एक कारण है और वह यह कि भौतिकता मे लिप्त रहना सतत विषण्णता के पड़ोस में बसना है सच्ची शाति, सच्चा सुख तो आध्यात्मिकता-सरोवर में अवगाहन के अनतर ही मिलते है :—

"तीसरी रे भूख आत्मा की गहन
इन्द्रियों की देह से ज्यों है परे मन।
मनोजग से परे ज्यों आत्मा चिरंतन,
जहाँ मुक्ति विराजती
औ डूब जाता हृदय-क्रंदन।
वहाँ सत का वास रहता

वहाँ चित् का लास रहता
वहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग दर्शन।"

और आत्मा का यह 'चिर उल्लास, धरती के कण-कण में व्याप्त है। जैसे कबीर के लाल की लाली हर जगह फैल गई थी, तद्वत पंत की आत्मा का अमर उल्लास भू, नभ, अनिल आदि सब में है :--

"यह नीला आकाश न केवल
केवल अनिल न चंचल,
इनमें चिर आनन्द भरा
मेरी आत्मा का उज्ज्वल !
हलकी गहरी छाया के जो
घिरते ये रंग-बादल,
मेरी आकांक्षा की विद्युत्
बहती इनमें प्रतिपल !"

यहाँ कवि को समन्वय प्रिय है--पूर्व का एवं पश्चिम का, अध्यात्म एवं भूत का, ऊर्ध्व विकास एवं समदिक विकास का। इसी समन्वय भावना में उनकी आध्यात्मिक चेतना का मूल तत्व है :--

"पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्व तंत्र में वितरित,
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित।"

भारतीय दर्शन में परा और अपरा दो विद्याएँ बताई गई हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञान दो प्रकार का है--भौतिक एवं आध्यात्मिक। भौतिक ज्ञान उपनिषदों के अनुसार है, अविद्या है :--

"भूतज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति केतु ऋषि दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।
बहिरंतर के सत्यों का जग जीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।"

समन्वयवाद, समझौतावाद, अनतिवाद ही तो अरविंदवाद है। इसी बात को पंत ने गद्य में भी कहा है--"**आदर्श और वस्तुवादी दृष्टिकोणों में केवल धरातल का भेद है और ये धरातल आपस में अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। × × जिस सत्य को वृहत् स्थूल धरातल पर क्षुधा, काम कहते हैं, उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य, शिव, सुन्दर। × × अतएव हम इसे अच्छी तरह समझ लें कि ये दोनों धरातल बाहर से भिन्न होने पर भी तत्वतः अभिन्न तथा एक दूसरे के पूरक हैं। × × इस**

लिए भविष्य में हम जिस मानवता अथवा लोक संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं उसके लिए हमें बाहर-भीतर दोनों ओर से प्रयत्न करना चाहिए, सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही शक्तियों से काम लेना चाहिए।"[1] अपना दृष्टिकोण इन शब्दों में रखने के अनन्तर पंत जी युग को मानो ललकार लगाते हैं—**"ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि स्थूल के संगठन से सूक्ष्म अपने आप संगठित हो जायगा जैसाकि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता; अथवा सूक्ष्म में सामंजस्य स्थापित कर लेने से स्थूल में अपने आप संतुलन आ जायगा जैसाकि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनों दृष्टिकोण अतिवैयक्तिकता तथा अति सामाजिकता के दुराग्रह मात्र हैं।"**[2]

'स्वर्णकिरण' की 'हिमाद्रि' एवं 'ऊषा' का स्थान अत्यन्त उच्च है। 'हिमाद्रि' को संबोधित करते हुए कवि कहता है:—

"इन्दु स्फीत तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरो दधि से हिल्लोलित
ज्योत्स्ना में थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक से लगते मोहित।"

अनंतर कवि जीवन और हिमाद्रि की तुलना करता है—जीवन कितना लघु, कितना क्षुद्र, कितना दुखमय; उधर हिमालय कितना महान, कितना विराट, कितना सुखमय; अतः प्रशांत:—

"देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि
तुम मेरे शिक्षक रह अपरिचित।"

प्रगतिवादी आलोचकों ने इस संकलन की निम्नलिखित पंक्तियों में दुर्गन्ध का अनुभव किया—

"संभव पुर तुम्हारी द्रौणी
किन्नर मिथुनों से हों कूजित
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छवसित।"

ऊषा, अत्यन्त सुघड़ है जिसमें प्रतीक भी है पर जिसे कवि ने अंत में निरव गुंठित कर दिया है। उषा का बाह्य, सौन्दर्य निहारिए:—

---

१. उत्तरा की प्रस्तावना, पृष्ठ १६
२. उत्तरा की प्रस्तावना, पृष्ठ १७

"लो वह आई विश्वोदय पर
स्वर्ण कलश वक्षोजों पर धर !
अर्ध विवृत कर ज्योति द्वार पट,
ज्योति रश्मियों की अंजलि भर ।"

जैसाकि आगे कहा जायगा अरविन्द के प्रभाव से कवि अंतश्चेतनावादी हो गया था। 'ऊषा' इसी की प्रतीक है जिसके प्रत्यय से सत्य की प्राप्ति होती है। उषा के आगमन पर--

"ज्योति नीड़ के विहग जाग, गाते नव जीवन मंगल।
रजत घंटियाँ बजीं अनिल में, ताली देते तरुदल ॥
चूम विकच नलिनी उर, गूंजे गीत पंख मधुकर दल।
नृत्य तरंगित बहे स्रोत, ज्यों मुखरित भू पग पायल ॥"

प्रतीक अर्थ मे अंतश्चेतना के उदय होने पर मन में विवेक की किरणें खेल निकलती है और ऊपर जैसा ही हो जाता है।

नर-नारी की चिर-समस्या पर भी पंत ने कलम चलाई है। उनका मत है कि नर और नारी को हाथ मे हाथ डालकर आगे बढ़ना चाहिए—एक की अवनति दूसरे की उन्नति नहीं हो सकती। नारी के बिना यह समाज सूना हो जायगा। लेकिन वहाँ भी संतुलन, समन्वय की परमावश्यकता है:--

"रति और विरति के पुलिनों में बहती जीवन-रस की धारा,
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य चुकाओगे।
नारी में फिर साकार हो रही नव्य चेतना जीवन की,
तुम त्याग भोग को सृजन भावना में फिर नवल डुबाओगे ॥"

सॅक्स और प्रेम दो भिन्न वस्तुएँ है। कामिक प्रेम करने वाला सच्चा प्रेमी नहीं हो सकता--न तो वह वास्तविक प्रेम प्रदान ही कर सकता है और न आदान। 'स्वर्णकिरण' की इसी को सिद्ध करने वाली पंक्तियाँ दृष्टव्य है:--

"क्या है प्रणय ? एक दिन बोली, उसका वास कहाँ है ?
इस समाज में ? देह मोह का देह द्रोह का त्रास जहाँ है ?
तुम हो स्वप्नलोक के वासी, तुमको केवल प्रेम चाहिए ?
प्रेम तुम्हें देती, मै अबला, मुझको घर की क्षेम चहिए।
हृदय तुम्हें देती हूँ प्रियतम ! देह नहीं दे सकती,
जिसे देह दूंगी अब निश्चित, स्नेह नहीं दे सकती।"

'देह' और 'स्नेह' उनके अनुसार दो सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं। इसी बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'स्वर्णधूलि' मे 'पतिता' नामक रचना की है। इसमें कुछ क्रूर, लुटेरे, हत्यारे आकर बहू को कलंकित कर जाते है। समाज भला इसे अपनी स्वीकृति कैसे दे सकता ?—

"फूटा करम, धरम भी लूटा
शीष हिला रोते सब परिजन,
हा, अभागिनी ! हा कलंकिनी !
खिसक रहे गा-गाकर पुरजन।"

परिजन-पुरजन तो खिसक गए, पर उसका पति ऐसा नहीं। वह तो पण्डित पंत का शागिर्द है। वह आकर सस्नेह अपनी भार्या को गले लगा लेता है और कह देता है :—

"मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूंगा मैं न कलंकित।"

एक अन्य स्थल पर भी यही कहा गया है :—

"पति-पत्नी का सदाचार भी
नहीं मात्र परिणय से पावन,
काम-निरत यदि दंपति जीवन,
भोग-मात्र का परिणय साधन।
पंकिल जीवन में पंकज-सी
शोभित आप देह से ऊपर,
नहीं सत्य जो आप हृदय से
शेष शून्य जग का आडम्बर।"

'आओ प्रभु के द्वार' वाला गीत 'स्वर्णधूलि' में ही है जिसकी खिल्ली उड़ाते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा था—"**अगर चीजों के दाम बढ़ गये हैं; तनख्वाह कम मिलती है, बीबी-बच्चे परेशान हैं, हड़ताल करने और लड़ने की ताव नहीं है तो आओ प्रभु के द्वार ; तुम्हारे सभी कष्ट दूर हो जायेंगे।**"[1]

कुछ रचनाएँ प्रकृति सम्बन्धी हैं पर वे रचनाएँ 'पल्लव' या 'वीणा' जैसी नहीं। यहाँ पर आकर तो प्राकृतिक व्यापार भी सौन्दर्य नहीं, कुछ और ही सोचने के लिए कवि को वाध्य कर देते हैं :—

"निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का,
आत्मा गोपन करती चिंतन।"

जहाँ तक 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' की रचनाओं का प्रश्न है उनमें तो विशेष अंतर नहीं पर भाषा दोनों की भिन्न है। 'स्वर्ण किरण' की भाषा तत्सम शब्दावलीयुक्त, अतः अत्यन्त जटिल है। 'स्वर्णधूलि' की भाषा, दूसरी ओर, अपे-

---

१. सुमित्रानन्दन पंत—शचीरानी गुर्टू, पृष्ठ २६२

क्षाकृत सरल है। 'उत्तरा' की भाषा इन दो छोरों के मध्य झूलती है! बात यह है कि 'स्वर्ण किरण' की रचनाएँ कवि के चिंतन का प्रतिफलन हैं एवं उपनिषदों के प्रभाव के दौरान में वाणीबद्ध की गई हैं; अतः उस वातावरण को उपस्थित करने के लिए कवि ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाया है। फल यह हुआ है कि दर्शन की घाटियों में काव्य-कला की मनोहारिता छुप-सी गई है। हो सकता है 'स्वर्ण किरण' की भाषा के जटिलता-लांछन को पौंछने के लिए कवि ने 'स्वर्णधूलि' में सरलता का मार्ग अपनाया हो।

इस पकार 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' में प्राकृतिक, आत्मगत, विनयपरक, व्यक्तिपरक, प्रतीकात्मक, सैद्धांतिक, सामाजिक आदि रचनाएँ हैं पर बाहुल्य आध्यात्मिक रचनाओं का ही है।

युगपथ, उत्तरा—'स्वर्ण किरण' एवं 'स्वर्णधूलि' के अनंतर पंत जी की 'मधु ज्वाल', 'युगपथ', 'उत्तरा' एवं 'अतिमा' नामक रचनाएँ हैं। इन चारों में विशिष्ट-तम स्थान 'उत्तरा' का है। यह '४९ में प्रकाश में आई। एक वर्ष पूर्व 'युगांतर' प्रकाशित हो चुका था जो 'युगांत' के साथ 'युगपथ' मे सुरक्षित है। कवि की जो काव्य प्रवृत्ति १९४० से प्रारंभ हुई थी उसकी क्लाइमैक्स 'उत्तरा' में है, अतः 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्णधूलि' की उत्तरवर्त्ती रचनाओं का नाम 'उत्तरा' उचित ही है। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी 'उत्तरा का अर्थ विश शताब्दी की उत्तरकालीन रचनाओं का संग्रह लेते हैं। इसकी साढ़े छब्बीस पृष्ठी-'प्रस्तावना' पंत जी के दृष्टिकोण को समझने में अत्यन्त सहायक है। सच पूछो तो इस संकलन का महत्त्व ही इससे बढ़ा है। स्वर्णकाव्य के प्रकाशन के अनन्तर मार्क्सवादियों ने कवि पर बड़ी करारी चोटें की थीं—उन्हें रामनामी ओढ़े बगल में कामशास्त्र की पुस्तक दबाने वाला, प्रतिक्रिया-वादी, कायर, अनैतिक, सिद्धांतहीन आदि न जाने क्या क्या कहा। उन सबका सम्यक् उत्तर कवि ने इस 'प्रस्तावना' में किया। लगता है 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्ण किरण' एवं 'उत्तरा' का भाव विषय एक ही है पर यह बात नहीं। 'स्वर्णधूलि' की अधि-कांश रचनाओं का आधार सामाजिक है, 'स्वर्ण किरण' का चेतना। 'उत्तरा' एवं 'युग-पथ' में चेतना प्रधान है। "**'युगपथ' दो भागों में विभक्त हैं। पहला भाग 'युगांत' है जो प्रथम बार १९३६ में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था जिसमें '३४ से लेकर '३६ तक की मेरी तैंतीस छोटी बड़ी रचनाएँ संकलित हैं। × × × दूसरा भाग 'युगांतर' है। × × × (इसमें सैंतालीस रचनाएँ हैं) जिनमें से अधि-कांश बापू जी के देहनिधन के बाद उनकी पुण्य स्मृति के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में लिखी गई थीं।**"[1]

वैसे कवि 'युगांत' में ही अपने भाववादी युग की समाप्ति का डंका पीट चुका

---

१. **'युगपथ' का 'विज्ञापन**

था पर 'उत्तरा' में आकर वह पूर्ण चिंतन-प्रधान बन गया। इसमें 'कुछ प्रतीकात्मक, कुछ धरती तथा युग जीवन सम्बन्धी, कुछ प्रकृति तथा वियोग-शृंगार-विषयक कविताएं और कुछ प्रार्थना गीत संगृहीत हैं।' इसमें कवि ने इन्हीं विचारों तथा प्रेरणाओं को वाणी देने का प्रयत्न किया है जो उसकी भावना के भी अंग हैं। बहिर्जगत और अंतर्जगत के समन्वय से ही नव मानवता जन्म ले सकती है, और लेती है :—

"बदल रहा अब स्थूल धरातल,
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत अब
विकसित अंतर्जीवन अभिमत !

अब नव मानवता जन्म ले रही है :—

"यह रे भू का निर्माण काल
हँसता नव जीवन अरुणोदय
ले रही जन्म नव मानवता
अब खर्व मानवता होगी क्षय !"

'युग छाया' नामक रचना में भी यही बात कही गई है :—

"नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जाएँगे युग दानव,
सुर नर होंगे भाई।
ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता,
जन्म ले रही नव मानवता,
स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई।"

युगवाणी-ग्राम्या का बहिर्मुखी कवि अंतर्मुखी होते होते इसमें पूर्णतया अंतर्चेतनावादी हो गया है। उपनिषद्, स्वामी विवेकानंद एवं अरविन्द की विशाल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि कवि के हाथ लग गई, फलस्वरूप उसे मार्क्स, ऐंजिल्स अथवा अन्यान्य पश्चिमी मनीषी कुछ भी नहीं लगे—**"आज हम छोटी छोटी बातों के लिए पश्चिम के विचारकों का मुंह जोहते हैं, उनके वाक्य हमारे लिए ब्रह्म वाक्य बन जाते हैं और हम अपनी इतनी महान विभूति को पहचान भी नहीं सकते जिनके हिमालय-तुल्य मनः शिखर के सामने इस युग के अन्य विचारक विंध्य की चोटियों के बराबर भी नहीं ठहरते। इसका कारण यही हो सकता है कि हमारी राजनीतिक पराधीनता की बेड़ियाँ तो किसी प्रकार टूट गईं, किन्तु मानसिक दासता की शृंखलाएँ अभी नहीं टूटी हैं।"** आगे मार्क्स पर चोट करते

हुए वे कहते हैं, "**सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस-मौन निनादित भारत के एकांत मनोगगन में मार्क्स तथा ऐंजिल्स के विचार-दर्शन की गूँजें बौद्धिकता के शुभ्र अंधकार के भीतर से रेंगने वाले झींगुरों की रुँधी हुई झनकारों से अधिक स्पंदन नहीं पैदा करतीं। ऐंजिल्स के शाश्वत सत्य की याख्या, जिसके उदाहरण स्वरूप 'नैपोलियन ५ मई को मरा है' तथा हीगल का 'विचार का निरपेक्ष' जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है, अथवा ऐसे इतर सिद्धांतों की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्त्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नहीं रखता। जिन मार्क्स तथा ऐंजिल्स के उद्धरणों को दुहराते हुए हमारा तरुण बुद्ध जीवी नहीं थकता, उसे अन्य दर्शनों के साथ अपने देश के दर्शन का भी सांगोपांग तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिए और देखना चाहिए कि ऊँट तथा हिमालय के शिखर में कितना अंतर और क्या भेद है।**"[1] इस सबसे सिद्ध होता है कि सन् १९३५ से १९४० तक कवि ने अपना अंचल जो मार्क्स से बाँध दिया वह उसका अंध भक्त बनकर नहीं। अथवा उन अन्यान्य कम्युनिस्टों की तरह नहीं जो अपनी आँखों से न देखकर महंतों के चश्मे को ही लगाए रहते हैं, जो यह नहीं जानते कि उनके घर के दीपक का तेल कभी भी समाप्त नहीं होने का। वे दूसरे के घर के बिजली के वल्ब पर मर मिटते हैं जिसका प्रकाश कुछ समय तक बडा तीव्र रहता है पर जो किसी भी क्षण फ्यूज हो सकता है। पर पंत का यह अर्थ नहीं कि मार्क्सवाद बिल्कुल ही हेय है, नहीं, ऐसी बात नहीं पर उस रूप में उन्हें स्वीकार्य नहीं जिसमें सम्प्रति बुद्धिजीवी तरुण को है। वे 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' में ही (पृ० २१) मे लिखते हैं, "**मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (-लोकतंत्र के रूप में मूर्त) आदर्शवाद में है जो जनहित अथवा सर्वहारा का पक्ष है; किंतु उसे वर्ग-क्रांति का रूप देना अनिवार्य नहीं हैं। वर्गयुद्ध का पहलू फासिज्म की तरह ही निकट भविष्य में पूंजीवादी तथा साम्राज्यवाद युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जायगा। हीगल के द्वन्द्व-तर्क में बिंबित पश्चिम के मनोजगत का अन्तर्द्वन्द्व मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे बहिर्द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से इन युग प्रवर्तकों का मानव-चिंतन, ऐंजिल्स के अनुसार 'अपनी युग सीमाओं से बाहर' अवश्य नहीं जा सका है। × × × हीगल और मार्क्स दोनों ही अपने युग के बहुत बड़े मनस्वी हुए हैं, किंतु इनकी मनःशक्ति ही इनकी सीमाएँ भी बन गईं।**" और इसी कारण कवि अपने घर में बिजली होते हुए भी दीपक को अवश्यंभावी बतलाता है—"**मैं मार्क्सवादी (आर्थिक दृष्टि से वर्ग-संतुलित) जनतंत्र तथा भार-**

---

१. 'उत्तरा' की प्रस्तावना, पृष्ठ २०-२१

तीय जीवन-दर्शन को विश्व-शांति तथा लोक-कल्याण के लिए आदर्श संयोग मानता हूँ।" तथा स्वामी विवेकानंद के—**"मैं योरप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ"**—कथन को रेखांकित करता है। उसकी दृढ़ आस्था है कि आध्यात्मिक, मानसिक तथा भौतिक संजय को संयोजित किए बिना मानव-कल्याण नभ-कुसुमवत् है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का समन्वय असंभव मानते है। पंत की राय में वे ग़लत हैं। गरज कि 'युगपथ' एवं 'उत्तरा' तक आकर कवि मार्क्स का अंध शिष्य नहीं रहा। अब उसे गाँधी, रवीन्द्र, अरविंद में भी कुछ मिला। अतः उसे कोरे मार्क्सवाद में भू-त्राण नहीं मिला--नहीं ही मिला। इस पर कतिपय मार्क्स-वादी, जिन्होंने युगवाणी-ग्राम्या के दिनों में उनका दोनों बाँहें फैलाकर स्वागत किया, उन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए, उनके अंतर्चेतनावाद की सीवन उधेड़ने लगे। हथौड़ावादी डा० शर्मा ने लिखा, **"दूसरे महायुद्ध के पहले जब कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने थे तब से 'उत्तरा' के लिखने तक जनता की चेतना और उसके साथ हिन्दी जनता की चेनता में काफी परिवर्तन हो गया है। अन्तर्चेतनावादी पंत जी से सामाजिक चेतना के ये परिवर्तन छिपे नहीं हैं लेकिन वे इस नई सामाजिक चेतना से सहानुभूति नहीं रखते---न बौद्धिक, न हार्दिक। वह अपने पुराने समन्वयवाद को नया जामा पहनाकर हिन्दी पाठकों से कहते हैं---मैं प्रतिगामी नहीं हूँ। लेकिन मार्क्स-वाद का कौनसा विरोधी अपने को प्रतिगामी मानता है। उसका व्यवहार उसकी प्रतिगामिता प्रकट कर देता है। पंत जी यदि अपने अन्तर्चेतनावाद से लोगों को बहकाना चाहते हैं तो कुछ दिन और कोशिश करके देखें।"** पर, जैसाकि मार्क्स-वादी कहते हैं, क्या सांस्कृतिक चेतना को वाणी देना प्रतिगामिता है? पन्त जी लिखते है, **"मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है एवं जिस मनःसंगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। × × मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक-संगठन तथा मनःसंगठन एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप है। × × जिनका मस्तिष्क वादों से आक्रान्त नहीं हो गया है वे सहज ही अनुभव कर सकेंगे कि जन-संघर्ष (राजनीतिक धरातल) में जो युग जीवन का सत्य द्वन्द्वों के उत्थान-पतन में अभि-व्यक्ति पाकर आगे बढ़ रहा है वह मनुष्य की चेतना (मानसिक सांस्कृतिक धरा-तलों) में एक विकसित मनुष्यत्व के रूप में संतुलन ग्रहण करने की भी प्रतीक्षा तथा चेष्टा कर रहा है। जो विवेचक सभी प्रकार के मनः संगठन तथा सांस्कृतिक प्रयत्नों को प्रतिक्रियात्मक तथा पलायनवादी कहकर उनका विरोध करते हैं। उनकी भावना युग प्रबुद्ध होने पर भी विचारधारा, वादों से पीड़ित तथा बुद्धि-**

भ्रम से ग्रस्त है।"[1] कवि का अन्तर्चेतनावाद प्रगतिवाद से कोई भिन्न वस्तु नहीं—इस बात को वे उसी 'प्रस्तावना' (पृ० ४-५) में कहते हैं—**"मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तन्त्र के वाह्य रूप में ही न देखकर भीतरी, प्रजात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ और जनतन्त्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही अन्तर्चेतनावाद' अथवा 'नवमानववाद' कहता हूँ—× × दूसरे शब्दों में जिस विकासगामी चेतना को हम संघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातन्त्रवाद के नाम से पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर मैं अन्तर्चेतना एवं अन्तर्जीवन कहता हूँ। × × मैं वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-अहंता के विधान को भी नवीन चेतना के रूप में परिणति संभव समझता हूँ और युग-संघर्ष में जन-संघर्ष के अतिरिक्त अन्तर्मानव का संघर्ष भी देखता हूँ।"**

इतने लम्बे-चौड़े कथन की आवश्यकता कवि को इसीलिए पड़ी कि आलोचक प्रगतिवाद को वर्ग-युद्ध की भावनाओं से सम्बन्ध भावना तक ही सीमित रखना चाहते हैं। कवि को अब मार्क्सवाद से भी आगे की वस्तु 'मानववाद' मिल गई जिसको उसने 'जागरण गान', 'युगविषाद', 'युगछाया', 'युग संघर्ष' जैसी रचनाओं मे वाणी दी है। पन्त जी की 'मानववाद' पर कतिपय पंक्तियां देखिए—

"अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त देवत्व रहा रे शनैः निखर,
भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग फिर विचरण करने को भू पर।"

× × ×

"देवों को पहना रहा पुनः मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन,
मानव आनन से उठा रहा अमरत्व ढँके जो अवगुंठन।"

× × ×

"भौतिक द्रव्यों की धनता से चेतना भार लगता दुर्वह,
भू जीवन का आलोक ज्वार युग मन के पुलिनों को दुःसह।
चेतना पिण्ड रे भू गोलक युग युग के मानस से आवृत,
फिर तप्त स्वर्ण सा निखर रहा वह मानवीय बन सुरदीपित।"

मानव की ऊर्ध्वगामी वृत्ति का ही प्रतिफल है कि उस पर अमरत्व का पीयूष-वर्षण होगा। 'परिणय' की कुछ पंक्तियां तो देखिए—

"फिर ऊर्ध्व तरंगित
हो जन धरणी का जीवन,
शाश्वत के मुख का
मावव मन जो हो दर्पण!
मर्त्यों पर सुरगण

---

१ 'उत्तरा' की प्रस्तावना, पृष्ठ ५-६

करें अमरता न्योछावर,
जो व्यक्ति विश्व में
मूर्त बने मानव ईश्वर।
फिर स्वर्ण बजाए
भू की हृत्तंत्री निश्चय,
जो ज्ञान भावना,
बुद्धि हृदय का हो परिणय।"

यह भू ही स्वर्ग बन जाती है--

"हो रहा स्वर्ग से धरणी का
जड़ से चेतन का रहस मिलन,
भू स्वर्ग एक हो रहे शनैः
सुरगण नरतन करते धारण।"

नमन, वंदना, स्तवन, ईश्वर आदि प्रार्थनापरक रचनाएँ है। पर 'अभिलाषा' वास्तव में कवि के हृदय से निस्सरित हुई है--

"एक कली यह मेरे पास,
तुम चाहो इसको अपना लो,
कर दो इसका पूर्ण विकास,
यह हँसते हँसते झर जावे
जग में निज सौरभ भर जावे
भू रज को उर्वर कर जावे
नव बीजों से हो न विनाश।"

जहाँ तक इनकी भाषा का प्रश्न है, जैसी पहले थी वैसी ही रूपक तथा लाक्षणिक प्रयोगों सहित संस्कृत गर्भित खड़ी बोली है। प्रतीकात्मक शैलीयुक्त भाषा स्वयं पन्त के अनुसार 'स्वर्णकिरण' भी भाषा से सरल है। पर यह निश्चय है कि 'उत्तरा' भाषा में, 'स्वर्णधूलि' से जटिल है।

उदाहरणों के ढेर के ढेर प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें **"धराशिखर के संगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव सम्बन्धी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ"** तथा मानव चेतना के भीतर सृजन शक्तियों की सूक्ष्म क्रीड़ाओं का उद्घाटन है जिनसे कि **"हम आज की जाति-पाँति वर्गों में विकीर्ण तथा आर्थिक राजनैतिक आन्दोलनों से कम्पित धरती को उन्नयन मनुष्यत्व में बाँधकर विश्व-मंदिर या भू-स्वर्ग के प्रांगण में समवेत कर सकें।"**

अतिमा--इस संग्रह में कुछ तो ऐसी रचनाएँ हैं जो स्वर्णकाव्य की कैटेगरी में ही आती ह पर अधिकांश रचनाएँ पूर्ण स्वतन्त्र हैं। इसमें भी चिन्तन प्रधान **प्रतीकात्मक, प्रकृति सम्बन्धी, प्रार्थना सम्बन्धी आदि रचनाएँ हैं, पर दो चार रच-**

नाएँ ऐसी भी है जो उन्हें पिछले काव्य से अलग कर देती हैं। एक विशेष बात यह भी है कि इस संग्रह में चित्रात्मकता एवं वर्णनात्मकता अधिक है जो 'उत्तरा' में अप्राप्य है। कवि 'प्रभात के दूत' से 'भोर' बनना चाहता है—

**"तुम कहते उत्तर बेला यह
मैं सन्ध्या का दीप जलाऊँ?
तुम कहते, दिन ढलने का अब
मैं प्राणों का अर्घ्य चढ़ाऊँ?
मेरा पंथ नहीं, मैं कातर
ज्योति क्षितिज निज खोजूं बाहर!
रहा देखता भीतर, अब क्या
तथ्यों का कटु तम लिपटाऊँ
कभी न निज हित सोचा क्षण भर!
मैं प्रभात का रहा दूत नित
नव विकास पथ में मुड़ मैं अब
क्यों न भोर बन मिट मुस्काऊँ।"**

जैसा अभी कहा इसमें कतिपय रचनाएँ वर्णनात्मक है जो बड़ी लम्बी हैं। इन रचनाओं के चित्र बड़े मीठे, अभिराम, कोमल एवं यत्र-तत्र स्थानीय रंग (लोकल कलर) से युक्त है। पर कवि अरविंदवाद से इतना प्रभावित है कि बीच-बीच में उसके भी गीत गाना नहीं बिसारता। यदि सुदर चित्र देखना है तो यह देखिए:—

**"खिड़की की चौखट को कुछ लम्बी तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े सी
पिघली चाँदी के थक्के सी छलकी चौड़ी!
जाजिम पर थी बन गई तलैया मोती की
जिसमें स्वप्नों की ज्वालाएँ लहराती थीं!
दूधिया भावना में उफान उठ आया हो!"**

'स्वर्णकिरण' के समान 'अतिमा' में भी एक रचना हिमालय के प्रति है। हिमाचल सौंदर्य भी पल-पल परिवर्तित है:—

**"कौन तुम्हारी शोभा शब्दों में कर सकता चित्रित,
तुम निसर्ग सम्राट्, रूप गरिमा प्रतिपल परिर्वातत।"**

एक स्थान पर कवि ने तटस्थ होकर कर्माचल को निहारा है:—

**"उग्र कराल शिलाएं भरती मन में विस्मय विभ्रम।
घोर अँधेरी गहरी दरियों में बसता आदिम तम॥
निविड़ गहन में सहसा जगमग जल उठते पट बीजन।
हिंस्र व्याघ्र से विस्फारित हरिताभ भयावह लोचन॥**

सँकरी घाटी में सर्पों से स्रोत सरकते सरमर।
झीने कंपित नील कुहासों से परिवृत हो सत्वर ॥
वृहत् गरुत् सा धँसता नभ में पंख मार गिरि प्रांतर।
भ्रू विलास करती चपलाएँ, मंदहास कर प्रतिक्षण ॥"

यहाँ हमें बरबस ही 'पार्वती' महाकाव्य का, प्रारंभ में ही, हिमालय का भव्य वर्णन स्मरण हो आता है जो कई दृष्टियों से समूचे हिन्दी साहित्य में अकेला ही है।

इसके अतिरिक्त केंचुल, स्वर्णमृग, प्रकाश, पतिंगा और छिपकलियाँ, कौए, बतखें, मेंढक आदि प्रतीकात्मक रचनाएँ हैं। पुरातनता 'केंचुल' है; 'छिपकलियाँ' भौतिकवादी एवं 'पतिंगे' भावनावादी हैं। कौए, बतखें व मेंढक का प्रतीक 'उत्तरा' के प्रतीकों जैसा ही दुरूह है। कौओं को अब प्रेम-पाती का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा, बतखों को भौतिकवादी जल से चेतना-सागर में चलना चाहिए। यही हाल बेचारे मेंढकों का है। 'आ धरती कितना देती है' बड़ी सुन्दर रचना है।

'शांति क्रांति' में काव्य नहीं, सिद्धांतों को ही पद्यबद्ध किया गया है :—

"स्वयं युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब
निश्चेतन, उपचेतन, अंतश्चेतन के जग
परिवर्तित हो रहे, नए मूल्यों में विकसित
आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
आत्मा के गोपन तम अंतर में प्रवेश कर
मानव मन, हो अधिक पूर्ण, खुल रहा बहिर्मुख।"

अब रह गई भाषा। इसमें अबकी बार पुनः चिकनाहट आ गई है जो चित्र खींचने के सर्वथा उपयुक्त है। अंत में आठ पंक्तियाँ उद्धृत कर हम 'अतिमा' से विदा लेते हैं :—

"उठते हों न निराश लौह पग
रुद्ध श्वास हो जीवन
रिक्त बालुका; यंत्र, खिसक हो
चुके सुनहले सब क्षण
तर्कों वादों में बंदी हो
सिसक रहा उर स्पंदन।
तो मेरे गीतों में देखो नव भविष्य की झाँकी।
निःस्वर शिखरों पर उड़ता, गाता सोने का पाँखी॥"

वाणी:—पंत जी की नवीनतम रचनाओं का संकलन 'वाणी' है। 'साहित्य संदेश'[1] के अनुसार, " **'वाणी' कवि की विकसित आध्यात्मिक चेतना तथा प्रकृति**

---

१. मई, १९५८

के प्रति नवीन दृष्टिकोण को वाणी देने के लिए ही प्रकाशित हुई है । यह कवि के नए रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। कवि पंत का प्रकृति दर्शन बहुत पहले का ही बना है और इस दर्शन में उसने यहाँ भी कोई हेरफेर नहीं किया है। वाणी में कवि को साधना मन के सब गुह्य प्राण प्रदेश खुल जाने की है। यही कारण है कि इसमें कवि की सूक्ष्म जीवन चेतना को अधिक मुखरित होने का सुयोग मिला है। परन्तु उसने मानव परक दृष्टिकोण को भुला नहीं दिया है। कवि ने अंतर और बाह्य दोनों दृष्टियों को बाहर रक्खा है वह 'युग प्रकाश' को फैलाना चाहता है, 'जनजीवन' 'जड़ चेतन' की भाषा का उसे ज्ञान है। वाणी में कवि अत्यंत समन्वय-वादी लगता है, इसे वह युग की आवश्यकता समझता है ।"

पंत का कवि अभी सजग है। हिन्दी काव्य-जगत को उससे बडी-बडी आशाएँ हैं।

'वीणा' और 'वाणी'--१९१८ और १९५७--इन चालीस वर्षों मे पंत का कवि कहाँ से कहाँ पहुँच गया है।

: ३ :

पंत की अभिव्यंजना-पद्धति

रंगीन सपनों में निमग्न क्रौंच के हृदय को वेधकर हृदयविहीन व्याध का तीर फुंकार उठा। पास ही एक और हृदय घूम रहा था; फूट पड़ा वह :—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥"

और इस तरह वह हृदय आदि कवि बन बैठा। क्या उसने अपनी भावना को वाणी देने का प्रयास किया? क्या वाल्मीकि के हृदय में भावों का सागर लहराया जिसे बाद में उन्होंने संवार कर कहा?—नहीं। यह दो पंक्तियाँ तो उस दूर्वा के समान थीं जो लाख मना करने पर भी कठोर भूमि के वक्ष को विदीर्ण कर गर्वोन्नत हो मानो विरोधों को ललकारने के लिए उठ खडी होती है। भावाभिव्यक्ति, इसी प्रकार, स्वयंमेव रिस निकलती है। यह नहीं होता कि पहले भाव गढ़े जायें और पुन: उन्हें भाषा में बाँधा जाय। दोनों का—भाव और उसकी अभिव्यक्ति का—उदय सहृदय व्यक्ति में एक साथ होता है। इन दोनों के बीच, अतः, कोई विभाजक रेखा खींच देना सर्वथा अवैज्ञानिक है। फिर भी बहुधा देखने में आता है कि कतिपय कवियों के भाव बड़े सबल होते हैं पर उनको दूसरों तक पहुँचाने का वाहन अत्यंत निर्बल होता है। इसका उलटा भी देखा गया है कि बात कुछ नहीं होती पर उसके कहने के ढंग में बड़ा बल होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अधिकांश पाठक दूसरे प्रकार की लहर के साथ बह जाते हैं। इसी को ध्यान में रखकर, सुविधा के लिए, किसी भी कवि पर विचार करते समय आलोचक दो पहलुओं को बताता है जिन्हें रोजमर्रा की प्रचलित भाषा में उस कवि अथवा कृति का भाव पक्ष एवं कलापक्ष कहते हैं। प्रथम उस कृति का अंतरंग है एवं द्वितीय बहिरंग। अंतरंग में बताया जाता है कि कवि क्या कहना चाहता है एवं बहिरंग में यह कि कैसे कहता है? यह 'कैसे' ही कवि की अभिव्यंजना पद्धति है। इसमें काव्य-प्रसाद के साधारणतया भाषा, रस, छंद, अलंकार वातायनों को ही खोला जाता है। प्राचीन काव्यों में रस के वातायन खोले बिना श्वासोच्छ्वासन ही असंभव था पर सम्प्रत्ति शेष तीन खिड़कियों से ही इतना आक्सिजन आ जाता है कि चौथे वातायन की ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया जाता—न शिल्पी द्वारा और न प्रवेशक द्वारा।

भाषा का वातायन सब से अधिक आवश्यक है, छंद और अलंकार के अपेक्षा-

कृत कम—और आधुनिक प्रयोगवादी काव्य महल के द्वार पर तो इनके प्रवेश की सख़्त मनाही की पट्टी ही लटका दी है। हाँ, भाषा का स्थान असंदिग्ध है। भाषा के बिना अभिव्यक्ति कैसी? पन्ना कोरा का कोरा रह जायगा। (प्रयोगवादी अभिव्यक्ति तो ऋण, धन, गुणा, भाग आदि के चिह्नों से ही हो जाती है आजकल !!!) भाषा का परमोच्च सौंदर्य तो तभी है जब शब्द से ही भाव-बोध हो जाय। इसके लिए कवि के कानों को अत्यंत ही सेंजिटिव होना वांछनीय है। प्रत्येक शब्द की ध्वनि उसके समीप प्रत्येक क्षण गूँजती रहनी चाहिए अन्यथा कवि का अभीप्सित प्रभाव असंभव है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है इसमें दो राएँ नहीं हो सकतीं कि पंत जी हिन्दी के सर्वोत्तम शब्द शिल्पी हैं। गली में पड़ी हुई खड़ी बोली को सुसज्जित करने का काम इन्हीं का है। 'पल्लव' के छयालीस पृष्ठों के 'प्रवेश' में उन्होंने अभिव्यंजना पद्धति, भाषालंकारादि का विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार "**भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह विश्व की हृत्तंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।**"[1] और पंत का प्रत्येक शब्द, जैसा कि हम आगे देखेंगे, नादमय है, चित्रमय है।

साहित्य दर्पणकार के अनुसार भाषा के तीन गुण हैं :—

"गुणामाधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।"

भाषा का माधुर्य वह गुण है जिससे मन द्रवीभूत हो जाय, आह्लादमय हो जाय :—

"आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम्।"

पंत में माधुर्य की क्या कमी ? :—

"कनक छाया में जबकि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार;
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !"

× × ×

"सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि
गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल
खस-खस पड़ता उर से अंचल।

1 'पल्लव' का प्रवेश, पृष्ठ १५

"क्या समीर ने लिपट विटप को
किया पल्लवों ने रोमांचित ?
अँगड़ाई ले बाँह खोलना
सिखलाया डाली को कंपित !"

भाषा का दूसरा गुण 'ओज' है जो माधुर्य का नितांत विपरीत है। इसमें श्रुति-कटु शब्दों का प्रयोग किया जाता है ताकि जीवितों की शिराओं का रक्त वेग से बह निकले, मृतकों पर का कफन दूर हो जाय। पंत जी, जैसा कि अन्यत्र बताया गया है, कोमल कल्पना के कवि हैं। प्रसाद एवं निराला के समान उनकी रचनाओं में विराटत्व के प्रति कुछ कम ही रुझान पाई जाती है। फिर भी 'ओज' की जहाँ आवश्यकता है, प्रचुर है। 'परिवर्तन' के इन शब्दों में कितना ओज घोल दिया है:—

"अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर !
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल !"

आइए, ज़रा बादलों की भी तो सुन लें:—

"दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इन्द्र धनुष की कर टंकार,
विकट पटल से निर्घोषित हो,
बरसा विशिखों-सा आसार।"

भाषा का तीसरा गुण 'प्रसाद' है जिसकी उपस्थिति शीघ्र ही अर्थ-बोध कराती है:—

"अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्ये गुणे नैव परिग्रहः
अर्थ व्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थे समर्पण।"

पंत ने कविताएँ बालकों के लिए नहीं रचीं। अतः उनमें प्रसाद गुण की कमी ही रही है; पर हाँ, युगवाणी-ग्राम्या काल में तथा यत्र-तत्र परवर्ती रचनाओं में धरती की भाषा का प्रयोग किया है। 'ग्राम्या' में तो भाषा गाँव की ही है जिसमें यत्र-तत्र ग्राम्य दोषों की भी झाँकियाँ हो जाती हैं। 'वीणा' की रचनाओं में तो खैर प्रसाद गुण आता ही—

"धनिक ! तुम्हारे यहाँ भिखारी
भिक्षा लेने आया है,
नहीं इसलिए—तुम थाली भर
मणि-मुक्ता दोगे सुंदर !
किंतु इसलिए आया है प्रिय !
वह तुमने अपनाया है,
स्नेह-सहित तुम जो कुछ दोगे,
वह कृतार्थ होगा सत्वर।"

× × ×

"माँ ! अल्मोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानंद,"
तब मग में मखमल बिछवाया
दीपावलि की विपुल अमंद;"

'युगवाणी-ग्राम्या' में तो प्रसाद गुण सम्पन्न रचनाएँ ढेरों है, आगे के संग्रहों मे भी कमी नहीं है। 'स्वर्ण किरण' की 'स्वर्णोदय' कविता की प्रसाद-गुण सम्पन्न पंक्तियाँ देखिए, लगता है 'वचन' फिल्म की विख्यात 'चंदा मामा दूर के' गीत की हैं :—

"लोरी गाओ, लोरी गाओ
फूल डोल में उसे झुलाओ;
निंदिया की चल, परियो आओ
मुन्ना का मुख चूम सुलाओ।"

'अतिमा' की विख्यात रचना 'आ धरती कितना देती है' भी ऐसी ही है। कुछ अंश उद्धरणीय हैं :—

"मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोये थे
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ बनेंगे;
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी
और फूल फल कर, मैं मोटा सेठ बनूंगा।"

खैर ये तो 'ग़लत बीज बोए', सही बीज तो और तरह के होते है :—

"मैंने कौतूहलवश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिए मिट्टी के नीचे
रज के अंचल में मणि माणिक बाँध दिए हों।
देखा आँगन के कोने में कई नवागत
छोटे छोटे छाता ताने खड़े हुए हैं।

छाता कहूँ, कि विजय पताकाएँ जीवन की
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्ही, प्यारी।"

ऐसी पंक्तियाँ लिख सकने पर भी पंत ऐसा लिखते है कि सरलता से समझ की पेटी में नही बाँधे जा सकते।

कविवर पंत से पूर्व हिन्दी-काव्य ब्रजभाषा में बातचीत करता आया था। उन्होंने सर्वप्रथम भाव के साथ-साथ भाषा मे भी क्रांति मचा दी। तीन चार सौ वर्षो की वृद्धा ब्रजभाषा को उन्होंने अधिक दिन जीवित रखने की दवा नहीं पिलाई। इतना ही नहीं के० एम० मुशी के 'भगवान परशुराम' उपन्यास के नायक की भाँति उसका मुँह जल्दी ही कफ़न से ढंकने के लिए जी तोड़ कोशिश की। भविष्य के लिए उन्हें खड़ी बोली ही उपयुक्त लगी। उन्हें सोचने और प्रकट करने का एक ही स्वर अभीप्सित था।[1] पर खड़ी बोली तो उस समय तुतलाहट की अवस्था मे थी। कितने साहस के साथ पंत ने उसका पालन करके सहस्रों के बीच भाषण दे सकने योग्य बनाया। **"खड़ी बोली को काव्योचित भाषा देने का एकच्छत्र श्रेय पंत को है। यदि पंत का कवि नहीं आया होता तो आज छायावाद की कविता अपनी कोमल अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा को अपना लेती। ब्रजभाषा ने मध्ययुग से लेकर अभी कल तक जो कल-कोमल प्रांजलता मनोहर चित्र-चारुता प्राप्त की थी उसे पंत ने कुल बीस-पच्चीस वर्षों के काव्य-जीवन में ही खड़ी बोली को दे दिया। भाषा के परिवर्तन में पंत का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि ब्रजभाषा को मधुर बनाने के लिए अढ़ाई-तीन सौ वर्षों के बीच में एक के बाद सैकड़ों कवियों का सहयोग मिलता गया किंतु पंत को अकेले ही खड़ी बोली का सौंदर्य-विन्यास करना पड़ा है। उन्होंने खड़ी बोली को जो व्यक्तित्व दे दिया है उसका अतिक्रमण कर आज भी कोई आगे नहीं बढ़ सका है।"**[2] भावुकता एवं चिंतन की भाव-भट्टी मे इन्होंने खडी बोली को गलाकर पूर्णतया अपने अनुरूप बना लिया है। **"जिस प्रकार चुवाने से पहिले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचे मे ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताव में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।"**[3] और बहुत दिनों तक उन्होंने ऐसा ही किया। एक शब्द की नब्ज टटोलना पंत जैसे कर्मठ एवं धैर्यवान व्यक्ति का ही काम था—" **'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कंपन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिरना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' में जैसे किरणों में**

---

१. देखिए 'पंत की रचनाएँ' अध्याय का 'पल्लव' उपशीर्षक।
२. पं० शांतिप्रिय द्विवेदी 'पंत और महादेवी' नामक निबन्ध में।
३. 'पल्लव' का 'प्रवेश', पृष्ठ ४५-४६

चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल कल्लोल से ऊँची ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है, जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार बार नीचे गिर पड़ता हो, अँगरेजी का 'विंग' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र हो। इसी तरह 'टच' में जो छूने की कोमलता है वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श जैसे प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर, अचानक हृदय में रोमांच हो उठता है उसका चित्र है; ब्रजभाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'जाँय' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार आनंद का स्फुरन होता है। अँग्रेजी के Air में एक प्रकार की Transparency मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमलता, शीतलता का अनुभव होता है जैसे खस की टट्टी से छनकर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है; यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचता, फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है; 'प्रभंजन' Wind की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती, 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर सा जाता है, 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"[1] स्पष्ट है कवि ने प्रत्येक शब्द को सुनार के बाटों से तौला है। ऐसा बड़ा शब्द-शिल्पी हिन्दी में दूसरा नहीं। काव्य, चित्र एवं संगीत यदि कही एक साथ ही देखना हो तो पंत की रचनाएँ उलटिए। मधुमयी राका में पी की ओर जाती हुई यौवना का चित्र देखिए :—

> "अरे, वह प्रथम मिलन अज्ञात !
> विकंपित उर मृदु, पुलकित गात
> सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
> जड़ित-पद नमित पलक दृग पात
> लाज की छुई-मुई सी म्लान,
> प्रिये प्राणों की प्राण !"

'उत्तरा' की चंद्रमुखी निहारिए :—

> "सद्यस्नात, कृश शुभ्र पीत अंग,
> कुंद मुकुल स्मित, गुंजित पट रंग,
> सौम्य सलज, चिर प्रकृति अंक में
> पली, मोहनी मुग्धा जन मन।"

---

१. 'पल्लव' का 'प्रवेश', पृष्ठ १६-२०

उधर 'ग्राम्या' की ग्राम युवती देखिए कितनी क्षिप्र गति से इठलाती हुई चली रही है :—

"सरकाती-पट,
खिसकाती लट,—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट !"

× × ×

वह मग में रुक
मानो कुछ झुक
आँचल सँभालती, फेर नयन मुख,
पा प्रिय पद की आहट;"

युवती की गति को कैसे छोटे छोटे शब्दों में बाँध दिया है। पंत का शब्द-चयन वस्तुतः इतने मार्के का होता है कि चित्र तो अपने आप बन जाता है। संध्या के झुटपुटे में बाँसो के झुरमुट में हो रहे खग रव को उन्होंने इन शब्दों मे उतारा है :—

"बाँसों का झुरमुट,
संध्या का झुरपुट,
है चहक रही चिड़ियाँ
टी वी टी टुट् टुट् ।"

नीम की आवाज़ जानते हो तो यह पंक्तियाँ गुनगुना लीजिए—

'झूम झूम झुक झुक कर,
भीम नीम तरु निर्भर,
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् ! सर् !
चर् - मर् !!"

शब्द-योजना ही नहीं कवि की वर्ण-योजना भी हिन्दी के लिए एक सर्वथा अनूठी देन है। उनके शब्द हँसते, रोते, दौड़ते, चलने से मना ही नहीं करते अपितु पाठक के समक्ष अपना रंग, रूप, स्पर्श, गन्ध आदि भी प्रस्तुत कर देते हैं। आमों के बौर को कवि ने कितना गहरा रँगा है—

"रुपहले सुनहले आम्र बौर
नीले पीले और ताम्र-भौंर"

हम और आप श्याम रंग को दबाकर उसके कोमल-अकोमल गुण को नहीं बता सकते, पर पंत जी तो जानते है। उनके लिए 'श्याम' कठोर है. 'श्यामल' मृदुल—

"मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल,
नव नील, नील, कोमल कोमल,
छाया तरुवन में तम श्यामल।"

यह पवितयाँ कितनी आह्लादमयी है—

"हरित पीत छायाएँ सुंदर
लोट रहीं धरती की रज पर,
स्वर्णारुण आभाएँ झर झर,
लुटा रहीं अम्बर का वैभव।"

पर यह पक्तियां नहीं, रक्त की वाटिकाएँ हैं—

"श्रांत, रक्त से लथपथ जन मन
मनुज रक्त से पंकिल युग पथ।"

'नौका विहार' की लहरें, लगता है, हमे बिना छुए लौटेंगी ही नहीं—

"चाँदी के साँपों सी रलमल,
नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिच तरल-सरल।'

पंत जी को 'स्वर्ण' रंग बडा प्रिय है। 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' ही इसके गवाह है। वैसे भी उनको रचनाओं मे जितना यह रंग बिखरा पड़ा है, उतना अन्य नहीं। उदाहरण के लिए यह पंक्तियाँ ली जा सकती है—

"आज भरो धरती का प्रांगण
नव प्रभात के स्वर्ण हास्य से।'

× × ×

"रजत झाँझ-से बजते तरुदल
स्वर्णिम निर्झर झरते कल-कल।"

× × ×

"फिर बसंत की आत्मा आई
आम्र मौर में गूँथ स्वर्ण कण
किंशुक को कर ज्वाल वसन तन।"

× × ×

"गूँज रहा अंबर में मधुरव
स्वर्णोदय नव, सर्वोदय नव।"

× × ×

"युग स्वप्नों की साँझ सुनहली
बिखरी भू पर टूट ज्यों कली।"

'ग्राम्या' की 'ग्रामश्री' में तो आपको प्रत्येक रंग के साथ रूप, गंध, स्पर्श—

हर चीज मिल जायगी। रचना काफी लम्बी है पर उसका अधिकांश बिना उद्धृत किए मन नहीं मानता—

"फैली खेतों में दूर तलक
मखमल सी कोमल हरियाली,
लिपटी जिसमें रवि की किरणें,
चाँदी की सी उजली जाली।
तिनकों के हरे हरे तन पर
हिल हरित रुधिर है रहा झलक,
श्यामल भू तल पर झुका हुआ
नभ का चिर निर्मल नील फलक।"

× × ×

"अरहर सनई की सोने की
किंकिड़ियाँ हैं शोभा शाली।
उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध,
फूली सरसों पीली पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली।"

इन पंक्तियों में कवि ने मखमली, सफ़ेद, हरा, लाल, गहरा लाल, काला, सुनहरी, पीला, नीला रंग प्रयुक्त किए हैं। हो सकता है कोई रग छूट गया हो। अतः-

"रँग रँग के फूलों में रिलमिल,
हँस रही संखिया मटर खड़ी।"

× × ×

"फिरती हैं रँग रँग की तितली
रँग रँग के फूलों पर सुंदर,
फूले फिरते हों फूल स्वयं
उड़ उड़ वृन्तों से वृन्तों पर।"

रहे-बचे रंग इस 'रँग-रँग' में आ गए। गंध के लिए ऊपर 'तैलाक्त' आया ही है, इसके अतिरिक्त आगे की पंक्तियों से भी गंध निकल रही है—महके कटहल, लहलह पालक, महमह धनिया आदि। 'सन्ध्या के बाद' में तो ऐसा लगता है रंग के सब डिब्बे लुढ़क पड़े हैं—

"सिमटा पंख साँझ की लाली
जा बैठी अब तरु शिखरों पर,
ताम्र वर्ण पीपल से शतमुख

झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर।"

× × ×

"वृहद् जिह्म विश्लथ केंचुल सा
लगता चितकबरा गंगाजल।
धूपछांह के रँग की रेती
अनिल ऊर्मियों से सर्पांकित,
नील लहरियों में लोड़ित
पीला जल रजत जलद से बिंबित।"

× × ×

"दूर, तमस रेखाओं सी,
उड़ते पंखों की गति सी चित्रित,
सोन खगों की पाँति
आर्द्र ध्वनि से नीरव नभ करती मुखरित।"

टीन की ढिबरी तो आपने परचूनिए की दूकान पर देखी ही होगी--

"धुआँ अधिक देती है
टिन की ढबरी, कम करती उजियाला।'

भाषा पंत की प्रारम्भ से ही संस्कृत बहुल खडी बोली रही है, 'ग्राम्या' की ओर आकर उन्होंने बोलचाल की भाषा में भी बोला, पर बाद मे वे पुनः उसी ऊँचाई पर पहुँच गए जहाँ संस्कृत के वाक्य के वाक्य प्राप्य हे--

"ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि, करे उन दोनों का संचालन।
श्रवण गगन में गूंज रहे स्वर
ॐ क्रतो स्मर कृतं क्रतो स्मर
सृजन हुताशन को हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर।"

× × ×

"शरद-चंद्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृङ्गों पर विजड़ित--
हिम की परियों का अंचल उड़
जग को कर लेता था परिवृत।"

पर इन संस्कृत शब्दों के साथ-साथ उन्होंने देशज, ग्राम्य, ब्रजभाषा और उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया है; और इस सीमा तक कि 'ग्राम्यत्व' दोष भी आ गया है।

खौस, अँवियों, चित्तियों, धोरे, दीठ, दई, फलक, तमाशा, फुर्तीले, अक्सर, मज़-लिस आदि ऐसे ही शब्द हैं। इतना ही क्यों उन्होंने अँग्रेजी शब्दों को भी अपने कक्ष में घुस आने दिया है। 'ग्राम्या' की 'सौन्दर्य कला' में अँग्रेजी फूल देखिए--

"रंग रंग के खिले फ्लॉक्स वरवीना, छपे डियांथस,
नत दृग ऐण्टिह्विनम, तितली सी पेंजी पापी सालस;
हंसमुख कैंडीटफ्ट रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिलीं स्वीट पी, एवंडस, फिलवास्केट औ' ब्लूबैटम।

× × ×

जोसेफ़ हिल सनबर्स्ट पीत, स्वर्णिम लेडी हेलिडन,
ग्रैंड मुगल रिचमंड, विकच ब्लैक प्रिंस नील लोहित तन।"

अग्रेजी शब्दों का अनुवाद भी पाया जाता है इनमें, यथा Innoce भी Eye के लिए 'अजान नयन'। लिंग-निर्णय भी उनका अपना है। आकारांत, ईकारान्त का उनके समीप कोई अर्थ नहीं है। जो शब्द परुष और महान है वह उनके लिए पुंल्लिग एवं जिसमे कोमलता, लावण्य एवं लघुत्व है वह स्त्रीलिंग। उनके लिए लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य होना चाहिए। वे लिखते है, **"मैंने अपनी रचनाओं में, कारणवश, व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ तोड़ी हैं। मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग, पुंल्लिग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारांत, इकारान्त के अनुसार ही पुंल्लिग अथवा स्त्रीलिंग हो गये है, और जिनमें लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक-ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित सी हो जाती है। वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षेत्रों में बने हुए होते है उनमे भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है।"**[1] 'प्रभात' और इसके पर्यायवाची शब्दों को उन्होंने स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त किया है—

"रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान
पल्लवों की यह सजल प्रभात।"

उनके अनुसार इसे पुंल्लिग मानने से इसका **"सारा जादू, स्वर्ण श्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नहीं उतरता।"** बूंद, कंपन आदि उभय लिंगों में प्रयुक्त किए गए हैं—बड़ी बूँद पुंल्लिग, छोटी स्त्रीलिंग। इसी प्रकार जहाँ जोर-जोर से धड़कने का भाव हो वहाँ पुंल्लिग, जहाँ हलकी सी हृदय की कम्पन हो वहाँ स्त्रीलिंग।

अन्यत्र भी उनका व्याकरण अपना है जैसे 'है' का दूरीकरण (यद्यपि बाद

---

१. 'पल्लव' का विज्ञापन, पृष्ठ ख–ग

में चला नहीं)—"**खड़ी बोली की कविता में क्रियाओं और विशेषतः संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए, नहीं तो कविता का स्वर** (Expression) **शिथिल पड़ जाता और खड़ी बोली की कविता में यह दोष सबसे अधिक मात्रा में विराजमान है। 'है' को तो, जहाँ तक हो सके, निकाल देना चाहिए, इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है। इस दो सींगों वाले हरिण को 'आश्रम-मृग' समझ इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं, यह कनक-मृग है, इसे कविता की पंच-वटी के पास फटकने न देना ही अच्छा है। समासों का भी अधिक प्रयोग अच्छा नहीं लगता, समास का काम तो व्यर्थ बढ़कर इधर-उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दों की टहनियों को काट छाँटकर उन्हें सुंदर आकार-प्रकार देने तथा उनकी मांसल हरीतिमा में छिपे हुए भावों के पुष्पों को व्यक्त भरकर देने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ढूंठी तथा श्री-हीन हो जाती है।**"[1] कोई नियम न होने से, स्वेच्छा का स्वर मानने के ही कारण, उन्हें स्वयं अपना ही विरोध करना पड़ा था। प्रारम्भ में उनके लिए 'कंपन' एवं 'दंशन' स्त्रीलिंग थे जो बाद में पुल्लिंग बन गए। इस लिंग विपर्यय में भी पंतत्व है, पर इनसे भी महान कार्य जो उन्होंने किया है वह है शब्दों का मनमाना अर्थ एवं नए शब्दों का निर्माण। उदाहरण के लिए 'मनोज' शब्द लिया जा सकता है जिसका प्रचलित अर्थ 'काम-देव है पर उन्होंने इसका अर्थ 'मन से उत्पन्न' किया है। युगांत' में लम्बे-पैने नखों का शक्तिवाचक शब्द 'नखर' है—

> "**प्रखर नखर नव जीवन**
> **की लालसा गड़ाकर**
> **छिन्न भिन्न कर दे गत**
> **युग के शव को, दुर्धर।**"

प्यार में पंत जी 'तितली' को 'तिली' कहते है—

> "**प्रिय तिली! फूल-सी ही फूली**
> **तुम किस सुख में हो रही डोल?**"

स्वप्निल, वातुल, फेनिल, श्यामल आदि ऐसे शब्द है जो सर्वप्रथम आदरणीय श्री पंत जी की ही अटारी पर बैठे मिले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंत की भाषा कोमल से कोमल एवं परुष से परुष भाव की अभिव्यंजना करने में सक्षम है। नगेन्द्र जी के शब्दों में, "**जिस खड़ी बोली का रूप अनस्थिरता के वाग्जाल से निकालकर हरिश्चंद्र ने स्थिर किया जिसको द्विवेदीय स्कूल ने परिमार्जित एवं निमंत्रित किया और कविवर मैथिली-शरण ने जिसे प्रांजल और मधुर बनाकर काव्योचित रूप दिया, उसकी समस्त शक्तियों को विकसित एवं गूढ़ निधियों को प्रकाशित करने का श्रेय पंत जी को ही**

१. **'पल्लव' का प्रवेश, पृष्ठ ४३-४४**

ही आक्रांत कर ले और ज्येष्ठ बंधुओं का स्वत्व ही छिन जाय। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि यह अतुकांतता हिन्दी में पश्चिम से आई। अतः यह भी छायावाद, रहस्यवाद आदि की भाँति हेय है।—"**इधर कुछ दिनों से बिना छंद** (Metre) **के पद्य भी—बिना तुकान्त के होना तो बहुत ध्यान देने की बात नहीं—निराला जी ऐसी नई रंगत के कवियों में देखने में आते है। यह अमेरिका के एक कवि वाल्ट ह्विटमैन** (Walt Whitman) **की नकल है जो पहले बंगला में थोड़ी बहुत आई। बिना किसी प्रकार की छन्दोव्यवस्था की अपनी पहली रचना** Leaves of Grass **उसने सन् १८५५ ई० में प्रकाशित की। उसके उपरांत और भी बहुत-सी रचनाएँ इस प्रकार की मुक्त या स्वच्छंद पंक्तियों में निकली।**"[1] वे अपने कथन की साक्षी में श्री ए० बी० डि मिले का कथन उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार अतुकांत छंद यह है—A chaos of impressions, thought or feelings thrown together without rhyme which matters little, without metre which matters more, without reason which matters much" कुछ भी हो हमारे आलोच्य कवि ने इस शिशु को भी अपना स्नेह प्रचुर मात्रा में प्रदान किया। कविवर 'रत्नाकर' को भी यह रबड़-छंदता नहीं भाई—"**छंदों में मनमानी करने से उनकी लय में विकृति आ जाती है। यह विकृति हृदय की उस आशा को, जो एक चरण सुनकर लग जाती है, भंग कर देती है। यह बात आनंदप्रद कदापि नहीं हो सकती। इसी कारण महाकाव्यों तथा अन्य प्रबंध काव्यों में प्रायः एक सर्ग एक ही प्रकार के छंद में लिखे जाते है। इससे वाक्यों के बहाव में कुछ सौष्ठव आ जाता है जो कि काव्यानंद में सहायक होता है क्योंकि चित्र एक प्रकार की लय और ध्वनि में, बिना वैषम्य झकोरों के एकरस बहता चला जाता है। आजकल पद्य लेखक अपने छंदों मे यथेच्छ मात्राओं अथवा वर्णों की भरती कर देते है और सब चरणों को बराबर रखना भी आवश्यक नहीं समझते। × × × छंद की लय की त्रुटि तथा मात्राओं के न्यूनाधिक को आजकल के रचयिता छंदों को गाकर सँभाल लेना चाहते है—यह बात मेरी समझ में प्रशंसनीय नहीं। अतुकान्त कविता का प्रणयन भी इधर खड़ी बोली में अधिकता से होने लगा है। यह प्रथा यद्यपि निंद्य नहीं तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता हैं कि यदि कवि से बन पड़े तो उसकी सतुकांत कविता में कुछ अधिक आनंद अवश्य होगा।**"[2] उन्होंने तो जीवन पर्यंत कवित्त, सवैया, रोला लिखकर मतिराम, पद्माकर, सेनापति आदि से टक्कर ली, उन्हें भला छन्दों के सम्बन्ध में यह कामाचार प्रवर्तन कैसे रुचता; अतः पद्य में भी उन्होंने कहा :—

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ७७३

२. अ० भा० हिं० सा० सम्मेलन के सभापति पद से।

"जात खड़ी बोली पै कोऊ भयौ दिवानौ।
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन मैं है अरुझानौ।।
अनुप्रास-प्रतिबंध कठिन जिनकें उर माहीं।
त्यागि पद्य-प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं ?[१]"

अन्तिम पक्ति मे छन्दहीन कवियों को कैसा कचोटा है 'रत्नाकर' ने। शुक्लजी ने भी 'इतिहास' में ही नहीं 'काव्य मे रहस्यवाद' में भी तुकांत शिशु का ही चुम्बन लिया है; "छंद द्वारा होता यह है कि इन ढाँचों की मिति और इनके योग की मिति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती है जिससे वह भीतर ही भीतर पढ़ने वाले के साथ उसकी नाद की गति में योग देता चलता है। गाना सुनने के शौकीन गवैये के मुँह से किसी पद के पूरे होते होते उसे किस प्रकार रोक लेते हैं, यह बराबर देखा जाता है। लय तथा लय के योग की मिति बिल्कुल अज्ञात रहने से यह बात नहीं हो सकती। जब तक कवि आप ही गाकर अपनी लय का ठीक-ठीक पता न देगा तब तक पाठक अपने मन में उसका ठीक-ठीक अनुसरण न कर सकेगा। अतः छंद के बंधन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound Impulce) का प्रत्यक्ष ह्रास ही दिखाई पड़ता है।" पर पंत जी ने जो अतुकांत कविता लिखी है उसमें नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता का ह्रास हमें तो अप्रत्यक्ष भी नहीं दिखाई पडता। 'ग्रन्थि' की आरंभिक पंक्तियाँ देखी जा सकती है :—

"एक पल जग-सिंधु का गंभीर गीत
आज पुलकित-वीचियों में डूब जा !
हम प्रणय की सदय-मुख छवि देख लें
लोल लहरों पर कलापति ने लिखी !"

हाँ, कहीं कहीं ऐसी पंक्तियाँ भी है जो गद्य से आगे नहीं जाती :—

"जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को तब यत्न से
बैठकर मैंने निकट ही शांत हो
विनत वाणी में प्रिया से यों कहा—"

इतना मानना पड़ेगा कि इस क्षेत्र में वे निराला जी से पीछे हैं—बहुत पीछे। उनकी यह धारणा कि उन्होंने ही सर्वप्रथम 'छंद के बन्ध' खोले, बकौल निरालाजी, गलत है। पत जी ने लिखा, "सन् १९२१ में जब 'उच्छ्वास' मेरी कृश लेखनी से यक्ष के कनक-वलय की तरह निकल पड़ा था तब निगम जी ने 'सम्मेलन पत्रिका' में उस 'बीसवीं सदी के महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, 'इसकी

---

१. समालोचनादर्श—पृष्ठ ६२

भाषा रँगीली, छंद स्वच्छंद हैं।' पर उस वामन ने, जो लोकप्रियता के रात-दिन घटने-बढ़ने वाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, अपनी टाँगें फैला दीं कि आज सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश हिन्दी में सर्वत्र स्वच्छंद छंद ही की छटा दिखाई पड़ती है।" निराला जी ने 'पंत और पल्लव' में इस पर खूब चुटकी ली है। पर पंत जैसे सरगम की मंजरी में आशियाँ बनाने वाले कवि की आत्मा छंद के बंधन में ही अपने को विशेष उन्मुक्त पाती है। उन्होंने ब्रजभाषा का मोह छोड़कर उसके छंदों से भी विशेष नाता तो नहीं रक्खा। पर हाँ, मात्रिक शिशुओं को उन्होंने अपने काव्य-कुंज की सैर अवश्य कराई है। इतना ही नहीं उन्होंने उन छंदों में— रोला, सखी, रूपमाला, पीयूषवर्षण आदि में—स्वेच्छानुसार घटा-बढ़ी भी कर ली है। छंद के विषय में उनके विचार द्रष्टव्य हैं, "**कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कंपन; कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिनके बिना वह अपनी ही बंधन-हीनता में प्रवाह खो बैठती है—उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कंपन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।**"[1] और उनके गीत ऐसी ही भाषा मे हैं जो सरिता के निर्बन्ध प्रवाह मे डूब, नाद करते हुए बढ़े चले जाते हैं। मौन निमंत्रण, छाया, परिवर्तन, नौका विहार, ग्राम युवती आदि उत्कृष्टतम रचनाओं का बहुत कुछ रहस्य उनके छंदत्व में निहित है।

नई भाषा, नए शब्द के साथ-साथ पंत ने भावानुसार नव छंद-निर्माण भी किया है। भाव-क्षिप्रता के लिए छंद-क्षिप्रता भी देखिए :—

> **"प्रेमी याचक,**
> **जब उसे ताकता है इकटक,**
> **उल्लसित**
> **चकित,**
> **वह लेती मूंद पलक पट।"**

कार्य इतना शीघ्र समाप्त हो रहा है कि छंद की पंक्ति भी बड़ी शीघ्र समाप्त हो जाती है—एक शब्द के उपरांत ही। इसी प्रकार निम्न पंक्तियाँ—

> **"जल छलकाती,**
> **रस बरसाती,**
> **बलखाती वह घर को जाती,**
> **सिर पर घट**

---

१. 'पल्लव' का प्रवेश—पृष्ठ २४

उर पर घर पट।"

मात्राओं के घटाने-बढ़ाने में भी कवि ने चुस्ती दिखाई है जिससे पठन मे एक-रूपता (Monotony) नहीं आने पाती :—

"हाय ! मेरा जीवन
प्रेम औ आँसू के कण !
आह मेरा अक्षय धन,
अपरमित सुन्दरता औ' मनन।"

भाषा और छंद का वर्णन तो हो चुका, अब अलंकारों को लीजिए। क्या काव्य में अलंकारों की उपस्थिति उतनी ही अनिवार्य है जितनी भाषा की अथवा छन्द की ? क्या जिस प्रकार भाषा बिना काव्य-रचना असंभव है, छन्द बिना असंभव-सी, तो क्या अलंकार बिना काव्य-रचना संभव नहीं ? चन्द्रालोककार कहेगा—जी हाँ, अलंकार उतने ही आवश्यक हैं जितनी अन्य कोई वस्तु। यदि आप हठ करते जाएँगे कि अलंकार व्यर्थ है तभी वह कहेगा :—

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थानलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णामनलंकृती।।"

पर वर्तमान का कवि इसे मानने को कतई तैयार नहीं। आज का युग तो समस्याप्रधान युग है। किसी भी प्रकार हो समस्या सुलझानी चाहिए, पाठक तक कवि के भाव एवं विचार पहुँच भर जाना चाहिए—किसी प्रकार। यदि वे अलंकार विहीन ही प्रभावशाली हैं तब उन्हें अलंकार भार से दाब देना कहाँ तक समीचीन है ? इसीलिए पंत ने अपनी वाणी से प्रार्थना की थी :—

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी ! मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?"

पर काव्य सौंदर्य तो अन्यत्र ही है—न इसमें कि काव्य-युवती को अलंकारों से इतना लाद दिया जाय कि वह बेचारी चल ही न सके, और इसमें ही कि चाहे वह रूठी पड़ी रहे पर उसे एक भी अलंकार न देने की क़सम खा ली जाय। रूप-यौवन युक्त युवती के लिए भी दो-चार हलके फुलके अलंकार भी हों तो उसके सौंदर्य में अभिवृद्धि ही होगी, ह्रास नहीं। यही हाल काव्य का है। उसकी आभा-भिवृद्धि का अलंकार सहज साधन है। पर जब यह साधन साध्य बन जाता है, जब अलंकार वलपूर्वक पहना दिए जाते हैं तो वहीं भद्दापन आ जाता है। रीतिकालीन कवियों के अलंकार साधन न रहकर साध्य ही बन गए थे। वर्तमानयुगीन कवि इसके विरुद्ध हुंकार उठा। **"रीतिकाल में जब भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में ही फिट करने के लिए बुनी जाने लगी और भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बँध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो गई तो आधुनिक युग अलंकारों के प्रति एक विद्रोह लेकर खड़ा हुआ परन्तु काव्य देश**

से उनका सर्वथा निष्कासन तो असंभव था, हाँ, उनकी पोजीशन अवश्य घटा दी गई और···उनको कुछ विदेशी दीक्षा-शिक्षा देकर संस्कृत करने का भी सफल प्रयत्न किया गया।" बाबू गुलाबराय को इसीलिए लिखना पड़ा था, "अलंकार नितांत बाहरी नहीं हैं जो जब चाहे पहन लिए जाँय या उतार कर रख दिए जाँय। वे कवि या लेखक के हृदय के उत्साह के साथ बँधे हुए हैं। हमारी भाषा की बहुत कुछ सम्पन्नता अलंकारों पर ही निर्भर है। वे महात्मा करण के कवच और कुण्डलों की भाँति सहज होकर ही शक्ति द्योतक बनते हैं।"[1] प्रसिद्ध अभिव्यंजनावादी क्रोचे (Croce) एवं अलंकार शास्त्री लाला भगवानदीन 'दीन' को भी ऐसा ही लिखना पड़ा था।

तो शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले इन अलंकारों का पत जी ने पूर्ण बहिष्कार तो नही किया पर उनको अधिक लिफ्ट भी नही दिया। "वे केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं वरन् भाव अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक हाव भाव हैं।"[2] वे आगे भी लिखते है, "जिस प्रकार संगीत मे सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती है, और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा व्यंजना आदि विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपह्नुति, गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाने—जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतंत्र रूप से उड़ूँ—वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वयं अभीप्सित-विषय बन जाते है, वहाँ बाजे के सब स्वरों के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्त्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता; काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती, कविता साम्राज्ञी के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर-रक्षक तथा राज कर्मचारी, शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संग्रहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"[3] ब्रजभाषा के कवित्त-सवैये उन्हें इसीलिए नापसंद है—"इस अनि-

---

१. 'सिद्धान्त और अध्ययन'—पृष्ठ ४
२. 'पल्लव' का 'प्रवेश'—पृष्ठ २२
३. 'पल्लव' का 'प्रवेश'—पृष्ठ २२-२३

यंत्रित छंद में नायक-नायिकाओं तथा अलंकारों का विज्ञापन मात्र देने में केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नहीं हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का विकास तो रुक गया, उसकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ी। कवित्त-छंद में जब तक अलंकारों की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं, अपनी कुल-वधू की तरह दो-एक नये आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नहीं हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र-भूषण ऐंठ लेने पर ही कहीं अपने साथ रसालाप करने देता है।"[1] ब्रजभाषा-काव्य के अलंकार बाहुल्य पर वे और भी लिखते हैं—"**अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार ब्रजभाषा के अतिरिक्त और कहीं देखने को नहीं मिलता है। स्वस्थ वाणी में जो एक सौंदर्य मिलता है उसका कहीं पता ही नहीं। उस 'सूधे पाँव न धरि सकत शोभा ही के भार' वाली ब्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अंगों मे कलम की नोक से संस्कृत अरुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप-रंग कहीं दीख ही नहीं पड़ता।"**[2]

अलंकार, पंत जी के काव्य के, सहज गुण हैं जो बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के आए हैं—कुछ भारतीय हाट से, कुछ विलायती बाजार से।

भारतीय अलंकारों में जो सबसे अधिक बिकता है वह है उपमालंकार। यदि कोई कवि अपने काव्य में एक भी अलंकार न आने देने की कसम खा ले तब भी यह तो कहीं न कहीं से, चुपके से, प्रवेश पा ही लेता है। राजशेखर ने इसे, इसीलिए, अलंकारों का शिरोरत्न, कवियों की माता एवं सर्वस्व कहा है। पंत मे इस अलंकार का भूरि प्रयोग हुआ है पर प्राचीन कवियों एवं उनके प्रयोग में एक बहुत मोटी लकीर खिंच जाती है। जहाँ प्राचीन कवि एक ही उपमान को सर्वत्र प्रयोग में लाते थे वहाँ आधुनिक कवि प्रत्येक अवसर पर एक नया ही उपमान लाता है। 'छाया' के उपमान, चाहे चमत्कार मात्र ही सही, सर्वथा नवीन हैं। जरा निहारिए:—

> **"तरुवर के छायानुवाद-सी,**
> **उपमा-सी भावुकता-सी।**
> **अविदित भावाकुल भाषा-सी,**
> **कटी-छँटी नव कविता सी।"**

यत्र-तत्र यह नवीन उपमान दुर्बोध भी हो गए हैं:—

---

१. **'पल्लव' का 'प्रवेश'—पृष्ठ ३०-३१**
२. **'पल्लव' का 'प्रवेश'—पृष्ठ २१-२२**

"गूढ़ कल्पना-सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय सी।
ऋषियों के गंभीर हृदय सी
बच्चों के तुतले भय सी।"

यहाँ 'भय' का अर्थ 'भय का कारण' एवं 'तुतले भय' का अर्थ 'तुतली बोली में व्यंजित भय' है जो एकाएक समझ लेना कठिन है। कहीं-कहीं तो उपमाओं की बाढ़-सी आ गई है जिससे व्यंजना तीव्र से तीव्रतर हो गई है :—

"जब अचानक अनिल की छबि में पला,
एक जल-कण जलद शिशु सा पलक सर पर
आ पड़ा सुकुमारता का गान सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।"

प्रस्तुत मूर्त के लिए अप्रस्तुत अमूर्त देखना हो तो यह पंक्तियाँ लीजिए :—

"धीरे-धीरे संशय से उठ,
बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह से,
फैल लालसा से निशि-भोर।"

इन पंक्तियों के उपमान वास्तव में अनुपम हैं। संशय का धीरे उठना, बदनामी का शीघ्र फैलना, मोह का उमड़ना तथा लालसा का फैलना ऐसे सत्य हैं जिनका सानी नहीं है। आकांक्षाएँ भी बडी ऊँची उठा करती हैं :—

"गिरिवर के उर से उठ-उठ कर,
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर।"

पर पंत जी में कहीं-कहीं ऐसी पंक्तियाँ भी हैं जो उपमालंकार से प्रारंभ होकर रूपकालंकार में पर्यवसित होती हैं एवं कभी-कभी इसका विलोम भी होता है।

रूपकालकार भी पंत जी का प्राचीन कवियों से सर्वथा भिन्न है। मध्य अथवा रीतिकालीन कवियों का रूपक बहुत दूर तक चलता था, वर्तमान कवियों में यह बात नहीं पाई जाती।

'विरोधाभास' का प्रसिद्ध उदाहरण 'ग्रंथि' में ही है जिसमें प्रेम की विचित्र रीति दर्शाई गई है :—

"जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा।"

अंतिम पंक्ति 'लोकोक्ति' का भी उदाहरण है। निम्नलिखित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं :—

"गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण।"

यहाँ हमे अनायास ही प्रसाद जी की चिर नूतन पंक्तियाँ स्मरण हो आती है:–

"शीतल ज्वाला जलती है,
इंधन होता दृगजल का।"

अनुप्रासालंकार वैसे तो बिखरा ही पड़ा है पर इन पंक्तियों में विशेष है :—

"सुरांगना, सपदा, सुराम्रों से संसेवित।"

अथवा—

"तरणि के ही संग तरल तरंग में,
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।"

'तरणि' मे यमक भी है।

क्रमालंकार भी 'ग्रथि' मे प्राप्य है :—

"निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।"

'क्रमालकार' के साथ साथ ही इसमें श्लेष, उपमा, अनुप्रास भी है। 'युगवाणी' की एक यह पंक्ति भी द्रष्टव्य है :—

"रवि शशि से निरम मधुरतर कर,"

'उल्लेख' का उदाहरण लीजिए :—

'विंदु में थीं तुम सिंधु अनंत
एक स्वर में समस्त संगीत,
एक कलिका में अखिल वसंत
धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत।"

'संदेह' पंत जी का बड़ा प्रिय आभूषण है। कुछ पंक्तियाँ निहारिए :—

'निद्रा के नस अलसित वन में
यह क्या भावी की छाया,
दृग-पलकों मे विचर रही, या
वन्य देवियों की माया।"

पुनरुक्ति, स्मरण, दृष्टांत, प्रतीप, अत्युक्ति, तद्गुण आदि अन्य भारतीय अलंकार भी पाए जाते है। इनके अतिरिक्त इन्होंने पश्चिम से भी कतिपय अलंकारों का आयात किया जिनमें तीन मुख्य हैं—मानवीकरण (Personification), ध्वन्यर्थ व्यंजना (Onomatopoeia) एवं विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet), सच पूछा जाय तो छायावादी कवियो में अधिकतर सौंदर्य वहीं है जहाँ

इन अलंकारों की उपस्थिति है।

अचेतन (Inanimate) पर चेतन (Animate) का आरोप ही मानवीकरण है। यह अलंकार प्रसाद, पंत एवं निराला तीनों में राशि-राशि बिखरा पड़ा है। पंत जी का गंगा का विख्यात मानवीकरण देखिए :--

"शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनंत, नीरव भू-तल !
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रांत, क्लांत, निश्चल !"

चाँदनी का मानवीकरण तो अत्यन्त विख्यात है। पर प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी अध्याय में मानवीकरण पर सम्यक् विचार किया जायगा। अतः यहाँ उस पर अधिक ध्यान देना न तो वांछनीय ही है और न समीचीन ही।

पश्चिम से लिया गया दूसरा अलंकार है ध्वन्यर्थ व्यंजना (Onomatopoeia)। यह अलंकार पत जी में ही सर्वाधिक प्राप्य है। जहाँ शब्द के पठन मात्र से अर्थ बोध हो जाय वहाँ अलंकार होता है। यह मध्ययुगीन एवं रीतियुगीन कवियों में भी खूब पाया जाता है। तुलसी तो इसके धनी थे। अतः इसे पश्चिम से आया हुआ समझना नितांत भ्रम है। हाँ, नामकरण की आवश्यकता संभवतः पश्चिम को देखकर ही हुई। पंत ने लिखा है, "**काव्य-संगीत के मूल तत्त्व स्वर हैं न कि व्यंजन और भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण एवं उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है।**" फलतः स्वरों के प्राधान्य से वे अपनी भावाभिव्यंजना में प्रभावोत्पादन की महान शक्ति भर देते हैं। जिस समय बादल अपना राग सुनाते हैं, पाठक थर्रा उठता है :—

"कभी अचानक भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क कड़क जब हँसते हम सब
थर्रा उठता है संसार।"

परिवर्तन की निष्ठुरता प्रदर्शित करने के लिए निष्ठुर शब्दों का ही आह्वान किया गया है।--

"अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।
मृत्यु तुम्हारा गरल, दंत, कँचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर,

वक्र कुण्डल
दिङ् मण्डल।"

पर कठोर शब्दावली यत्र-तत्र ही है अन्यथा पंत तो कोमल स्वर के गायक हैं। पपीहे, झींगुर आदि के स्वर इन शब्दों में सदा के लिए बाँध दिए गए हैं :—

"पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गंभीर घहर।
बिंदुओं की छनती छनकार
दादुरों के दुहरे स्वर!"

'झंझा में नीम' की क्या दशा हो जाती है :—

"झूम झूम झुक झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् सर्
चर् मर्।"

और चिड़ियों की टी-वी-टुट्-टुट् तो भुलाए नहीं भूलती। उधर धोबियों का नृत्य तो घर बैठे ही 'सुना' जा सकता है :—

"उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ' हुड़क घुड़ुकता ढिम ढिम ढिन,
मंजीर खनकते खिन खिन खिन"
× × ×
"लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
थिरक गुजरिया हरती मन!"

तीसरा अलंकार है 'विशेषण विपर्यय' (Transferred Epithet)। अभिधा वृत्यनुसार विशेषण को अपने स्थान से हटाकर कहीं दूर रख देना ही, विशेषण का विपर्यय कर देना ही, विशेषण विपर्यय है। यह लक्षणावृत्ति पर आधारित है। 'नौका बिहार' की ये प्रारंभिक पंक्तियाँ देखिए :—

"शांत, स्निग्ध ज्योत्स्ना उज्ज्वल!
अपलक, अनंत, नीरव भूतल!"

ज्योत्स्ना शांत नहीं, रात्रि में मनुष्यादि शांत है। इसी प्रकार भूतल नीरव नहीं अपितु भूतलवासी शांत हैं। इसी प्रकार यह पंक्तियाँ भी निहारिए :—

"दीनता के ही विकंपित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से !"

पात्र दीन का होता है, दीनता का नहीं; इसी प्रकार पात्र ही विकंपित है, दीन नहीं। विशेषण के इस विपर्यय से दीनता में घनत्व आ गया है।

इस प्रकार पंत जी ने अपनी काव्य-वनिता को प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के अलंकारों से सुशोभित किया, पर इतना नहीं कि उनके भार से उसके पैर ही न उठें, कटि प्रदेश ही टूट जाय, कोमल कलाइयाँ ही झुक जायें।

सर्वांशतः पंत जी की अभिव्यंजना-पद्धति अत्यन्त ही सबल, अनूठी, मोहक, आह्लादमयी, प्रसन्न एवं औचित्यपूर्ण है।

: ४ :

पंत जी का प्रकृति-चित्रण

[आदि मानव के नयन उघारते ही प्रकृति रानी ने अपने अंचल की छाया उस पर कर दी होगी। किलकारी मारकर दौडता हुआ मानव जिधर भी पहुँच जाता होगा, प्रकृति अपनी दोनो बाँहें खोले उसके स्वागतार्थ खडी मिलती होगी। किरण-कुमारी के शब्दों में, "**प्रारंभ से (ही) प्रकृति अपनी ममतामयी क्रोड़ में मानव को धारण करती और उसका पोषण करती आई है। वायु व्यंजन करता, निर्झरों का कल-कल शब्द संगीत सुनाता, नक्षत्रगण गुपचुप कहानियाँ कहते, कलिका चुटकी बजाकर पास बुलातीं, चंद्रिका खिलखिलाकर हँस पड़ती, सूर्य अपनी ज्योति विकीर्ण कर देता और शीतल मंद सुगंधित समीर नवीन स्फूर्ति का संचार कर देता है।**"[१] प्रकृति-धात्री का यह ममतामय अंचल मनु की संतान के लिए सदैव फैला रहा। तनिक बड़ा होने पर मानव उदर-पोषण के धागों पर नर्तन कर निकला फिर भी "**कल-कल निनादिनी सरिताएँ, परी जगत की कथाएँ कहते हुए सितारे, अज्ञात लोक का रहस्य बतलाता हुआ चाँद, सुनहरे तीर बरसाती हुई जयलक्ष्मी-सी उषा, दिवसावसान का लोहित गगन, मेघ भरा आसमान से परी के समान धीरे-धीरे उतरती हुई संध्या रानी, बहार की बयार, हठीली कलियों को मनाता हुआ नशीला भ्रमर, कहीं दूर टीले पर खड़ा हुआ पारिजात का वृक्ष कवि से अनदेखे नहीं रह सके।**"[२]

प्रकृति-क्षेत्र सीमातीत है। धरती पर जो कुछ भी नैसर्गिक, अपने में विशुद्ध है, स्वाभाविक है मानव के अपने व्यापारों से भिन्न है--चाहे चेतन हो यथा पशु, पक्षी, कीट, पतंग अथवा अचेतन यथा उषा, सूर्य, चंद्र, पर्वत, जलधि, सरिता आदि--वही प्रकृति है। कौन सा ऐसा स्थान है जहाँ यह वस्तुएँ नहीं ? आज के कृत्रिम युग में भी एक तनिक से भू-खण्ड में भी, मानव-प्रकृति का आमूल विनाश करने में अक्षम सिद्ध हुआ है। कवि ने भी प्रकृति को देखा और उसके हृदय पर उन दृश्यों के सौंदर्य की लकीर खिच गई। फिर क्या था ? उस लकीर की प्रतिक्रिया को वह कागज पर बिखेरने लग गया।]

प्रकृति आदिम काल से ही काव्य में सस्वर होती आई है--हाँ, कभी न्यून

---

१. **हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—पृष्ठ ११**

२. **प्रसाद और पंत का तुलनात्मक विवेचन—पृष्ठ २१६**

कभी अधिक। हिन्दी का आदि युग शूल-युग था, फूल-युग नहीं। असिधाराओं की झनझनाहट का युग था, (मधुप की गुनगुनाहट का नहीं।) फलतः बहुत समय तक प्रकृति बिसरी रही। भक्ति युग मे महारथियों को कई अवसर मिले प्रकृति-चित्र गढ़ने के। सगुणवादियों ने ब्रज की लता-पता-गोवरधन कालिंदी-कूल-कदब की डालों आदि के मनोहारी चित्र खींचे। उधर अयोध्या में भी सरयू बहती दिखाई पड़ गई, चित्रकूट नज़र पड गया, दण्डक अरण्य अनदेखा नहीं रह सका। इधर निर्गुणवादियों ने भी अपनी उलटबाँसियों की वशी प्रकृति के रंध्रों से ही फूँकी। उन्हें कभी पानी मे लगी हुई आग, पेड़ पर चढ़ती हुई मछलियाँ, सरोवर मे नाल तक डूबी हुई कुम्हलाती हुई कमलिनी, तो कभी मानसरोवर में तैरते हुए हंस, आठ दलो वाला खिला हुआ कमल अपनी ओर इशारा दे देकर बुलाने लगे। रीतिकालीन कवि तो मानव एवं उसके कृत्रिम व्यापारों का ही गायक था मनुष्येतर प्राणी अथवा अचेतन वस्तुओं का नहीं। लंक की लचक, कंचुकी की कसमकस एवं हृदय की कसक उसके ध्यान को घर की दहलीज नही लाँघने देती थी। पर प्रकृति को पूर्णतया बिसार देना भी तो कृतघ्नता थी। फलतः आचार्यों ने अपनी माँ की स्तुति तो की पर बँधे हुए शब्दों में। उनके लिए कहीं भी देश, नगर, वन, भूत, प्रेत, रवि, शशि का वर्णन ही प्रकृति चित्रण हो जाता। इतना ही क्यों, अपने शिष्यों को अनुभूति के अभाव मे बिलखता देखकर आचार्य ने पुकार लगाई कि वे जहाँ चाहें वनों का वर्णन कर दें——इसमें कोई जोखिम नहीं। पर उन बेचारों ने वन भी तो देखा हो, अतः सहमे रहे। आचार्य को उन पर बड़ी दया आई और वे वन की वस्तुएँ गिना निकले :—

"सुरभी, इभ, वन जीव बहु भूत, प्रेत भय भीर।
भिल्ल भवन, बल्ली, विटप दल वरनहु मतिधीर।।"

शिष्य गण अतीव प्रसन्न हुए। अतः जहाँ कहीं भी उन्हें अवसर मिला (यदि नहीं मिला तो बेअवसर ही) वे वन-वर्णन कर देते जिसमें उपर्युक्त वस्तुएँ गिना दी जाती——प्रकृति चित्रण हो जाता। केशव ने, इसीलिए, विश्वामित्र के 'विचित्र वन' में 'एला ललित लवंग संग पुगीफल' उगा दिए। बेचारे वृक्षों में इतनी दम कहाँ कि वे आचार्य के समक्ष न उगते।

१८५७ के स्वातन्त्र्य युद्ध के अनंतर सामंतवादी गढ़ की नीव हिलती देखकर कविगण उसमें से निकल भागे——कही ऐसा न हो कि उन्ही पर गिर पड़े। बाहर जनता की चिल्लाहट सुनी उन्होंने। उन्होंने भी आँसू बहाए तथा प्रकृति के चित्रों की भी साज सज्जा की। भारतेन्दु ने अलंकार लाने से ही सही——तरनि-तनूजा एवं भागीरथ-सुता के अच्छे चित्र खींचे। पर उन दिनों सबसे सुन्दर प्रकृति-चित्र पं० श्रीधर पाठक ने बनाए जो निजी आँखों द्वारा देखे हुए थे। 'काश्मीर सुषमा' नामक उनकी कविता हिन्दी की प्रकृति-चित्रण संबंधी रचनाओं में विशेष महत्त्व रखती है। चार सुपरिचित पंक्तियाँ लिखे बिना जी नहीं मानता :—

"प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति,
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति।
विमल अंबु सर मुकुरन महँ मुख बिंब निहारति,
अपनी छवि पै मोहि आपु ही तन-मन वारति।"

. प्रकृति का पल-पल परिवर्तित वेश कवि ने स्वयं निहारा है।

द्विवेदी युगीन कवियों के हृदय अपनी माँ के प्रति अपने पितामहों के निष्ठुर व्यवहार से अत्यत दुखी हुए। आचार्य द्विवेदी ने कवियों को फटकारा—**"चींटी से लेकर हाथी पर्यंत, जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं।"** फलतः हरिऔध, गुप्त, त्रिपाठी, गोपालशरणसिंह आदि प्रकृति की तसवीरें खींचने लगे। पर सबसे अधिक प्रकृति-प्रेमी शुक्ल जी थे। उनके समान, उनसे पूर्व, समूचे हिन्दी जगत में प्रकृति से इतना अधिक प्रेम किसी ने नहीं किया। जिस प्रकार रूसो ने 'रिटर्न टु नेचर' की आवाज लगाई थी उसी प्रकार आचार्य ने 'आमंत्रण' दिया :—

"कविता वह हाथ उठाए हुए,
चलिए कविवृन्द बुलाती वहाँ।"

इससे अधिक प्रकृति-प्रेम और क्या हो सकता है—**"मैं मिर्जापुर की एक-एक झाड़ी, एक-एक टीले से परिचित हूँ, उसके टीलों पर चढ़ा हूँ, बचपन मेरा इन्हीं झाड़ियों की छाया में पला है। × × × लोगों की अंतिम कामना रहती है कि वे काशी में मोक्ष लाभ करें किंतु मेरी अंतिम कामना यही है कि अंतिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य-खण्ड हो जो मेरे मन में, भीतर बाहर बसा हुआ है।"** स्पष्टतः उनका प्रकृति-चित्रण अपने काल के सब कवियों से भिन्न है—पाठक जी के चित्रण से भी भिन्न। पाठक जी का प्रकृति-चित्रण मानो गमले में उगी हुई प्रकृति का चित्रण है, शुक्ल जी का मीलों फैले हुए अरण्य-खंड की रमणीयता का। उन्होंने अपनी भावनाओं को अपने ही हृदय मे रखकर 'प्रकृति का अपना स्वरूप भी है' कहकर उसे ज्यों का त्यों तसवीर में जड़ दिया। हिन्दी पाठक के समक्ष सैकड़ों वर्ष पूर्व का संस्कृत साहित्य का प्रकृति-चित्रण कौंध गया।

हिन्दी गाँव के हिन्दू घर की भाषा में रोटी के संबंध में एक रत्न है—**"जली तो जली पर सिकी खूब।"** बीसवीं सदी के पूर्व के कवियों से प्रकृति की बात ऐसी ही हुई। वह बेचारी अपने भाग्य को कोसती हुई चुपचाप पड़ी रही। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि छायावादी कवि इस उपेक्षिता उर्मिला की ओर दौड़ा और इतना दौड़ा कि उसने किसी और की ओर देखना उचित ही न समझा। ऐसा लगा कि कवि को इस विशाल जग में प्रकृति के अतिरिक्त कुछ दीख ही नहीं रहा है। उसने जीवन

का उद्‌गीथ प्रकृति के ही बीच किया। रंगिणि द्वारा प्रथम रश्मि का आना जानकर कवि चकित रह गया। वसंत में घाटी को उड़ते देखकर कवि ने अपनी अँगुली दाँतों तले दबा ली। दाएँ जाने पर उसने हँसती कली को निहारा, बाएँ जाने पर रोती शबनम की पीठ थपथपाई, सामने से चिड़ियों की टी-वी-टी-टुट्-टुट् एवं पीछे से नीम की सर् सर् मर् मर् उसके कर्ण कुहर भरने लगी। प्रकृति के इस आँगन में अकेले पंत को ही निमंत्रण नहीं मिला, मुकुटधर पाण्डे, प्रसाद, निराला, महादेवी इत्यादि न जाने कितनों ने उनके साथ प्रकृति द्वारा परोसी हुई थाली मे भोजन किया।

पंत का शैशव प्रकृति के कुंज मे ही खेला था। प्रकृति ने ही उन्हें उँगली पकड़ कर चलना सिखाया, उसी ने उनके यौवन मे गुदगुदी पैदा की। अतः पंत का स्वर भी प्रकृति निहारकर फूट उठा। इस विषय में 'आधुनिक कवि' के पर्यालोचन में, प्रारंभ में ही वे बहुत दूर तक लिखते हैं। उसका कुछ अंश यदि यहाँ उद्‌धृत कर दिया जाय तो अनुचित नहीं—**"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घण्टों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूंदकर लेटता था, तो वह दृश्य चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमता था। × × × और यह शायद पर्वत प्रांत के वातावरण का ही प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह निश्चय रूप से, अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौंदर्य, स्वप्न और कल्पना जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया।**

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

आदि 'वीणा' के चित्रण प्रकृति के प्रति मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति-निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है। प्राकृतिक चित्रणों में प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौंदर्य मिलाकर उन्हें ऐन्द्रिक चित्रण बनाया है, कभी-कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौंदर्य का लिबास पहना दिया है। × × × प्रकृति को मैंने अपने से अलग सजीव सत्ता रखने वाली, नारी के रूप में देखा है। × × × कभी मैंने जब प्रकृति से तादात्म्य किया, तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारंभिक रचनाओं में इस प्रकार के हिपनोटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे। साधारणतया, प्रकृति के सुंदर रूप ने ही मुझे अधिक लुभाया है; पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित

किया है। × × × यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है, यदि मैं संघर्ष प्रिय अथवा निराशावादी होता तो Nature Red in Tooth and Claw वाला कठोर रूप, जो जीवन विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खींचता। × × × 'वीणा' और 'पल्लव' विशेषतः मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौंदर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी।"[1] दूसरे शब्दों मे, "जब मैंने पहले लिखना प्रारंभ किया था तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक सौंदर्य का वातावरण ही ऐसी सजीव वस्तुएँ थीं जिनसे मुझे प्रेरणा मिलती थी। और किसी ऐसी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नहीं जो मेरे मन को आकर्षित कर मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो। मेरे चारों ओर की सामाजिक परिस्थितियाँ तब एक प्रकार से निश्चल तथा निष्क्रिय थीं, उनके चिर-परिचित पदार्थ में मेरे किशोर मन के लिए किसी प्रकार का आकर्षण नहीं था। फलतः मेरी प्रारंभिक रचनाएँ प्रकृति की लीला-भूमि में लिखी गई हैं। पर्वत प्रान्त की प्रकृति के नित्य-नवीन तथा परिवर्तनशील रूप से अनुप्राणित होकर मैंने स्वतः ही जैसे किसी अंतर्विवशता के कारण पक्षियों तथा मनुष्यों के स्वर में स्वर मिलाकर, जिन्हें तब मैंने 'विहग-बालिका' तथा 'मधुबाला' कहकर संबोधन किया है, पहले पहल गुनगुना सीखा है।"[2] यही बात अन्यत्र हम यूँ पढते है—"जब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था, प्रकृति मेरे हृदय में मीठी स्वप्नों से भरी हुई चुप्पी अंकित कर चुकी थी, जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले शब्दों में बज उठी थी। मेरे मन में बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था और सर्वोपरि हिमालय का आकाश चुंबी सौंदर्य मेरे हृदय पर एक महान् संदेश की तरह एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह एक व्यापक विराट् आनंद, सौंदर्य तथा तपःपूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था।"[3] इन लम्बे-लम्बे उद्धरणों का प्रयोजन केवल इतना ही है कि पंत को कवि बनाने का समस्त श्रेय उनकी जन्मभूमि की प्रकृति को ही है, अन्य किसी को नहीं। थोड़े से शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रकृति पंत जी की काव्य-पट्टी ही नहीं पुजाई, कई अध्याय भी पढ़ाए। अस्तु—

साधारणतया साहित्य में प्रकृति चित्रण की षट् विधाएँ हैं:—

(१) आलम्बन रूप में,

---

१. 'आधुनिक कवि' का 'पर्यालोचन'—पृष्ठ ७-८-९

२. 'मैं और मेरी कला'

३. प्रतीक–संख्या ४

(२) उद्दीपन रूप में,
(३) अलंकार रूप में,
(४) उपदेश ग्रहण के रूप में,
(५) मानवीकरण के रूप में,
(६) ईश्वर सम्बन्धी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में।

हमे पंत जी के प्रकृति-चित्रण पर इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत विचार करना है।

(१) **आलंबन रूप में**—आचार्य शुक्ल ने 'नई धारा' पर विचार करते समय लिखा—**"अनंत रूपों से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओं का अनंत प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयों को उसके भीतर नाना भावों की व्यंजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावों की सचमुच व्यंजना कर रहे हैं, उन्हें छोड़ अपने परिचित अंतःकोटर की वासनाओं से उन्हें छोपकर एक झूठे खेलवाड़ के ही अन्तर्गत होगा। यह बात मैं स्वतन्त्र दृश्य-विधान के सम्बन्ध में कह रहा हूँ, जिसमें दृश्य ही प्रस्तुत विषय होता है। जहाँ किसी पूर्व प्रतिष्ठित भाव की प्रबलता व्यंजित करने के लिए ही प्रकृति के क्षेत्र से वस्तु-व्यापार लिए जायँगे, वहाँ तो वे उस भाव में रँगे दिखाई ही देंगे। पद्माकर की विरहिणी का यह कहना कि 'किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की डारन पै डोरत अँगारन के पुंज हैं' ठीक ही है पर बराबर इसी रूप में प्रकृति को देखना दृष्टि को संकुचित करना है। अपने ही सुख-दुःख के रँग में रँगकर प्रकृति को देखा तो क्या देखा? मनुष्य ही सब कुछ नहीं है। प्रकृति का अपना रूप भी है।"**[1] आचार्य शुक्ल प्रकृति के इस 'अपने रूप' के बड़े हामी थे। उनका प्रकृति प्रेम तो अगाध था ही पर इसके साथ ही साथ वे यह भी चाहते थे कि कविगण उसे सदैव अपनी भावनाओं से रंजित करके न देखें। वे कहकर ही नहीं रह गए, उन्होंने स्वयं जिन कविताओं की रचना की है उनमें प्रकृति का आलंबन रूप ही मुख्य है। प्रश्न उठता है क्या कवि फोटोग्रैफी का कैमरा है जो प्राकृतिक दृश्यों का ज्यों का त्यों फोटो ले दे। क्या उसके मन का कोयल बीच में ही नहीं कूक उठेगा? इनी-गिनी पक्तियों को छोड़कर हिन्दी के समूचे साहित्य में प्राकृतिक दृश्य अपने शुद्ध रूप में नहीं आए। संस्कृत तक में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति जैसे कतिपय कवि पुंगवों को छोड़कर प्रकृति अपने शुद्ध रूप में नहीं आई। वन, नदी, वर्षा आदि कवियों की निर्मित बालाओं को उद्दीप्त ही करते आए हैं। आचार्य शुक्ल ने अन्यत्र भी लिखा है—**"वन, पर्वत, नदी, निर्झर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि जगत की नाना वस्तुओं का वर्णन आलम्बन और उद्दीपन दोनों की दृष्टि से होता आ रहा है। प्रबंध काव्यों में बहुत से प्राकृतिक वर्णन आलंबन रूप में ही है। 'कुमारसंभव' के आरंभ का**

---

१. **रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५९५**

हिमालय वर्णन और मेघदूत के पूर्व मेघ का नाना प्रदेश वर्णन उद्दीपन दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। इन वर्णनों में कवि ही आश्रय है जो प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अपने अनुराग के कारण उनका रूप विकृत करके अपने सामने भी रखता है और पाठकों के भी।[1] सारांश यह है कि शुक्ल जी प्रकृति के आलंबन रूप को ही विशिष्ट मानते हैं।

पंत निसर्गत: 'सुन्दरम्' के कवि हैं। बादमें उन्हें 'असुन्दर' भी 'सुदर' लगे, पर अधिक दिन नहीं। प्राकृतिक दृश्यों में, इसीलिए, उनका मन वहीं अधिक रमता है जहाँ सौंदर्य बिखरा हो। और जब मन रमेगा तो अपना झीना आवरण भी उस पर अवश्य डाल देगा। फलस्वरूप वह चित्रण उद्दीपन रूप में हो जायगा। फिर भी कवि ने प्रकृति को शुद्ध रूप में भी देखा है। 'पर्वत प्रदेश में पावस' ऐसी ही रचना है :—

"पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार,
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल।"

कोहरा छा जाने के अनन्तर तो उस प्रदेश का कहना ही क्या—लगता है तालाब जल उठा हो :—

"रव शेष रह गए हैं निर्झर।
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!
धँस गए धरा में समय शाल!
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल!"

बाँसों के झुरमुट का चित्र भी ज्यों का त्यों है :—

"बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट।"
है चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट्-टुट्।"

'ग्राम्या' की 'ग्रामश्री' लम्बी रचना में तो प्रकृति के यथातथ्य चित्रण का सौंदर्य राशि-राशि बिखरा पड़ा है :—

---

१. काव्य में रहस्यवाद

"अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गईं आम्र तरु की डाली,
झर रहे ढाँक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली।
महके कटहल, मुकुलित जामुन,
जंगल में झरबेरी झूली,
फूले आड़ू, नींबू, दाड़िम,
आलू गोभी बैंगन मूली।"

× × ×

लहलह पालक महमह धनिया
लौकी औ' सेम फली फैली,
मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचों की बड़ी हरी थैली।"

इसके अतिरिक्त इस चार पन्नों की कविता में ऐसे न जाने कितने चित्र हैं। 'ग्राम्या' में ही एक अँग्रेजी रचना है—जी हाँ, चौंकिए मत, अँग्रेजी कविता—उसका शीर्षक है 'सौंदर्य कला'। कतिपय पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं :—

"रंग रंग के खिले फ्लाक्स वर्बीना, छपे डियांथस,
नत दृग एन्टिह्विनम तितली सी पेंजी पॉपी सालस;
हँसमुख कैंडीटफ्ट रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिली स्वीट पी,—एवंडंस, फिलवास्केट औ' ब्लू बैटम।

× × ×

जोसेफ़ हिल सनबर्स्ट पीत, स्वर्णिम लेडी हेलिंडन,
ग्रैंड मुगल रिचमण्ड; विकच ब्लैक प्रिंस नील लोहित तन।
फेअरी क्वीन, मारगेरेट मृदु, वीलियम शीन चिर पाटल।"

इस पर टिप्पणी करते हुए पं० विनयमोहन शर्मा लिखते हैं—"सौंदर्य कला में भी कवि फ्लाक्स, बरबीना, डियांथस, पेंजी, पॉपी, सालस, ब्ल्यूबैटम आदि विदेशी पुष्पों की क्यारी में फूलों के नाम मात्र गिनाकर आत्मचिंतन की अवस्था में पहुँच जाता है। हम यह नहीं समझ सके कि 'ग्राम्या' में जहाँ भारतीय ग्राम-जीवन को प्रस्तुत करने का संकल्प किया गया है, विदेशी फूलों के वर्णन में किस सौंदर्य-कला का उद्घाटन हुआ है? उनका क्या प्रयोजन है? अनेक नागरिक भी इन फूलों के नाम और गुणों से परिचित हैं, उनकी विशेषता ढूँढ़ने के लिए उन्हें विशिष्ट कोषों को देखने की आवश्यकता है।"[1] प्रभाकर माचवे भी इन्हें 'पोचा के कैटलाग' की भाँति नीरस पंक्तियाँ बताते हैं। नाम परिगणन मात्र की यह पद्धति

१. 'पंत की बहिर्मुखी साधना' नामक निबन्ध में।

'प्रियप्रवास' में सर्वाधिक है।

'गंगा की सतरंगी रेती' पर भी कवि की निगाह उठी है जहाँ की वस्तुओं के चित्रण में कवि ने अपने कूकते हृदय को यथासंभव दूर ही रक्खा है ? उसने अपनी आँखों के कैमरे का बटन दबा दिया, तसवीर तैयार :—

"अँगुली की कंघी से बगुले
कलँगी सँवारते हैं कोई।
तिरते जल में सुरखाव, पुलिन
पर मगरोही रहती सोई॥
डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक
धोती पीली चोंचे धोबिन।
उड़ अबाबील, टिटहरी, बया
चारा चुगते कर्दम, कृमि, तृन॥"

सारांश यह है कि 'सुंदरम्' पान के अथक कवि ने भी कई स्थलों पर सौंदर्य के अकथ भण्डार के चित्र सर्वथा वीतरागी होकर खींचे है।

(२) **उद्दीपन रूप में**—यह जीवन का सनातन एवं सार्वभौम सत्य है कि प्राणी को अपनी प्रसन्नता में जगत के आँसू भी हँसते प्रतीत होते है, तद्वत उसे अपने दुख में धरती की हर चीज आँसू बहाती दृष्टिगोचर होती है। भारतीय साहित्य में प्रकृति का जितना वर्णन उद्दीपन रूप में प्राप्य है उतना अन्य सब विधाओं में मिलाकर नहीं। आदिकाल से ही—वाल्मीकि से ही—कवि प्रकृति के साथ अपने हृदय का छोर बाँधता आया है। उसे हृदय की वाह, कली-कली को मुसकराता, चन्द्र को विहँसता देखती आई; गोपाल के बिना कढ़ी हुई आह, कुंजों को भी बैरिन मानती आई है। हिन्दी के शृंगार-युग में तो कवियों ने प्रकृति-बाला को केवल और केवल उद्दीपन के आँगन में ही नाचने की आज्ञा दी थी। लगता है, उनके लिए, अन्य सब आँगन टेढ़े थे। केशव की नायिका ने कहा :—

"फूल ना दिखाब सूल फूलत हैं हरि बिनु,
दूर कर बाला माला ब्याल सी लगति है।
चँवर चलाब जनि, बिजन डुलाव जनि,
'केसव' सुगंध-वायु बाय सी लगति है॥"

'करन' कवि भी क्यों चूकते, उन्होंने भी लिखा :—

"कंटकित होत गात विपिन-समाज देखि,
हरी हरी भूमि हेरि हियो लरजतु है।
ऐते पै करन धुनि परति मयूरन की,
चातक पुकारि देह ताप सरजतु है॥"

यह बात छोटे कवियों तक ही सीमित नहीं और न छोटे-छोटे पुरुषों तक ही।

तुलसी जैसे महाकवि एवं राम जैसे महापुरुष, जायसी जैसे कविपुंगव, सूर जैसे काव्य-सूर, प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित करने के लिए मजबूर हो गए। और होते भी क्यों न ? प्रकृति के अनन्य भक्त कविवर वर्ड्सवर्थ के अनुसार मानव एवं प्रकृति के हृदय एक ही सूत से तो बँधे हुए हैं। 'आँसू' रचना उद्दीपन विभावान्तर्गत सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ रचना है। जब कवि प्रसन्न होता है तो वात भी मधु मधुर लगती है :—

"डोलने लगी मधुर मधु वात,
हिला तृण व्रतति कुंज तरु पात।
डोलने लगी प्रिये ! मृदु वात
गुंज मधु गंध धूलि हिम गात।"

पर विरह में तो मनोहर प्राकृतिक दृश्य और भी जलाते हैं। जब कवि देखता है कि उपवन अपना यौवन मधुकर को फूलों के प्याले में भर-भर कर पिलाता है, नवोढ़ा बाल-लहर कूल पर रुक कर शीघ्र आगे सरक जाती है, चारों ओर मंजुल एव मधुर मिलन ही मिलन है, तो कवि के प्राण आकुल हो उठते हैं :—

"देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को।
नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर।
अकेली आकुलता सी प्राण,
कहीं तब करती मृदु आघात।
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।"

और तो और, बरसते रहने वाले जीवन को कवि पावस ऋतु समझ बैठता है :—

"मेरा पावस ऋतु-सा जीवन
मानस-सा उमड़ा अपार मन ;
गहरे, धुंधले, धुले साँवले,
मेघों से मेरे भरे नयन।"

वसंत अठखेलियाँ करता हुआ पात-पात को छेड़ रहा है, लगता है भौंरे पागल हो गए हैं, उधर कोकिल अपने पंचम स्वर से दिशाओं को भरे दे रही है तब वियोग

पूरित हृदय ? उसे तो यह सब और जलाए दे रहे हैं :—

"काली कोकिल सुलगा उर में
स्वरमयी वेदना का अँगार।
आया वसंत, घोषित दिगंत,
करती, भर पावक की पुकार।"

जलधरों की मस्ती अब और हूक भरे दे रही है, स्वर्णमयी संध्या ऐसी लग निकलती है जैसे जतुगृह जल उठा है :—

"धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल।
आज सोने का संध्या काल,
जल रहा जतुगृह सा विकराल।"

तथा—

"अरे अब जल जल नवल प्रवाल,
लगाते रोम रोम में ज्वाल।"
आज बौरे रे तरुण रसाल,
भौंर नम मँडरा गई सुवास।"

पर जब वातास कुछ और तरह की चल निकलती है तो कवि 'प्राणों की प्राण' का सतत सान्निध्य चाह उठता है। गृह काज में दत्तचित्त छविमयी से अनुनय कर निकलता है :—

"आज रहने दो यह गृह-काज
प्राण ! रहने दो यह गृह-काज
आज जाने कैसी वातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये, लालस-सालस वातास
जगा रोओं में सौ अभिलाष।"

'उत्तरा' की शरदागमन का उद्दीपनत्व देखिए :—

"आज मिलन को उर अति विह्वल
मानस में स्वप्नों का बादल
झर झर पड़ता, किन स्मृतियों में
सुलगा चिर विरहानल।"

सरांश यह है कि प्रकृति के उद्दीपन चित्रण में हृदय प्राकृतिक वस्तुओं पर इतना सघन रंग चढ़ा देता है कि उसके अपने रंग का नाम-निशान (Trace) भी नहीं रहता। उत्फुल्ल हृदय प्रकृति को सतरंगी धनु बना देता है। इसी प्रकार हूकता उर इन्द्रधनुष में भी कालिमा टटोलता है। आंगल कवि-आलोचक एस० टी०

कॉलरिज ने इसीलिए तो कहा था कि हम प्रकृति से वही पाते हैं जो उसे प्रदान करते हैं।

(३) **अलंकार रूप में** :—निसर्गतः मन सौंदर्य को अपना नायक बना लेता है। जहाँ कहीं उसे सौंदर्य-प्राप्ति की आशा होती है वहीं दौड़ जाता है। बालक के लिए पतंग में ही सौंदर्य निहित रहता है जिसके लिए वह दौड़ता ही जाता है—चाहे छत से गिर ही क्यों न पड़े। युवक सौंदर्य को हथेली में दाबने के लिए वृद्धों द्वारा दी गई तर्क की परिभाषा को आँधियों में उड़ा देते हैं और वृद्ध ?—आह ! किस प्रकार वे 'सुदरम्' की देहरी पर भाल पटकते रहते हैं—प्रवेश की सामर्थ्य उन बेचारों में कहाँ ? फिर कवि तो मानवों में मानव है, युवकों में युवक है, उसका हृदय करोड़ों हृदयों में अलग से अपनी सत्ता का उद्घोष करता हुआ सुना जा सकता है, सौंदर्य की दौड़ में क्या कोई उसका साथ दे सकता है ? और अपने काव्य में सौंदर्य लाने के लिए, रमणीयता लाने के लिए, वह अलंकारों की खोज में चल देता है। पर द्वार से निकलते ही उसे प्रकृति की विस्तृत वनस्थली दृष्टिगोचर हो निकलती है, उसकी काव्य-शकुंतला को अलंकृत करने के लिए वन-देवी स्वयमेव कवि-कुमार की ओर सरक आती है। कवि को फिर आगे की आवश्यकता ही क्या ? वह एकदम लौटकर अपने प्रिय पाठक को जता देता है :—

"क्षौमं केनचिदिन्दु पाण्डु रुणा मांगल्य मा विष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेद प्रतिद्वन्द्विभिः ॥"

—(अभिज्ञानशाकुंतलम् ४-७)

प्रकृति के लाड़िले पुत्र पंत का तो कहना ही क्या ? प्रकृति देवी ने उन्हें तो मुक्त हाथों से आभूषण दिए। उनके प्रथम संकलन की प्रथम पंक्तियों में ही प्रकृति ने उन्हें अपनी उंगली थमा दी है :—

"मधुबाला की मृदु-बोली-सी
तेरी वीणा की गुंजार
खिला कई कवि-कुल-कमलों को
सुरभि कर चुकी है संचार।"

'ग्रंथि' की 'वह' 'शशि-कला-सी एक बाला' थी जिसके मुख-कमल पर बैठे हुए नयन-खंजनों में बड़ा चेंज आ गया :—

"कमल पर जो चारु खंजन, प्रथम
पंख फड़फड़ाना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।"

प्रस्तुत पंक्तियाँ सचमुच अत्यन्त ही मोहक हैं। मुख को कमल एवं नेत्रों को खंजन कहना परंपरागत है पर खंजन को कमल पर आज तक किसी ने नहीं बिठाया। इतना ही क्यों किसी भले मानुस ने हमें यह भी नहीं बताया कि खंजन कितना भोलाभाला होता है पर ज्योंही ज़माने की हवा उसे छू देती है वह भी पंख फड़फड़ाना सीख लेता है और बहुत अच्छी तरह। फलतः मधुकर वेकली की सीमा में पहुँच जाता है। पंत का मन-मधुकर भी विकल हो गया। उनकी नयन-नौका भी सौंदर्य-आवर्त में डूब निकली :—

"लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़-सी सौंदर्य की
अधखुले सस्मित-गढ़ों में, सीप-से।
इन गढ़ों में—रूप के आवर्त-से—
घूम-फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण के सौंदर्य के?"

'आँसू' में पंत जी अपने जीवन का साम्य पावस ऋतु से करते हैं। अलंकार रूप में प्रकृति की यह तसवीर वस्तुतः बड़ी रंगीन बन गई :—

"मेरा पावस ऋतु-सा जीवन
मानस-सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन!
कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय,
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय।"

अंतिम दो पंक्तियों में प्रयुक्त उपमा हिन्दी जगत की अछूती उपमा है जिसका सौंदर्य अनुभव की वस्तु है, कहने सुनने का नहीं :—

"अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय।"

यह देखा जाता है कि कभी-कभी आकाश की असीम नीलिमा में पखेरू अपनी राह से भटक जाता है। बहुत प्रयास करने पर भी वह उसमें से नहीं निकल पाता। कवि ने, इसी दृश्य को निहारकर, मन को पखेरू बना लिया एवं उनकी आँखों को नीलाकाश :—

"तुम्हारी आँखों का आकाश,

सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान।"

संध्या समय दिनकर की प्रखर रश्मियाँ भी गुलाबी पड़ जाती हैं तथा ज्यों ज्यों अंधकार के डग बढ़ते ही आते हैं रश्मियों के सुनहले में नीलिमा बढ़ती जाती है। यह देखकर कवि को शीतकाल स्मरण हो आया जब सुघड़ नायिका के पतले, छोटे, स्वर्णिम ओंठ भी एक बार तो नीले पड ही जाते हैं। बस इसी साम्य को कवि ने कविता मे बाँध दिया :—

"गंगा के चल जल में निर्मल,
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण रेख सुंदर पड़ गई नील ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।"

कवि के मन में मनमोहक स्मृति रह रहकर कोंध जाती है। उधर आकाश में भी घन घिर-घिर कर विलीन हो जाते हैं। भला ऐसे समय को अनदेखा कैसे किया जा सकता है :—

"घिरती नीरव नयनों में
छाया छवियाँ मनमोहन।
फिर फिर विलीन होने को
ज्यों घिर-घिर उठते हों घन।"

इनके अतिरिक्त न जाने कितने स्थानों पर प्रकृति के अनगिन उपमानों को कवि ने लूटा है।

(४) **उपदेश ग्रहण के रूप में** :—कवि ने महँदी बटना प्रारंभ किया। कुछ क्षणों के अनन्तर उसने देखा कि उसकी गोरी हथेलियाँ लाल हो गई महँदी के रंग से। उसने निष्कर्ष निकाला कि संगति (और दुर्गति भी) अपना रंग छोड़ ही जाती है। वर्षा आई, मघा झकोरों के साथ बरस निकली। छोटे छोटे टीले दुखी हो निकले, उन पर की माटी कण कण होकर बह निकली पर गर्व से ललाट को उन्नत किए हुए भूधर के लिए जैसे कुछ हो ही नहीं रहा हो, वह सच पूछा जाय तो और भी दृढ़ हो गया। सही मानों का महात्मा भी प्रभु ध्यान में, इसी प्रकार, इतना निमग्न हो जाता है कि माया का महान से महान झंझा भी उसके समक्ष विचूर्ण हो जाता है। भागवतकार इसी निष्कर्ष को लेकर गा उठा :—

"जल स्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया।
अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥
सरिद्भिः संगतः सिंधुश्चुक्षुभे श्वसनोर्भिमान्।
अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा॥

गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षज चेतसः ।।"

—(श्रीमद्भागवत् १०।२०।१३ से १५)

महाकवि कालिदास ने निहारा कि सुमेरु पर्वत के शिखर को भी पदाक्रांत करने वाला चन्द्र जमीन से नीचे गिर पड़ता है; वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे:—

"अत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंश निष्ठा ।"

—(अभिज्ञानशाकुंतलम् ४-५)

महात्मा तुलसी ने तो प्राकृतिक व्यापारों के व्याज से न जाने कितने उपदेश दे डाले:—

"बरषहिं जलद भूमि नियराए।
जथा नवहिं बुध विद्या पाए ।।
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे ।
खल के बचन संत सहँ जैसे ।।
दामिनि दमक रही घन माहीं ।
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ।।"

पर अन्योक्ति द्वारा प्रकृति से उपदेश ग्रहण करने का सबसे क्लैसिकल उदाहरण बिहारी एवं युवक राजा जयसिंह का है। अपनी नव-परिणीता मोहिनी के चिकुर जाल में उनका मन इतना उलझ गया कि जन-कार्य पर लगा जैसे पूर्ण विराम सामने आया, दो पंक्तियाँ गुनगुना दीं :—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।
अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल ?"

बस ! निशाना अभीप्सित विंदु पर लगा। काव्य का, इसीलिए, एक प्रयोजन कांता सम्मत उपदेश देना भी कहा गया है—कान्ता सम्मितयोपदेश युजे ।

पंत, फिर दुहरा दूँ, सुन्दरम् के कवि हैं। वे कोई संत नहीं कि अपने पाठक को चलते फिरते उपदेश देते फिरें। उनमें ही क्यों वर्तमान युगीन किसी कवि में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। कलाकार तो सौंदर्य का उपासक है, वह अपनी कला को उपदेश का वाहन बनाकर सूली पर नहीं चढ़ाना चाहता। फिर भी यत्र-तत्र प्रकृति के कार्य-कलापों से कवि ने उपदेश लिया एवं दिया है। चींटी के व्यापारों का कवि पर अमिट प्रभाव पड़ा। उसकी कार्य निष्ठा देखकर उसे मनुष्य की निष्क्रियता याद आ जाती है। वह पूछ उठता है :—

"चींटी को देखो ?

× × ×

देखो ना किस भाँति,
काम करती वह सतत !

दिन भर में वह मीलों चलती
अथक, कार्य से कभी न टलती।"

सब का सार यह है :—

"चिर सक्रिय वह, नहीं स्थाणु !"

मनुष्य को स्थाणु देखकर पंत कह उठते हैं :—

"हा मानव !
देह तुम्हारे ही है, रे शव !
तन की चिंता में घुल निशदिन
देह मात्र रह गए,—दबा तिन !
प्राणि प्रवर .."

चींटी और मानव के इसी वैषम्य को देखकर पंत चिल्ला उठते हैं :—

"धिक्-मैथुन—आहार-यंत्र !"

कवि की निगाह हँसमुख प्रसून पर पड़ी। उसे लगा शायद यह दर्शक को हँसने का पाठ पढ़ाने के लिए ही वृन्त पर मुस्करा रहा है। इतना ही नहीं अपनी श्रेष्ठतम वस्तु—सौरभ—मुक्त हस्तों से विकीर्ण कर रहा है। मानव को भी, कवि ने कुसुम से सीखा, प्रसन्न रहना चाहिए एवं अपनी प्रिय से प्रिय, मूल्यवान से मूल्यवान वस्तु से भी जगत की भलाई करने से नहीं चूकना चाहिए—

"हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर भी तो हँस पाओ।
अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ।"

'गुंजन' की इसी रचना में ताराओं से उपदेश ग्रहण करता है :—

"कहती अपलक तारावलि,
अपनी आँखों का अनुभव,—
अवलोक आँख आँसू की
भर आती आँखें नीरव।"

पर सबसे बढ़िया उपदेश तो कवि लहर से ग्रहण करता है—और वह है लक्ष्य की मोहक आशा में सतत आगे बढ़ते चलना :—

"उठ-उठ लहरें कहतीं यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें।"

यहाँ हमें डा० शर्मा की 'समुद्र के किनारे' की दो पंक्तियाँ अनायास याद हो आती हैं :—

"पीछे हट कर सिर धुन कर भी
आगे बढ़ती है लहर-लहर।"[1]

पर पंत की श्रेष्ठतम रचना 'परिवर्तन' इस क्षेत्र में भी सर्वश्रेष्ठ है। कवि देखता है कि प्रकृति की कितनी सुघर वस्तुएँ भी एक न एक दिन धूल चूमने को विवश हो जाती हैं :—

"वही मधु ऋतु थी गुंजित डाल,
झुकी थी जो यौवन के भार।
अकिंचनता में निज तत्काल,
सिहर उठती जीवन है भार।
आज पावस नद के उद्गार,
काल के बनते चिह्न केराल
प्रात का सोने का संसार,
जला देती संध्या की ज्वाल।"

कवि ने और भी देखा :—

"विपुल मणि रत्नों का छवि जाल,
इन्द्रधनु की-सी छटा विशाल।
विभव की विद्युत जाल,
चमक छिप जाती है तत्काल।
मोतियाँ जड़ी ओस की डार,
हिला जाता चुपचाप बयार।"

कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यौवन क्षणिक है, सौंदर्य अस्थायी है, सुख चलायमान है, आनन्द अस्थिर है, परिवर्तन अवश्यंभावी है।

(५) **मानवीकरण रूप में**—काव्य में प्रकृति-चित्रण की पाँचवीं विधा उसका मानवीकरण है। आँग्ल काव्य में इसका चलन बहुत समय से है। आचार्य पी. सी. रैन (P. C. Wren) के अनुसार यह अलंकार वहाँ होता है जहाँ अचेतन वस्तुएँ एवं अमूर्त भावनाएँ इस प्रकार वर्णित की जाती हैं जैसे वे जीवित हों। जैसाकि पंत की अभिव्यंजन-पद्धति पर विचार करते समय कहा गया है, ध्वन्यर्थ व्यंजना (Onomatopoeia), विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) एवं मानवीकरण (Personification)—इन तीनों का आयात पश्चिम से हुआ है। पर इससे पूर्व भी भारत के कवि को यह बात आती थी कि वह बेजान वस्तु को जानदार वस्तु की भाँति चित्रित करे। महाकवि कालिदास के यक्ष ने अपने मत का सँदेसा अपनी प्राणों के प्राण तक पहुँचाने के लिए मेघ का सहारा लिया। उसने

घण्टों उस कर्णविहीन घन को अपना हृदय चीर कर दिखाया। इतना ही नहीं संस्कृत में इससे बिलकुल मिलता जुलता एक अलंकार है जिसे समासोक्ति नाम दिया गया है) जिसकी परिभाषा साहित्य दर्पणकार ने यूँ दी है :—

"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्य लिंग विशेषणैः ।
व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥"

अर्थात् समासोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत पद समान कार्य एवं लिग वाले विशेषणों द्वारा अन्य (अप्रस्तुत) वस्तु का आरोप कर दिया जाता है। इस प्रकार हमारी प्राचीन समासोक्ति एवं उनके अर्वाचीन मानवीकरण के बीच की दीवार यूँ ही ढल जाती है। मानवीकरण में हमें यह बोध बना रहता है कि हम इस प्रकृति का वर्णन पढ़ रहे हैं पर समासोक्ति में अप्रस्तुत इतना उभर आता है कि प्रस्तुत अर्थात् जिसका वर्णन अभीप्सित होता है, बिल्कुल पृष्ठभूमि मे चला जाता है। उदाहरण के लिए 'कामायनी' की चिरपरिचित पंक्तियाँ ली जा सकती है :—

"सिंधु सेज पर धरा बधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
मान किए सी ऐंठी सी।"

प्रस्तुत पंक्तियों में अप्रस्तुत पक्ष—वधू—ने प्रस्तुत—धरा—को इतना दबा दिया है कि पाठक के नयनो के समक्ष प्रस्तुत का चित्र बिल्कुल भी नहीं आता। यही दशा हमारे पंत जी की 'चाँदनी' कविता की प्रारंभिक पक्तियों की है :—

"नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशि मुखधर
नीरव, अनिमिषि, एकाकिन !
वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
जो लहराती जग-जीवन !"

प्रस्तुत पंक्तियों के पढ़ने से पाठक के समक्ष जो चित्र आता है वह किसी मुग्धा नायिका का आता है, चाँदनी का नहीं। चाँदनी 'मृदु करतल पर शशि मुख' कैसे रख लेती है, यह समझना सरल नहीं। इसी प्रकार चाँदनी की चितवन का चित्र चक्षुओं के समक्ष लाना खेल नहीं। पर कतिपय स्थलों पर प्रकृति के मानवीकरण ने एक अजीब ही सौंदर्य उत्पन्न कर दिया है। कवि की निगाह अचानक वृक्ष के पैरों में पड़ी हुई छाया पर पड़ती है। उसके हृदय में भावों की बाढ़-सी आ जाती

है—कौन हो सकती है ? निदान पूछ ही बैठता है वह :—

"कौन कौन तुम परहित-वसना,
म्लान-मना भू-पतिता-सी ?
धूलि धूसरित, मुक्त-कुंतला,
किसके चरणों की दासी ?"

अन्त में कवि को ध्यान आता है कि जिस प्रकार वह अपने स्वामी की दासी है उसी प्रकार वह उस तरुवर की :—

"सजनि ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो,
मैं उनके पद की छाया।"

संध्या रूपसि को चम्पक्-द्युति गत से उतरते देखकर पंत प्रश्न कर बैठते हैं :—

"कौन तुम रूपसि, कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप।
सुनहली फैला केश-कलाप,
मूँद अधरों में मधुरालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप
भाव-संकुल बंकिम भ्रू-चाप
ग्रीव तिर्यक् चम्पक्-द्युति गात
नयन मुकुलित नत मुख जलजात।"

महादेवी जी ने वसंत रजनी की कल्पना मुग्धा नारी के रूप में की है, जिसका आह्वान उन्होंने उसकी पूर्ण सज्जा के साथ किया है :—

"धीरे-धीरे उतर क्षितिज से,
आ वसन्त रजनी।
तारकमय नव वेणी-बंधन
शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मिवलय सित घन-अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे,
चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसंत रजनी ![1]"

निःशब्द संध्या का मानवीकरण कवि-श्री निराला ने इस प्रकार किया है :—

"दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है,

---

१. आधुनिक कवि १, गीत संख्या २८

वह संध्या सुन्दरी परी सी,
धीरे-धीरे-धीरे।"

पंत जी की लहरें अपनी बात कितनी प्रसन्नता से बताने आई हैं—

"अपने ही सुख से चिर चंचल,
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिपल।
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल॥"

लहरों के समान बादल भी अपनी कहानी सुनाते हैं—पर ज़रा ज़ोर से :—

"कभी अचानक, भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क कड़क, जब हँसते हम सब
थर्रा उठता है संसार।"

पर गंगा का मानवीकरण सचमुच मानवी-करण है। प्रचण्ड ग्रीष्म में बेचारी की दशा कसी दयनीय हो गई है, बेचारी में अब वह चुलबुलाहट कहाँ? श्रांत, क्लांत, निश्चल लेटी है :—

"शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल!
अपलक अनंत, नीरव भू-तल!
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी हैं श्रांत, क्लांत, निश्चल!"

आदि आदि।

पठन मात्र से अनमनी-ढनमनी लेटी हुई गंगा प्रत्यक्ष आ जाती हैं। इनके अतिरिक्त पंत में प्राकृतिक वस्तुओं के मानवीकरण—विशेषतः 'पल्लव' में—न जाने कितने भरे पड़े हैं। जहाँ उन्होंने अन्य छायायुगीन सहयात्रियों की भाँति प्रकृति को चेतन माना है जो हँसती है, रोती है, खेलती है, सोती है, उठती है—जी हाँ, मानव की भाँति प्रत्येक कार्य करती है।

(६) **ईश्वर-सत्ता की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में**—कोलरिज ने फरमाया—वह कवि ही क्या जो थोड़ा बहुत दार्शनिक न हो। किसी गोचर वस्तु का वर्णन करते-करते कवि ऊपर उठ जाता है और ऐसी बात कह निकलता है जो जन-साधारण की बुद्धि से कुछ ऊँची होती है। भगवान् कृष्ण ने कहा था कि मैं क्या चर क्या अचर सबमे व्याप्त हूँ :—

"यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥[1]"

---

१. श्री मद्भगवद्गीता पृष्ठ १०-१६

भागवतकार के अनुसार भी एक ही ईश्वरीय तंतु सबमें पिरोया हुआ है—आकाश में, वायु में, अग्नि में, समुद्र में :—

"खं वायुरग्निं सलिलं मही च,
यातीश वृक्ष्यानि दिशां द्रुमादीन।
सरित् समुद्रांश्च हरे शरीरम्,
यत्किंचदेतद् प्रणभेदनन्य ॥"

इधर कबीर सीधे सादे शब्दों में चिल्ला उठे :—

"लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।"

महाकवि तुलसी ने 'सब जग' को 'सियाराममय' जाना। उधर कविवर वर्ड-सवर्थ को भी मिटते सूर्य, जलधि, वायु, गगन आदि में एक ही आत्मतंतु गुँथा हुआ प्रतिभासित हुआ :—

...I have felt
A presence that disturbs me with the joy
Of elevated thoughts; a sense sublime
Of something far more deeply interfused
Whose dwelling is the light of the setting sun
And the round ocean and the living air
And the blue sky and in the mind of man
A motion and a spirit that impels
All thinking things, all objects of all thoughts
And rolls through all things.

Lines...Tintern Abby,

महाकवि प्रसाद के मनु को भी प्राकृतिक वस्तुओं में ईश्वरीय सत्ता का बोध हुआ, यद्यपि वे यह नहीं जान पाए कि वह सत्ता है कौन एवं कैसी ?—

"हे अनन्त रमणीय कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो
भार विचार न सह सकता ॥"

पंत को भी प्रारम्भ में ही, इस अनन्त जग की वस्तुओं के पीछे किसी की मुस्कान गोचर हुई। वे सोच उठे कि कोई ऐसी शक्ति है जो पीछे से सबका संचालन करती है। उनकी जिज्ञासा फूट उठी :—

"मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल ?"

फिर कवि ने सोचा हाँ, एक तन्तु है अवश्य जो सबको जकड़े हुए है :—

"एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरस जलनिधि में हरित विलास,
शरत अम्बर में नील विकास,
वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास
काव्य में रस, कुसुमों में वास।"

इससे भी पूर्व वे यों लिख चुके हैं :—

"एक छवि के असंख्य उडुगन,
एक ही सबमें स्पन्दन।"

और इसी 'एक' का संस्पर्श पाकर प्रकृति प्रफुल्लित है। 'उत्तरा' की 'मौन-सृजन' की अंतिम से कुछ पूर्व की पंक्तियाँ यही बात जतलाती हैं :—

"रंगों में गाता कुसुमाकर,
सौरभ में मलयानिल निःस्वर,
नील मौन में गाता अम्बर
मधुर तुम्हारा स्पर्श पा अमर।"

इस सम्बन्ध में पंत की सर्वश्रेष्ठ रचना 'मौन निमन्त्रण' है। खद्योत, तक्षत्र, सौरभ, लहर—प्रत्येक में उन्हें एक अपरिचित सत्ता का बोध होता है जो उन्हें बुलावा-सा देता प्रतीत होता है :—

"न जाने कौन, अहे छविमान!
जान मुझको अबोध, अज्ञान;
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!"

एक स्थान पर पंत जी प्रतिबिम्बवादी बन जाते हैं। वहाँ उनके लिए जगत की प्रत्येक वस्तु में जगन्निमाता की ज्योति बिखरी हुई है। वे उसके दर्शन के लिए तड़प उठते हैं :—

"माँ! वह दिन कब आएगा जब
मैं तेरी छवि देखूंगा,
जिसका यह प्रतिबिंब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पन में?"

इसके साथ-साथ ही पंत जी प्राकृतिक दृश्यों से चिरन्तन सत्य की ओर भी संकेत कर देते हैं। 'एकतारा' की अन्तिम पंक्तियों में उपनिषद् का साक्षात्

प्रभाव है :—

"जगमग-जगमग नभ का आँगन,
लद गया कुंद कलियों से घन
वह आत्म और यह जग-दर्शन !"

ऐसी ही उनकी विख्यात रचना 'नौका-बिहार' है जिसके प्रारम्भ में गंगा का अत्यन्त ही मोहक मानवीकरण है, नौका-विहार का सजीव चित्र; पर अन्त में कवि दार्शनिक बनने के लोभ को नहीं ठुकरा सका :—

"इस धारा सा ही जग का क्रम,
शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास,
शाश्वत शशि का यह रजत-हास
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग जीवन के कर्णधार !
चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।"

इस प्रकार हमने देखा कि पंत को प्रारम्भ से ही प्रकृति से अगाध मोह रहा है पर जैसा प्रेम उस दिन था वैसा अब नहीं। यदि ध्यान से देखा जाय तो पता लगेगा कि उनकी प्रत्येक रचना में प्रकृति-प्रेम परिवर्तित होता रहा है। 'वीणा' मे प्रकृति के प्रत्येक सुन्दर रूप पर वह मर मिटता है, उसमें जिज्ञासा भाव का प्राचुर्य है। 'ग्रंथि' में कवि को प्राकृतिक दृश्यों की पृष्ठभूमि बनाने का प्रचुर अवसर प्राप्त हुआ है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा के लिए भी उसने प्रकृति की उँगली पकड़ी है। 'पल्लव' में आकर तो कवि का प्रकृति के प्रति मोह अपने शिखर पर पहुँच जाता है :—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

प्रकृति की माया के समक्ष उसे बाला का बाल-जाल हेय प्रतीत होता है। पर एक बात जो द्रष्टव्य है वह यह है कि अब तक प्रकृति का कोमल एवं रम्य रूप ही उसे लुभा सका—**"साधारणतया, प्रकृति के सुन्दर रूप ने ही मुझे अधिक लुभाया है।"** पर कवि के इस दृष्टिकोण में सहसा 'परिवर्तन' आ गया जो इसी शीर्षक की रचना में गुंजित है। कवि को जग की अनित्यता का बोध होता है और वह प्रकृति के उग्ररूप की ओर भी दृष्टिपात करता है। 'परिवर्तन' के अनन्तर ही कवि भावुकता से अधिक दार्शनिक बन गया। फलतः प्राकृतिक दृश्यों से वह कुछ न कुछ

निष्कर्ष निकालने लगा। 'गुंजन' का प्रकृति-चित्रण ऐसा ही है। 'एकतारा' एवं 'नौका-बिहार' इसी संकलन के उत्कृष्ट गीत हैं। युगांत-युगवाणी-ग्राम्या युग में कवि जन-जीवन की ओर सरक आया। 'द्रुमों की मृदु छाया' में ही अपनी सांसें लेने वाला कवि 'युगवाणी' के 'बदली का प्रभात' में अपने प्रकृति-मोह-प्रासाद को ध्वंस कर निकला :—

"कहाँ मनुज को अवसर
देखे मधुर प्रकृति-मुख ?
भव अभाव से जर्जर
प्रकृति उसे देगी सुख ?"

इन पंक्तियों को पढ़कर पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा था, "**यह उसी कवि का प्रश्न है जिसने स्वयं एक दिन हमारे काव्य-साहित्य में प्रकृति-सुषमा की चारु चित्रशाला सजा दी थी। आज वह अपनी सृष्टि को निराधार पा रहा है।**"[1] सच-मुच 'मोह' गीत के कवि ने 'बदली का प्रभात' कैसे लिखा होगा ? फिर तो कवि असुन्दर प्राकृतिक दृश्यों की ओर भी मुड़ गया जहाँ कुछ भी तो नहीं :—

"यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन।"

'उत्तरा' की ओर कवि ने प्रकृति को प्रतीक रूप में ग्रहण किया।

संक्षेप में पंत का प्रकृति की ओर दृष्टिकोण अब वह नहीं रह गया जो उनके कवि-जीवन की प्रारम्भिक मंज़िलों में था। और यह परिवर्तन कवि की प्रगति, जीवन, ईमानदारी एवं साहस का उद्घोषक है।

●

१. युग और साहित्य—पृष्ठ ३३०

: ५ :

पंत जी का गीति-काव्य

अन्य भेदों के अतिरिक्त काव्य के प्रबन्ध एवं मुक्तक भी दो भेद हैं। प्रबंध-काव्य को पुनः महाकाव्य एवं मुक्तक काव्य में विभाजित किया गया है। मुक्तक काव्य वह है जो बिना आगे पीछे की सहायता लिए हुए रसोद्रेक करने की क्षमता रखता हो। प्रबंध काव्य एक सूत से आद्यन्त जुड़ा हुआ होता है पर मुक्तक तो उस कली के समान है जो अपने साथियों की तनिक भी चिन्ता किए बिना वृन्त पर एकाकी ही मुसकराती रहती है। आचार्य शुक्ल के अनुसार, "**मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती। जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते है जिनमें हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।** × × × **इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तबक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।**"[1] मुक्तक को पुनः दो शिविरों में बाँट दिया जाता है---पाठ्य एवं गेय। पाठ्य और गेय की भी यह विभाजक रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है क्योंकि पाठ्यवस्तु भी तो गेय होती है एवं गेय वस्तु भी तो कुर्सी पर बैठकर पढ़ी जा सकती है। अस्तु---

हाँ, तो जो रचना गेय होती है उसे गीत कहते है। अँगरेज़ी में इसका पर्याय लिरिक (Lyric) है। यह शब्द लायर (Lyre) से बना है जो हमारे वीणा की भाँति तारों का बाजा (Stringed Instrument) होता है। उस ससय गीत वही समझे जाते थे जो लायर के साथ साथ गाए जा सकें। हिन्दी में भी कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि के गीतों की ध्वनियाँ बाँधी गई हैं। पर क्या वे वीणा पर सुनने में ही आनन्द देते हैं, चुपचाप पढ़ने में नहीं? उत्तर स्पष्टतः ना में होगा। अतः आज गीत की परिभाषा में सँकुचन हो गया है। आज गीत वह है जो गाया जा सके, यह आवश्यक नहीं कि गाया जाय। हाँ उसमें गेयता आवश्यक है--"**गीतिकाव्य का क्षेत्र यद्यपि संगीतात्मक कविता तक ही सीमित नहीं, क्योंकि जहाँ भाव है वहाँ स्वतः संगीत है; किंतु 'गीतिकाव्य' अपने स्वतंत्र अर्थ में काव्य कला और संगीत कला**

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास--पृष्ठ २४७

का संयोजक है।"

गीत—बड़ा मीठा शब्द है यह। इसका इतिहास इतना पीछे जाता है जितना मानव जाति का उद्भव। भारत के अरण्यों में इतिहास के उस धुंधले काल में साम-वेद के गीतों का जब सस्वर उच्चारण होता था, मरुत ठिठक जाता था, मेघ स्थिर हो जाता था, वन्य जीव अपनी सुधि बुधि बिसार देता था। उस दिन से अद्यावधि गीतों की यह परंपरा जारी है—जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा और आज तो गीतकारों की गिनती ही नहीं हो सकती। हिन्दी काव्य के आधुनिक युग को यदि गीति-युग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। समय की इस कोताई में 'पार्वती' जैसे विशाल महाकाव्य का लेखन-प्रकाशन जहाँ श्रद्धा से भाल झुका देता है वहाँ महाकवि के महान धैर्य का भी परिचायक है।

गीतों को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है—लोकगीत एवं साहित्यिक गीत। लोक गीतों की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। यह गीत जनसाधारण के हृदय से फूट निकलते हैं जिनमें साहित्य के अंगों का विशेष ध्यान नहीं रक्खा जाता। हृदय से स्वभावतः फूट पड़ने के कारण इनमें साहित्यिकता अवश्य नहीं होती पर उनमे हृदय को छूने की क्षमता अमित परिमाण में पाई जाती है। साहित्यिक गीतों का जन्म ही इन लोक-गीतों के क्रोड़ से ही हुआ। अब तक यह लोक-गीत गाँव कीं झोंपड़ियों में ही बिखरे पड़े थे। अब साहित्यिकों का ध्यान उधर भी गया है एवं 'मालवा के लोक गीत', 'भोजपुरी के लोक गीत', 'राजस्थानी लोक-गीत', 'ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन' आदि में इनका अच्छा संकलन किया गया है। पर साहित्य में गीत का अर्थ साहित्यिक गीत ही होता है। जहाँ दूसरे प्रकार के गीत से तात्पर्य होता है वहाँ 'लोक' शब्द जोड़ दिया जाता है।

गीत के प्रमुखतः यह गुण हैं:—

१. संगीतात्मकता,
२. निजी रागात्मकता,
३. भाव एकता,
४. अंतः प्रेरणा,
५. अपेक्षाकृत संक्षिप्तता,
६. कला की पूर्णता।

अब हमें देखना है कि पंत के गीतों में यह गुण कहाँ तक प्राप्य है।

१. संगीतात्मकता—कॉलरिज (St. Coleridge) ने कविता को 'संगीत-मय विचार' (Musical thought) कहा है। जब कविता के विषय में यह कहा गया है; तो इस प्रकार की कविता के विषय में तो कहना ही क्या जो गाने के लिए ही रची जाती है। सच बात तो यह है कि जो गेय न हो उसे गीत कहना इस शब्द को और लजाना है। इस कसौटी पर आधुनिक युग के समूचे गीतकारों में पंत का

द्रष्टव्य हैं :—

"'देख वसुधा का यौवन भार
गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के से मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्‌वास,
न जाने सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन!
कनक छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!"

२. **निजी रागात्मकता**—गीत का दूसरा तत्व निजी रागात्मकता (Sujectivity) है। यह कवि के अपने हर्ष-विषाद का ही लेखा-जोखा है। जब कवि के हृदय में दुःख का ज्वार उठ खड़ा होता है अथवा आनंद की दीवाली जगमगा उठती है तब उसके हृदय से गीत स्वमेव फूट पड़ता है। "**गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें संदेह नहीं।**" आचार्य बाजपेयी जी के अनुसार, "**प्रगीत काव्य में कवि की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिए स्थान नहीं रहता। प्रगीतों में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिंबित होता है। यह कवि की सच्ची आत्माभिव्यंजना होती है।**". पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि 'विजातीय' द्रव्य का स्थान हो ही नहीं सकता—सूर और तुलसी ने सूरसागर एवं गीतावली में क्रमशः कृष्ण और राम का इतिवृत्त गाया है। आधुनिक युग में 'कामायनी' का इड़ा सर्ग गीतों, और मधुर गीतों, का आगार है। हाँ, इतना अवश्य है कि बाह्य व्यापारों का समावेश गीत में अधिक नहीं हो सकता। सुश्री महादेवी जी के शब्दों में "**मिट्टी के भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते हैं वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता।**" इतना ही नहीं बाह्य व्यापारों को भी पहले हृदय में विश्राम देना पड़ता है, तत्पश्चात् ही उन्हें बाहर बिखरने की आज्ञा दी जाती है। आचार्य श्यामसुन्दरदास के शब्दों में, "**गीति-काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और बाह्य जगत को अपने अंतःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों में रंजित करता है।**"।

आधुनिक गीतकार, कुछेक प्रगतिवादियों को छोड़कर, अपने ही मन की बात कहते हैं। यदि उनके गीतों में निजी रागात्मकता नहीं भी होती तो भी लगता ऐसा है जैसे गीतकार अपनी ही बात कह रहा हो। पंत की नीचे की पंक्तियाँ देखिए :-

"मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृग-जल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जल धार,
नहीं फिर भी तो आती लाज...
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?
× × ×
याद है क्या न प्रात की बात?
खिले के जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण! लगाने धूल
पास आया मैं, चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात...
निठुर! यह भी कैसा अभिमान?"

'ग्रंथि' तो समूची रचना ही सब्जैक्टिव है—ऐसा हल्ला है।

कभी पंखी से कवि पूछता है :—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनि!
पाया तूने यह गाना?"

तो कभी उससे प्रार्थना कर उठता है :—

"सिखा दो ना हे मधुप कुमारि!
मुझे भी मीठे मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना कुछ कुछ मध पान।"

जब कवि का हृदय-गगन कुहरे से आच्छादित हो जाता है तभी प्रेयसी की सुधि तड़ित् के समान कौंध जाती है :—

"कभी कुहरे-सी धूमिल घोर
दीखती भावी चारों ओर।
तड़ित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर

मुझे करता है अधिक अधीर
जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।"

'उच्छ्वास' की बालिका भी अत्यन्त भोली एवं सुंदर थी—लगता है उसके व्याज से पंत जी ने अपना ही वर्णन किया है :—

"सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन,
× × ×
रँगीले गीले फूलों से
अधखिले-भावों से प्रमुदित,
बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित
इसी में था असीम अवसित।"

इसी बालिका के आँचल से तो कवि का मन बँध गया :—

"उसके उस चपलपन से
मैंने था हृदय सजाया
नित मधुर-मधुर गीतों से,
उसका उर था उकसाया।
कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्पलता, अपनाया,
बहु नवल भावनाओं का
उसमें पराग था पाया।
मैं मंद हास-सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया।
औ' उसकी सुखद सुरभि से
प्रतिदिन समीप खिंच आया।"

इतनी बातें करने के पश्चात् आप जानते ही हैं क्या होता है? कवि बड़ी ईमानदारी से कहता है :—

"विधुर उर के मृदु भावों से
तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि,
मूँद दुहरे दृग द्वार!
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार;"

और फिर—

"पिघल पड़ते हैं प्राण,
उबल चलती है दृग जलधार।"

मूर्ति सँवारने के अनन्तर ही पंत जी की दृग जलधार उबल उठती है पर क्या आपने कभी चुपचाप उस हृदय की भी थाह ली है जो यूँ कह गया :—

"झंझा झकोर, गर्जन है,
बिजली है नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।।"

३. भाव-एकता—भाव-एकता का अर्थ है समूचे गीत में आद्यन्त एक ही (वन एण्ड दी सेम) भाव की थिरकन हो। गीत किसी क्षणिक एवं तीव्र मनोयोग का ही तो परिणाम है। अतः ज्यों ही उस भाव विशेष का लावा ठण्डा पड़ा कि गीत समाप्त। इस पर भी बहुत से गीतकार उसे आगे खीचते हैं, फल यह होता है कि गीत के बीच थिगली लग जाती है, जिससे उसका अभीप्सित प्रभाव नहीं पड़ता, विशृंखलता आ जाती है। गीत तो, जैसा अभी कहा, हृदय के चट्टानी किनारों को फोड़कर बहता है, वह अपने साथ दूसरे भाव को चलने की आज्ञा नहीं देता। अतः जिस किसी भी गीत में कहीं भी कोई अन्य भाव ध्वनित हो, अथवा तनिक भी विशृखलता हो तो समझ लेना चाहिए कि वह गीत अपने आप नहीं लिख गया अपितु लिखा गया है—परिश्रमपूर्वक। सच्चा गीत तो ज्वाला का वह व्यूह है जिसके समक्ष कैसा भी अन्य भाव हो जलकर राख बन जाता है। पंत की कुछ रचनाओं में भाव की इसी एकता की कमी है जिससे वे इतनी प्रभावशाली नहीं बन सकीं जितनी अन्य। 'नित्य जग', 'चाँदनी', 'नौका बिहार' ऐसी ही रचनाएँ है जिनमें एक भाव के साथ-साथ दूसरे भाव भी सरक आए हैं। निराला एवं महादेवी के गीतों में यह दोष बहुत पाया जाता है।

पंत का निम्न गीत निहारिए जिसमें भाव की एकान्विति के कारण ध्यान इन्हीं पंक्तियों में बँध जाता है :—

"आज रहने दो यह गृह काज,
प्राण! रहने दो यह गृह काज।
आज उर के स्तर स्तर में प्राण!
सजग सौ-सौ स्मृतियाँ सुकुमार,
दृगों में मधुर स्वप्न संसार,
मर्म में मदिर स्पृहा का भार।
आज चंचल-चंचल मन-प्राण,
आज रे शिथिल-शिथिल तन भार,

आज संसार नहीं संसार,
आज रहने दो यह गृह काज !"

और भी पंक्तियाँ लीजिए जो अत्यंत सुहावनी हैं। कवि का मन-खग, जो प्रेम की डगर का नव पथिक-ही है, प्रेयसी के नयनों के आकाश में अपनी राह भूल जाता है; बेचारा इधर-उधर पंख फड़फड़ाने के अतिरिक्त कर ही क्या सकता है:—

"तुम्हारे नयनों का आकाश,
सजल, श्यामल, अकूल आकाश,
गूढ़, नीरव, गंभीर प्रसार,
बसाएगा कैसे संसार,
प्राण ! इनमें अपना संसार,
न इनका ओर छोर रे पार,
खो गया यह नव-पथिक अजान।"।

इसी प्रकार 'वीणा' का यह गीत:—

"जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल,
मैं कहती थी मेरा मृदु-मुख
शशि के कर खोलें शीतल।
पर, आँखें खुलते ही मैंने
अंधकार देखा,—सविकल
स्वर्ण दिशा को देख, सजल दृग,
तुम्हें पुकारा हे उज्ज्वल !"

'गुँजन' एवं इससे आगे के संकलनों में कवि भाव क्षेत्र से चिन्तन-क्षेत्र की ओर खिसक गया। अतः उनमें बहुत कम गीत हैं जिनमें आद्यन्त एक ही भाव बहा हो; अधिकांश गीतों में एक विचार के साथ दूसरा विचार भी आ गया है।

४. **अंतः प्रेरणा**—कविवर वर्ड्सवर्थ ने कविता को Spontaneous Overflow of Powerful Emotions (शक्तिशाली भावों का अबाध एवं स्वच्छंद प्रवाह) कहा है। लंबी कविता के प्रवाह में कुछ रोड़े भी सह्य हो सकते हैं पर गीत में, जिसकी लम्बाई सीमित ही होती है, एक कंकड़ी का आ जाना भी बदजायका कर देता है। गीत का प्राण ही भाव ('इमोशन') है और वह भी शक्तिशाली ('पॉअरफुल'), अतः जिस गीत में इस तत्त्व का अभाव हो, वह पाठक के हृदय को किसी भी दशा में नहीं छू सकता। हृदय को तो वही चीज छू सकती है जो किसी के हृदय से निकली हो। बुद्धि से निकली वस्तु तो बुद्धि टकराने से ही प्राप्त हो सकेगी। महाकवि केशव को हृदयहीन इसलिए कहा जाता है कि उनकी रचनाएँ हृदय में न जाकर बुद्धि में जाती हैं। **"गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है यह भी**

प्रश्न है। बुद्धि के तर्क-क्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है उसका भार गीत नहीं सँभाल सकता, पर तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान कर लेती है उसकी अभिव्यक्ति में गेय स्वर-सामंजस्य का विशेष महत्व रहा है।"[1] पंत जी ने गीत के इस तत्त्व को स्वयं स्वीकार किया है। उनका अनुमान कि आदि कवि का अंतर किसी विशेष भाव से आक्रांत हो गया होगा और तभी उसमें से कविता बह निकली होगी—बह निकली होगी, स्वयमेव—समीचीन है :—

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर नयनों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान॥"।

आदि कवि के हृदय से कविता बही ही होगी! **"सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाँघ जाते हैं और उसके उपरांत भाव के संस्कार-मात्र में मर्म-स्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है।"**[2]

प्रातः ही रंगिणि को चहते देखकर कवि का हृदय एकदम बह उठा :—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल् विहंगिनि!
पाया तूने यह गाना?"

'वीचि विलास' देखकर कवि एक दम कह उठा :—

"छुई-मुई सी तुम पश्चात
छूकर अपना ही मृदु गात
मुरझा जाती हो अज्ञात।
स्वर्ण-स्वप्न सी कर अभिसार,
जल के पलकों में सुकुमार।
फूट आप ही आप अजान,
मधुर वेणु की सी झंकार।"

छाया निहार कर कवि को सहसा दमयंती स्मरण हो आई। उसके हृदय से

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४५
२. यामा, अपनी बात, पृष्ठ ७

एकायक कविता फूट उठी :—

"कौन पड़ी हो दमयन्ती-सी
क्यों तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?"

सुहाग रात में प्रिय की ओर जाती हुई प्रिया का चित्र कितना अंत: प्रेरित है:-

"अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकंपित उर मृदु, पुलकित गात।
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित पद नमित पलक दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण !
मधुरता में सी भरी अजान
लाज की छुई मुई सी म्लान
प्रिये प्राणों की प्राण !"

जब कवि के सामने ही 'प्रणय का ग्रंथि बंधन हो गया' और जब 'वह' 'नव-कमल' कवि का 'मधुप-सा' 'हृदय लेकर, किसी अन्य मानस का विभूषण हो गया' तो कवि का हृदय चीत्कार कर उठा और पिघलकर इन पंक्तियों में बह निकला :-

"हाय रे मानव-हृदय ! तुझसे जहाँ
वज्र भी भयभीत होता है, वहीं
देख तेरी मृदुलता तिल-सुमन भी
संकुचित हो सहम जाता है अहा !"

पर इससे आगे तो मानो कवि का हृदय फूटा ही पड़ता है, एक साँस में हज़ार बातें कहना चाहता है :—

"शैवलिनि ! जाओ मिलो, तुम सिंधु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को,
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन-वीणा बजा।
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है।
× × ×
देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है तृषित-चातक वारि को,
वह, मधुप बिंध कर तड़पता है, यही,
नियम है संसार का, रो हृदय रो।"

'गुंजन' की निम्नलिखित पंक्तियाँ निहारिए जिनमें से अंतःप्रेरणा छलकी

पड़ती है :—

"आँसू की आंखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन,
हँसमुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिनंदन।
अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुंजन,
करुणा से भारी अंतर
खो देता जीवन - कंपन।"

'मौन निमंत्रण' का तो कहना ही क्या जो हृदय से चू पड़ा है।

५. **संक्षिप्तता**—कवि के हृदय में अग्नि की लौ एकदम उठती है जो थोड़ी देर जलकर प्रशांत हो जाती है। अग्नि-प्रज्वलन के इन्हीं गिने-चुने क्षणों में कवि जो कुछ लिख देता है वह अमर हो जाता है। लिरिक-मूड अधिक लम्बा हो ही नहीं सकता। श्री एस. टी. कॉलरिज के विषय में विख्यात है कि एक बार उन्होंने स्वप्न देखा। उठकर शीघ्र ही वे उसे कागज़ पर बिखेरने लगे पर दुर्भाग्य से उनका एक मित्र आ धमका। फल यह हुआ कि वह गीत, 'कुबला खाँ', बेचारा जीवन भर अधूरा ही रहा। एक अँगरेज़ विद्वान के अनुसार भी सच्चा गीति-काव्य एक सरस, क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणाम है। इस मनोवेग से उसका समस्त अंतर्वाह्य एक साथ झंकृत हो जाता है—उसके अंतस में अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है। यह अग्नि इतनी प्रखर हो जाती है कि और सभी भावनाएँ एवं विचार विलुप्त हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं रह जाती, यहाँ तक कि कवि स्वयं तदाकार हो जाता है और समस्त कविता अपने लिखित स्वरूप में आने से पूर्व ही उद्भासित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक गीत का जन्म अन्तर्ज्वाला से ही होता है। हाँ, इस ज्वाला की तीव्रता और वेग प्रत्येक कवि की प्रकृत्यानुसार होते हैं। प्रायः इसका विस्फोट क्षणिक एवं अस्थायी ही होता है, इसीलिए शुद्ध गीतियाँ छोटी ही होती हैं। पंत के गीत छोटे भी हैं और बड़े भी। यह आश्चर्य की बात है कि उनके गीत लम्बे होने पर भी अन्त तक सौंदर्य वहन करते हैं। 'वीणा' के गीत लम्बे नहीं हैं। 'काला तो यह बादल है', 'द्वार भिखारी आया है', 'करुणा क्रन्दन करने दो', 'मिले तुम राकापति में आज' आदि सुंदर गीत हैं। 'आधुनिक कवि' नामक संकलन का छब्बीसवाँ गीत देखिए :—

"बताऊँ मैं कैसे सुन्दर।
एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति,
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक पाँति!

दिखा सकता है क्या शुचि-सर
कभी अपना अनन्य समतल ?
कहो क्या दर्पण ही निर्मल
दिखा सकता निज मुख उज्ज्वल?
कौन हो तुम उर के भीतर,
बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ?"[1]

'वीणा' का ही एक और स्वर अवलोकनीय है :—

"तिलक ! हा ! भाल तिलक !
छुड़ा दिया किस अकरुण-कर ने
यह शोभालंकार ! !
जगत की आशा का संचार !
पुरातन-वेदों की झंकार !
अश्रु-नयन निशि के आँगन में
बिखर गया अनजान,
आज गीता-रहस्य का गान !
कोटि-त्रय-कण्ठों का प्रिय-प्राण !
कर्म-योग की टीका अविकल—
कहाँ गया माँ की गोदी का
हाय ! केसरी - बाल !
स्वगति में गंगा-सा अविचल !
देश की धूलि से भरा लाल !"

'पल्लव' के गीत लम्बे भी हैं और छोटे भी। हाँ 'गुंजन' में दो-एक को छोड़ लगभग सभी रचनाएँ छोटी है। विख्यात गीत 'तप रे मधुर मधुर मन' छोटा ही है :—

"तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन।
अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर-मन।

---

१. आधुनिक कवि पन्त, पद २६

तेरी मधुर-मुक्ति ही बंधन,
गंधहीन तू गंधयुक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप मन !
मूर्तिमान बन, निर्धन !
गल रे गल निष्ठुर मन !"

इस संकलन की 'भावी पत्नी के प्रति' लम्बा गीत होने पर भी न कहीं विशृंखल हुआ है और न ही उसके मिठास में न्यूनता आई है। 'मौन-निमंत्रण' जैसा ही है यह भी। पंत के 'लाई हूँ फूलों का हास', 'आज रहने दो यह गृह काज', 'तुम्हारी आँखों का आकाश', 'आज नव मधु की प्रात', 'कलरव किसको नहीं सुहाता', 'मुसकरा दी थी क्या तुम प्राण ?', 'राल', 'कर्म का मन', 'सुमन के प्रति', 'द्वन्द्व', 'वाणी', 'नक्षत्र', 'अंतर्व्यथा', 'आगमन', 'मौन सृजन', 'प्रतिक्रिया' आदि बड़े सुन्दर गीत हैं जो अपनी लघुता में भी महान हैं।

६. **कला की पूर्णता**—ऊपर कहे गए समस्त गुण होने पर भी यदि किसी गीत में कला का पूर्णत्व नहीं है तो ऐसा समझिए जैसे ईंट भी हैं, लोहा-सीमेण्ट भी है पर उसका प्रयोग ऐसे हाथों से हुआ है जो छत के सहारे खंभ लगाता है, खिड़कियों के स्थान पर द्वार बनाता है अथवा यूँ सोचिए कि नाना प्रकार के व्यंजन प्रस्तुत हैं पर परोसने वालों को सलीका ही नहीं है। प्रत्येक वस्तु होने पर भी कला के अभाव में मन अधिक देर नहीं रम सकता। पर कला की पूर्णता का यह अर्थ कदापि नहीं कि कतिपय शब्दों को—जैसा उर्दू-शायरी में होता है, बलपूर्वक ठूँसा जाय। इससे भाषा में कृत्रिमता आ जाती है। गीत तो अंतःप्रेरित (Spontaneous) होता है। वह तो प्रथम बार ही लिख जाता है—स्वयमेव। अर्थ यह है कि भाषा में दुरूहता नहीं आनी चाहिए। बोधगम्यता गीत का प्राण है। शब्द-चयन ऐसा सुखद कर्णप्रिय, मधुर एवं रवानगी लिए हुए होना चाहिए कि दूर जाने वाला बटोही भी एक बार तो उस गीत को सुनने के लिए ठिठक ही जाय। यह तभी संभव है जब वह गीत बटोही के हृदय को छू ले और यह तभी हो सकता है जब वह गीत कवि के हृदय से निस्सरित हुआ हो, मेधा से नहीं।

पंत जी पर कलादेवी का वरद्हस्त प्रारंभ से ही है। वे सब से पहले कलाकार हैं, बाद में और कुछ। जब भविष्य इतिहास लिखने बैठेगा तो वह उन्हें सबसे पहले कलाकार के रूप में स्मरण करेगा। नगेन्द्र जी उनकी कला को इतना रंगीन बताते हैं कि विश्लेषण करते ही वह तितली के पंखों की तरह बिखर जाती है। पंत की इस रंगीनी पर कौन नहीं मर मिटेगा ! अपने गीतों में ही नहीं, गद्य को भी वे पाठक को अपनी कला का जादू छुआ कर काव्य रूप में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए 'पल्लव' की भूमिका ही काफी है जिसके पढ़ने में, लगता है, जैसे साक्षात् कविता ही है। 'ज्योत्स्ना' में संध्या, ज्योत्स्ना आदि के चित्र कवि ने किस

कौशल से खींचे हैं। संध्या की तस्वीर पंत जी इन शब्दो में देते हैं, "**मूँगे की फर्श पर धुनी हुई रुई की तरह ढेर ढेर कोमल प्रकाश बिछा है जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहने, प्रौढ़ उम्र संध्या, निष्कम्प दीपशिखा की तरह, दत्तचित्त बैठी है। मृणाल-सी लम्बी पतली खुली बाहें, वक्षस्थल के साँझ के उरोज बारीक सुनहली कंचुकी से कसे, दमकते भाल पर दो एक चिंता रेखाएँ, भौंहें पतली कुछ अधिक झुकी हुई, स्निग्ध शरद आनन, शांत गंभीर मुद्रा, कपोलों, कंधों, एवं पृष्ठ भाग पर रुपहले बाल बिखरे।**"

प्रसाद जी का खग-कुल कुल-कुल सा बोलता है तो पंत जी का कुछ और ही तरह से बोलता है :—

"बाँसों का झुरमुट,
संध्या का झुटपुट,
हैं चहक रही चिड़ियाँ,
टी, वी, टी, टुट्-टुट्।"

इस टुट्-टुट् ध्वनि के साथ साथ पतली आवाज़ होती है :—

"विहग, विहग
जग उठे, जग उठे पुंज, पुंज,
कूजित-गुंजित कर उर-निकुंज,
चिर सुभग, सुभग।"

पर यदि एक साथ ही कई स्वर सुनने हों तो यह पंक्तियाँ निहारिए :—

"पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर-झर,
झींगुरों की झीनी-झनकार,
घनों की गुर-गंभीर घहर
बिन्दुओं की छनती छनकार,
दादुरों के दोहरे स्वर।"

'पीन पुकार', 'भारी झर-झर', 'झीनी झनकार', 'गुर-गंभीर घहर', 'छनती छनकार', और 'दोहरे स्वर' सहज ही कर्ण गोचर हैं। और कवि की छुई मुई सी 'भावी पत्नी' (काश कि यह 'भावी' विशेषण हट जाता!) को तो ज़रा देखिए— पर चुपके से, ऐसा न हो कि वे आपकी निगाह से मुरझा जाएँ :—

"अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकंपित मृदु-उर, पुलकित-गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित पलक-दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी, प्राण!

मधुरता में-सी मरी अजान,
लाज की छुई मुई-सी म्लान,
प्रिये प्राणों की प्राण।"

पासपोर्ट साइज के चित्र निहारिए :—

"चाँदी के साँपों-सी रलमल, नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं-सी खिंच तरल-सरल।"

× × ×

"सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रांत, क्लांत, निश्चल।"

× × ×

"मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुंदर,
तिर रही, खोल पालों के पर।"

× × ×

"खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी,
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।"

× × ×

"सरकाती पट,
खिसकाती लट,—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट !"

इन कोमल चित्रों के साथ-साथ एक बार कवि के कोडक (Kodak) ने एक उग्र चित्र भी भर लिया जो एक्सपोज़ करने पर सचमुज बड़ा साफ़ निकला :—

"अहे वासुकि सहस्रफन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर ॥
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूतकार भयंकर।
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर ॥
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर।
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल,
दिङ् मण्डल।"

निम्न तीन पंक्तियाँ और देखिए। पहली पंक्ति स्थिर है, दूसरी की गति कुछ

अधिक है और तीसरी पंक्ति तो पढ़ने से पूर्व ही भाग निकलती है :—

"नवोढ़ा बाल लहर
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर।"

पंत जी की अभिव्यंजना-पद्धति पर अलग से ही विचार किया गया है। अतः यहाँ अधिक देर सुस्ताना समीचीन नहीं जान पड़ना।

इस प्रकार हमने देखा कि गीत का प्रत्येक आवश्यक तत्त्व, न्यूनाधिक परिमाण में, आलोच्य कवि में प्राप्य है।

अब प्रश्न उठता है गीतों के प्रकार का। कवि के हृदय की वह्नि जब फूट कर निकलेगी तो उसे एक दिशा की ओर उन्मुख कर देना अत्यंत दुष्कर है। न जाने किस दिशा में किस गति से चल निकले वह।

विषयानुसार गीत स्थूलतः निम्नलिखित कक्षा में आयगा :—

१. प्रकृति सम्बन्धी गीत
२. जीवन-मीमांसा सम्बन्धी गीत
३. आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत
४. राष्ट्रीय गीत
५. लौकिक प्रेम-गीत

१. प्रकृति सम्बन्धी गीत—प्रकृति तो सर्वैव से कवि की ओर इशारे करती आई है। कवि ने कभी तो उन संकेतों का अर्थ समझा है, कभी समझ नहीं पाया और कभी सचमुच समझकर भी नहीं समझ सका। पंत जी को तो प्रकृति ने ही काव्यपथ पर चलना सिखाया—**"जब मैंने पहले लिखना प्रारंभ किया था तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियाँ तथा प्राकृतिक सौंदर्य का वातावरण ही ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी। और किसी ऐसी परिस्थिति या वस्तु की मुझे याद नहीं जो मेरे मन को आकर्षित कर मुझे गाने अथवा लिखने की ओर अग्रसर करती रही हो। × × × मेरी प्रारंभिक रचनाएँ प्रकृति की लीला भूमि में लिखी गई हैं। पर्वत-प्रान्त की प्रकृति के नित्य-नवीन तथा परिवर्तनशील रूप से अनुप्राणित होकर मैंने स्वतः ही जैसे किसी अंतर्विवशता के कारण पक्षियों तथा मनुष्यों के स्वर में स्वर मिलाकर, जिन्हें तब मैंने 'विहग बालिका' तथा 'मधुबाला' कहकर सम्बोधन किया है, पहले-पहल गुनगुनाना सीखा है। × × × (वीणा की) रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धारण कर चपल, मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। समस्त काव्य पट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-छाँह से बना हुआ है। चिड़ियाँ, भौंरे, झिल्लियाँ, झरने, लहरें आदि जैसे मेरे बाल-कल्पना के छाया-वन में मिलकर वाद्य-तरंग बजाते रहे हैं।"**[1]
पंत को कवि बनाने का श्रेय ही कूर्माचल प्रदेश की हरीतिमा को रहा है, इसीलिए

---

१. मैं और मेरी कला

उन्होंने बाला तक को किसी दिन दुत्कार दिया था :—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन ?"

कवि ने देखा कि दिनकर की प्रथम किरण के आते ही विहग चहक उठे। उसकी उत्कण्ठा ओठों पर आ गई :—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया तूने यह गाना ?"

किरण धरती को छू नहीं पाई तब तक तो कवि ने देखा :—

"कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना।
किसने तुझको अंतर्यामिन !
बतलाया उसका आना ?"

और वह गाना भी ऐसा-वैसा नहीं, अत्यंत ही मनोहर, अतः कवि मनुहार कर उठा :—

"सिखा दो ना हे मधुप कुमारि,
मुझे भी अपना मीठा गान !"

'सुकुमारि' से कवि देखिए क्या चाहता है:—

"पिला दो ना, तब हे सुकुमारि,
इसी से थोड़ा मधुमय-गान;
कुसुम के खुले कटोरों से,
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान !"

खद्योत को इधर-उधर घूमते देखकर कवि से बिना पूछे न रहा गया :—

"इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !
जहाँ मलिनता विचर रही है,
जहाँ शून्यता का है स्रोत !"

इनके अतिरिक्त कवि ने न जाने कितनी बार और कितनी ओर से प्रकृति की तसवीरें खींची। इसका 'पंत का प्रकृति-चित्रण' नामक अध्याय में हमने पर्याप्त विवेचन किया है।

२. **जीवन-मीमांसा-सम्बन्धी गीत**—छायावादी कवि आगे चलकर निश्चय ही रहस्यवादी बन गया। आचार्य शुक्ल ने इसी छायावाद एवं रहस्यवाद के मध्य 'या'

लगाया। कवि पंत वैसे तो जीवन को सुंदर मानते हैं, उल्लासमय मानते हैं, जीने योग्य मानते हैं :—

"सुन्दर से नित सुन्दरतर,
सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुंदर जीवन का क्रम रे
सुंदर सुंदर जग-जीवन।"

पर उन्हें यह भी विश्वास हो चला कि जगत वेदनामय है :—

"वेदना ही के सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व इसका परम पद
वेदना का ही रे मनोहर रूप है।"

लेकिन एक बात बड़े मार्के की है—कवि के अनुसार यह वेदना, यह पीड़ा दुःख के कारण ही नहीं आती, सुखी व्यक्ति भी अति दुखी सिद्ध होता है:—

"जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से।"

तो क्या समूचा जगत यूँ ही पीड़ित रहेगा ? क्या अति सुख और अति दुख के गर्त में पड़ी हुई मानव जाति कूल पर नहीं आ सकेगी ? क्यों नहीं। पंत के पास इसका समाधान है, और वह यह है कि इन दोनों में मैत्री हो जाय :—

"मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख-दुख से।"

उन्हें इन दोनों का संतुलन अभीष्ट ही है :—

"सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि में ओझल हो घन।

× × ×

अविरत दुःख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न;
दुख-सुख की निशा-दिवा में,
सोता-जगता जग-जीवन।
यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का;
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का!"

कवि की आशा इन पंक्तियों में भी प्रस्फुटित हो उठी है :—

"अस्थिर है जग का सुखदुख
जीवन ही नित्य चिरंतन।
सुखदुःख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।"

कवि, इसीलिए, बिहारी की भाँति चाहता है कि जीवन-जलधि में आकण्ठ डुबकी लगाना चाहिए :—

"जीवन के अंतस्तल में
नित बूड़ें बूड़ें रे नाविक।"

'ज्योत्स्ना' में कवि जीवन और मृत्यु के विषय में कहता है : "**जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्व के इन नाम रूप के कोषों को धारण किए रहेंगे, मानव जाति विश्राम नहीं ले सकेगी, अतएव हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए। बीज संसार को पत्र-पुष्प-फल देकर फिर बीज में ही परिणत हो जाता है। कवि जन्म-मरण के चिर सत्य के साथ साथ जीवन को शाश्वत मानता है। यदि एक ओर जन्म लोचन खोलता है तो दूसरी ओर मृत्यु आँख मूँदती है** :—

"वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात,
मूँद प्राचीन मरन,
खोलें नूतन जीवन।"

जनम-मरन का यह फेरा लगा ही रहता है। 'नौका-विहार' के अंतिम पद में कवि बड़े सुन्दर ढँग से जीवन की तुलना गंगा-धार से करते हुए कहता है कि जीवन शाश्वत है :—

"इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत यह जीवन उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।"

जीवन के इसी शाश्वतत्व के कारण कवि प्रसन्न है :—

"जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव अभिलाष मुझे।"

आगे चलकर कवि को मानव-जीवन बड़ा रूखा-सूखा सा, सूना-सूना सा लगा, उन्हें बड़ा धक्का लगा :—

"आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित

देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित।"

अति-भौतिकवादिता ही संभवतः मानव के उल्लास को लूट लेती है, अतः वह कह उठता है :—

"आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख।"

३. **आध्यात्मिक विरह-मिलन के गीत**—हिन्दी के मध्ययुगीन संत कवियों ने अपना समूचा जीवन ही अध्यात्म संबंधी गीत गाने में लगाया। कबीर का तो उनके ईश्वर से साक्षात् मिलन हो गया था :—

"कहन-सुनन की है नहीं, आँखिन देखी बात।"

अतः जहाँ पूर्व उन्होंने विरह के गीत गाए वहाँ आगे चलकर मधुर सम्मिलन की तानें भी छेड़ीं, अपने प्रियतम की सकूनत तथा अन्य कैफ़ियत बताई। यही हाल मीरा आदि का हुआ। आधुनिक युग भक्ति-युग नहीं है। उसमें आध्यात्मिकता का झीना सा रँग (Tinge) भले ही आ जाय पर वह बात कहाँ जो ताल ठोंककर कबीर आदि ने कही थी। हाँ, महादेवी ने अवश्य विरह-मिलन की गीतियाँ लिखी हैं पर वे सचमुच ईश्वर की ओर इंगित करके लिखी गई हैं—इस ओर अब उँगली उठ निकली है। पंत जी अध्यात्मवादी कवि नहीं, हाँ, उनके संग्रहों में रहस्यमय गीत खोजे अवश्य जा सकते हैं जिनमें आध्यात्मिक विरह-मिलन के सूत्र प्राप्त होते हैं :—

"एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास।
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शरत अम्बर में नील विकास।
वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास।"

यह सत्ता व्याप्त सब में है पर दर्शन नहीं देती। नक्षत्रों, लहरों, नीरवता, कुसुम आदि लगता है, प्रत्येक वस्तु में वह निहित है और कवि को समय-समय पर इंगित करके समीप बुलाया करती है। इस अज्ञात शक्ति से कवि को बड़ा अचरज होता है। वह दर्शन के लिए तड़प उठता है और अंधकार के मिस कहता है :—

"अब न अगोचर रहो सुजान!
× × ×
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छुपाए हो छविमान!
मेरे स्वागत-भरे हृदय में
प्रियतम! आओ, पाओ स्थान!"

एवं—

"मा ! वह दिन कब आएगा जब
मैं तेरी छवि देखूंगा,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
इस जगती के दर्पन में?"

पर वह सत्ता जितना छुपने का प्रयास करती है, उतनी ही खुल पड़ती है :—

"यह तेरी अति नूतन नीति
माँ ! यह तेरी न्यारी रीति।
तेरी सुखमय सत्ता जग को
कहाँ नहीं जतलाती है?
जहाँ छिपाती है अपने को
माँ ! तू वहीं दिखाती है।"

इतना ही नहीं : —

"जब मैं अपने नयन मूंद कर
करती प्रियतम के गुणगान,
तब किस पथ से आ तुम मुझको
देते हो प्रिय दर्शन-दान?
× × ×
इस अबोध की अंधकारमय
करुण-कुटी पर करुणा कर
अये रंध्र-मग-गामी ! स्वागत,
आओ, मुसका उज्ज्वलंतर !
× × ×
हे सुवर्णमय ! तुम मानस में,
कमल खिलाते हो सुंदर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद-पद्म अमर।"

कवि को यह अज्ञात सत्ता दिखाई पड़ जाती है—राकापति, संध्यालोक, फूल आदि-में :—

"मिले तुम राकापति में आज
× × ×
हुआ था जब संध्या आलोक
हंस रहे तुम पश्चिम की ओर

विहग-रव बनकर मैं चितचोर
गा रहा था गुण…
× × ×
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण ! लगाने धूल
पास आया मैं…"
आदि आदि।

पर वह सत्ता कवि से छाती से छाती जुड़ाकर नहीं मिलती जिससे पंत प्रसाद जी की भाँति हर्ष विभोर होकर चिल्ला उठें :—

"मिल गए प्रियतम, हमारे मिल गए,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।"

उधर 'उत्तरा' में प्रार्थनापरक गीतों के अतिरिक्त जो विरह-मिलन की रचनाएँ हैं वे आध्यात्मिक नहीं अपितु भौतिक हैं।

४. **राष्ट्रीय गीत**—भारत के प्रथम स्वातंत्र्य-समर के अनन्तर कवि चिक, चिरागों, गलीचा, गुनीजन, कंचुकी, प्याला से हटकर कुछ दूर तक देख निकलते थे। उन्हें यह बोध हो गया कि उनका प्यारा देश विदेशियों से आक्रान्त है। उसकी दशा अत्यंत ही दयनीय है। भारत का इन्दु कराह उठा :—

"आवहु सब मिलिकैं रोवहु भारत भाई।
हा ! हा !! भारत-दुर्दसा न देखी जाई।"

भारतेन्दु-युग के अनन्तर भारतीय कवियों में राष्ट्रीयता की अभूतपूर्व चेतना जाग्रत हुई। सन् '१४ के युद्ध के अनन्तर भारतीयों ने जान लिया कि अँगरेज़ों द्वारा प्रदत्त आश्वासन कोरे शाब्दिक आश्वासन ही थे। अब कवि बेख़बर नहीं रह सका। चारों ओर राष्ट्रीयता का शंख फुंक निकला। 'भारत-भारती' की धूम मच गई। शहीदों के लिए यह बाइबिल से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई। 'दिनकर' ने बीन के तार फेंककर चाँदी का शंख फूँका, 'नवीन' ने क्रान्ति का आह्वान किया और 'प्रसाद' जी ने तो इतिहास को अपने पन्नों में बुलवा ही दिया। भारत के स्वर्णिम अतीत से उनसे अधिक किन्हें मोह रहा ? उनका अध्ययन विशाल था, फलस्वरूप उन्होंने नई-नई मान्यताएँ स्थापित कीं। सबसे बड़ी तो यह कि चंद्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय था, दूसरी यह कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं। अन्य कवियों ने भी यथासामर्थ्य योग दिया। सपनों में डूबा हुआ पंत कुछ तो सजग हो ही गया। एक बार उसने देश के अतीत को देखा और दूसरी बार वर्तमान को। कराह उठा वह :—

"आज कहाँ वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?"

उन्होंने देखा कि स्वर्णिम पुरातन आज बस सोचने की वस्तु रह गई है; प्रकृति के माध्यम से उससे बिना कहे नहीं रहा गया :—

"आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी सांस,
वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार!"

कवि ने अपने देशवासियों को दैन्य एवं संताप की भट्टी में गलते देखा तो उसने अपना ध्यान सितारों से हटाकर उन पर लगा दिया :—

"आज सत्य, शिव, सुंदर करता
नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट औ' संस्कृत लगते
मन को केवल कुत्सित।
× × ×
आज असुंदर लगते सुंदर।"

स्वयं ही नहीं उन्होंने आकाश की ओर ताकने वाले अन्यान्य कवियों को भी भारत-माता की ओर निहारने को कहा :—

"ताक रहे हो गगन ?
× × ×
देखो भू को,
जीव - प्रसू को।"

देश-प्रेम-प्रदर्शन की कई विधाएँ हैं—वीरों की गाथाएँ, धर्म-सभ्यता-संस्कृति की प्रशंसा, देश की धरती पर की प्रत्येक वस्तु से अपनत्व। पंत ने इन शब्दों में अपने देश की धरती की ही प्रशंसा की है :—

"हरित भरित
पल्लवित, मर्मरित
कुंजित, गुंजित,
कुसुमित
भू···।"

भारत सदैव अमरों का भी लालसा-केन्द्र रहा है :—

"कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु मुखरित—
जिस पर अंकित

सुर मुनि वंदित
मानव पद - तल।"

यही बात 'हरीतिमा' में है :—

"हँसते भू के अँग-अँग,
हरित - हरित रँग !"

अपने देश की प्राकृतिक सुषमा देखकर तो कवि नाच ही उठता है :—

"दूर्वा पुलकित भूतल,
नवोल्लसित तृण तरु दल,
इंगित करते चंचल—
जीवन का जीवित रँग
हरित हरित रँग !"

कवि का देश ऐसा है जो किसी को भी अनायास मोह लेता है :—

"हरित वसन, तन छवि नित
जग जीवन प्रतिमा नित
हरती मानव का चित;
भव संस्कृति भावित रँग,
हरित हरित रँग !"

कवि को देश की स्वाधीनता पर गर्व है। 'उत्तरा' के 'गीत विहग' में यही कहा गया है :—

"मैं मानवता का संदेश सुनाता
स्वाधीन देश की गौरव गाथा गाता;

× × ×

मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसाकर
जन धरती पर देवों का विभव लुटाता।"

'ग्राम्या' का चरखा भी तो कहता है :—

"हरो देश की दरिद्रता का
तम, तम, तम।"

बड़ा गाढ़ा तम है सचमुच सम्प्रति। अपनी प्यारी मातृभूमि को सर्वसुख सम्पन्न निहारने के लिए पंत कह उठते हैं :—

"जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय; चिर नूतन !

× × ×

बरसो सुख बन, सुखमा बन
बरसो जग जीवन के घन !
दिशि दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन !"

फिर भी संदेह नहीं कि पन्त के काव्य में उनके देश-प्रेम का इतना प्रस्फुटन नहीं है जितना उनके ही काल के अन्य कवियों में। वे अपने प्रति लगाए गए अभारतीयता के आक्षेप से सजग हैं। अतः 'स्वर्णधूलि' की 'ग्रामीण' शीर्षक रचना में अपनी सफ़ाई देते हुए कहते हैं :—

"भारतीय ही नहीं बल्कि मैं
हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर।"

५. लौकिक प्रेम-गीत—पन्त-नक्षत्र जब काव्य-व्योम में उदित हो रहा था, हिन्दी कवियों को चिकनी बातें क़लम के ओंठ से फिसल जाने देने की सख्त मनाही थी। आचार्य द्विवेदी जी का दण्ड उन कवियों के सर पर पड़ने के लिए सदैव उद्यत रहता था जो शृंगारी गीतों का झरना बहाना चाहते थे। उनकी पाठशाला का अनुशासन अत्यंत ही कठोर था—वहाँ समझौते की गुंजाइश नहीं थी। फल यह हुआ कि तत्कालीन समूचा काव्य इतिवृत्तात्मकता के शुष्क काव्य के ढाँचे में ढल गया। प्रसाद, पन्त, निराला जैसे युवकों को यह बात कब सह्य थी ? वे द्विवेदी जी की शुष्कता से जब तनिक भी इधर-उधर निहारते तो एक अजीब ही रंगीनी पाते। जब वे अपने मन की बगिया की ओर देखते तो उसमें भी उन्हें भाँति-भाँति के कुसुम दृष्टिगोचर होते, कुछ कलियाँ भी चटख जाने के लिए बेक़रार दिखाई पड़तीं। इन युवकों से नहीं रहा गया। इन्होंने प्रकृति की आड़ लेकर अपनी बेकली की तान छेड़नी आरंभ कर दी। रीतियुगीन अपने पूर्वजों से भिन्न इन्होंने अस्पष्ट एवं धूमिल संकेतों द्वारा अपने मन की बात कहना प्रारंभ कर दी। इतना ही नहीं अपने कथन पर ऐसा झीना आवरण चढ़ा दिया कि वृद्ध भी उसे आरती समझ कर उच्चारने लगे। महाकवि प्रसाद का 'आँसू' इसका उज्ज्वलतम उदाहरण है। इसका प्रेम इतना गहरा है कि इसमें अलौकिकता स्वयमेव सरक आई है।

पन्त के प्रणय-गीत तो बिल्कुल ही स्पष्ट हैं। उनमें प्रसाद या निराला जैसा दुराव नहीं है। पन्त जी छायावादी टीम की इस डगर के अग्रणी हैं। प्रकृति ने प्रारंभ से ही उन्हें सौंदर्य-प्रेमी बना दिया। शुरू में तो वे प्राकृतिक दृश्यों पर फिदा थे, द्रुमो की मृदु छाया छोड़कर बाला के बाल-जाल में लोचन उलझाने को तैयार नहीं थे। 'वीणा' ऐसा ही संकलन है जिसमें कवि ने प्रकृति के प्रेम संबंधी गीत गाए हैं, प्रणय के नहीं। इसका सीधा-सा कारण यह है कि उस समय कवि बालक ही तो था। सत्रह-अठारह वर्ष पर तो मानव प्रणय-द्वार खटखटाना प्रारंभ ही करता है, उसमें पूर्ण प्रवेश तो अनन्तर करता है—और, यदि कह लेने दिया जाय तो 'ग्रंथि'

में पन्त प्रणय-कक्ष में पूर्ण प्रवेश कर जाते हैं। इन्दु का भक्त अब इन्दुमुख का भी शागिर्द बन गया—इन्दु से भी अधिक :—

"इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे; —पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था!"

उसके मुख सौंदर्य का तो कहना ही क्या :—

"बाल-रजनी सी अलक थी डोलती,
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।"

उसके गालों के गड्ढों में कवि की मन-नौका सावधानी करने पर भी बिना डूबे नहीं रह सकी। आगे वही हुआ जो होता है। कवि के मन-मुकुर में ठेस लगी और विचूर्ण हो गया वह। पन्त ने समझाया :—

"हृदय! सब भाँति तू कंगाल है
उठ, किसी निर्जन-विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न-भावी को डुबा दे आँख-सी

× × ×

वह, मधुप बिंधकर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो हृदय, रो!"

निष्ठुर विधाता द्वारा रचित विरह सबसे अधिक दुखदायी है :—

"शून्य-जीवन के अकेले-पृष्ठ पर
विरह! अहह, कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोंक से
निठुर-विधि ने अश्रुओं से है लिखा।"

अपने भरे यौवन में कवि को वेदना की अतिशयता मिली। उसे लगा जैसे समस्त भू ही वेदनामय है :—

"वेदना! कैसा करुण उद्गार है।
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में
तारकों में, व्योम में, है वेदना।"

'ग्रंथि' की यह प्रणय धार-'पल्लव' में भी फूट निकली। वहाँ कवि एक पहाड़ी बालिका पर मुग्ध हो गया जिसका सरल सौंदर्य घावकारक सिद्ध हुआ :—

"सरलपन ही था उसका मन
निरालापन ही आभूषन,
कान से मिले अजान नयन,
सहज था सजा सजीला-तन,
सुरीले, ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान।"

इस प्रकार वह पार्वत्य बाला कवि की मनोरम मित्र बन गई। उधर बर्षा के आरंभ में पर्वत-प्रदेश कुछ का कुछ हो गया——इन्द्रसेतु, झिल्लियों की झीनी झनकार, पपीहे की पीन पुकार और दादुर के दोहरे स्वर देख-देखकर उसका भुनता हुआ हृदय जल उठा। उस समय की कवि की दशा इन शब्दों में आबद्ध है :—

"देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये! भर-भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को,
नवोढ़ा बाल - लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर,
सिहर उठता है कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।"

और फिर कवि अपने लौकिक ईश्वर को आलौकिक ईश्वर से लाख गुना अच्छा समझकर ध्यानस्थ हो जाता है :—

"मूँद दुहरे दृग - द्वार
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार;
पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग धार!"

'गुंजन' में कवि हृदय से खिसककर आत्मा की ओर चला गया। अतः उसमें प्रेम लपेटे गीत कम ही हैं फिर भी इस 'प्राणों की उन्मन गुंजन' में 'भावी पत्नी के प्रति' जैसे लम्बे गीतों मे बड़ा स्थूल, पर प्रफुल्लकारी सौंदर्य है। इस गीत में उनके शैशव से यौवन तक का चित्रण है। जिस क्षण उर से उर और ओंठ से ओंठ मिलकर रात को सतरंगी बना देंगे उस समय का चित्र देखिए :—

"सुमुखि, वह मधु क्षण ! वह मधु-बार !
धरोगी कर में कर सुकुमार !
निखिल जब नर - नारी संसार
मिलेगा नव - सुख से नव - बार;
अधर - उर से उर - अधर समान,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !"

सबके उर की डाली देखने वाला कवि अपने उर की डाल भी हिला देता है। वातास सौरभ-श्लथ उच्छ्वास छोड़ रही है, हृदय में स्मृतियाँ उठ रही हैं, कलिकाएँ अपनी पंखुड़ियाँ खोलकर अपलक नयनों से निहार रही हैं और उन पर भौंरे वंशी बजा रहे हैं; ऐसे में कवि कैसे देख सकता है कि उसके प्राणों की प्राण अवगुंठन डाले गृह-काज करती रहे। अतः वह गा उठा—

"आज चंचल-चंचल मन-प्राण,
आज रे शिथिल-शिथिल तन-भार;
आज दो प्राणों का दिन मान,
आज संसार नहीं संसार !
आज क्या प्रिये, सुहाती लाज ?
आज रहने दो सब गृह-काज !"

'युगांत' में यह प्रेम-सलिला कम तो हो जाती है पर बिल्कुल नहीं सूखती। इसमें कवि को चचल, हँसमुख, उदार (जी हाँ, उदार) अँबियों से उरोजों वाली एक मुग्धा का साक्षात् होता है। फिर क्या था, कवि का हृदय बोल उठा—

"तुमने अधरों पर धरे अधर,
मने कोमल वपु भरा गोद;
था आत्म समर्पण सरल-मधुर
मिल गए सहज मारुतामोद !"

आगे के संकलनों—युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण आदि—में भी पंत के प्रणय चित्र प्राप्य हैं। 'युगवाणी' मे वे मानवी के 'योनिमात्र' पर नाक सिकोड़ते हैं, 'ग्राम्या' में लहर-लहर लहँगा, एवं फहर-फहर चोली के साथ उनकी निगाह' 'चोली के कंदुक' पर भी जा पड़ती है, पर अफ़सोस ! कि पंत को निराशा ही होती है क्योंकि :—

"स्त्री नहीं, गुजरिया वह है नर !"

'उत्तरा' में भी 'वियोग-विषयक कविताएँ' हैं और बहुत हैं; पर अब पंत जी कुछ और ही हो गए हैं। अब वे अपनेपन की ही परिधि में चक्कर नहीं लगाते, अपितु—

"देवों को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन,
मानव आसन से उठा रहा
अमरत्व ढँके जो अवगुंठन।"

अब तो कवि को गुज़रे ज़माने की याद आती है जब उसका मन प्रेम में सराबोर था। वर्तमान की छुरस्य धारा ने उनके मुँह से प्रणय-कहानी छीन ली है:—

"सुख-दुख की लपटों में लिपटी,
भू के अँगारों पर पग धर,
वह बढ़ती स्वप्नों के पथ पर
शत अग्नि परीक्षाएँ देकर!
अब प्रेमी मन वह नहीं रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल,
प्रेयसि स्मृति भी वह नहीं रही
भावना रह गई विरहोज्ज्वल!"

यह तो हुई गीत की भारतीय पद्धतियाँ। अँग्रेजी में गीत के प्रकार इनसे सर्वथा भिन्न हैं जो मुख्यतः छह हैं:—

(अ) चतुर्दशपदी (Sonnet),
(आ) शोकगीत (Elegy),
(इ) संबोधन गीत (Ode),
(ई) विचारात्मक (Reflective),
(उ) व्यंग्य (Satire)
(ऊ) उपदेशात्मक (Didective)

इनमें से पंत जी ने सम्बोधन गीत (ओड) ही अधिक अपनाए हैं। अँग्रेज़ी में रोमेण्टिक युग में वड्सवर्थ, शैले एवं कीट्स—मुख्यतः कीट्स—के सम्बोधन-गीत अत्यंत विख्यात हैं। पंत जी ने बहुत से सम्बोधन गीत रचे हैं। 'युगवाणी' तो ऐसे गीतों का भण्डार ही है। उसकी प्रथम रचना ही इसी शैली की है:—

"नव वसन्त ऋतु में आओ,
नव कलियों को विकसाओ
प्रेयसि कविते! हे निरुपमिते!"

कवि वेदना से कहता है:—

"आज वेदने! आ!"

अंधकार से तो कवि न जाने क्या-क्या कहता है? आइए, सुनलें—

"अब न अगोचर रहो सुजान!
निशानाथ के प्रियवर सहचर!

अंधकार, स्वप्नों के यान !
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?"

मधुप को कवि समझाता है :—

"...मधुप ! निज मादक राग
इस कलिका के ढिग मत गाओ,
नहीं जानती, यह अनुराग।"

खद्योत को इतस्ततः घूमते देखकर कवि की जिज्ञासा इन शब्दों में बिखर जाती है :—

"इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !"

रंगिणि को संबोधित करके लिखे गए गीत के विषय में तो कहना ही क्या ? 'ग्रंथि' में तो कवि ने न जाने कितने कितनों को संबोधित किया है—प्रेम को, स्मृति को, नियति को, भवितव्यता को, सौंदर्य को, शैवालिनि, अनिल, चन्द्रिका एवं उडुगणों को। छाया के प्रति कही गई पंक्तियाँ निस्सन्देह अक्षय सौंदर्यमयी हैं :—

"कौन-कौन तुम परहित वसना,
म्लान-मना, भू-पतिता-सी ?
धूल-धूसरित, मुक्त-कुन्तला,
किसके चरणों की दासी ?"

उसे निहारकर अभागी दमयंती की याद आ जाना नैसर्गिक है :—

"कौन पड़ी हो दमयंती सी
क्यों तप के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?"

'परिवर्तन' तो पंत के काव्य का सुमेरु है ही; एक पद पर्याप्त है :—

"विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ से विपुलाकार,
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार।
अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल-सा तुम अनन्त में रचते सुंदर,
गरज-गरज, हँस-हँस, चढ़ गिर, छाया भू अंबर
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर;

अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप वर
अहे तुम्हारी भीम-भृकुटि पर
अटका निर्भर !"

इसके अतिरिक्त इस सहस्रफन वासुकि को पंत जी ने न जाने कितने नामों से पुकारा है।

प्रकाश से कवि 'मानव के घट के पट खोल मधुर श्री' बरसाने एवं 'मुरझाए मानस मुकुलों को छूकर नव छवि में' विकसाने की कहता है। 'आम्रविहग' से कहता है कि मानव-जीवन शिशिर-ग्रस्त एवं बहुव्याधि-त्रस्त है। पलाश, कचनार, रसाल से कवि 'मधु के स्वप्न' में बातचीत करता है। पलाश पर दो-तीन अन्य रचनाएँ भी हैं। 'ओस के प्रति' की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"हे स्वप्न सुघर !
तुम पर सहस्र रवि न्योछावर !
स्वर्गीय तुम्हारा लोल-लास,
जीवन के चल-पल का हुलास,
निज अचिर सत्व का कर विकास
तुम बने वाष्प आकाश !
ओऽस।
उर परितोष !
ओ स्पर्श-शीत !
छवि-प्रीत
ओस !"

'कुसुम के प्रति' में कवि कुछ सीखता है। वाणी से अलंकार न पहनने की प्रार्थना करता है। वर्षा के स्पर्शों से रोमांचित हो रहे आँगन की ओर भी कवि की निगाह उठ गई है और उससे भी वह कुछ कहता है। इनके अतिरिक्त भी पंत जी ने बीसियों संबोधन-गीत गुनगुनाए हैं।

उपदेशात्मक (Didective) गीतों का तो हिन्दी के मध्ययुग पर अतुल धन है। पंत जी उपदेश देने वाले साधु तो नहीं फिर भी यत्र-यत्र कुछ सबक़ उन्होंने ले-दे ही दिए हैं। 'गुंजन' की चौदहवीं संख्या के गीत (चौदहवाँ नहीं) द्वारा कवि न प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा उपदेश की एक लम्बी खूराक़ दी है :—

"गाता खग प्रात: उठकर—
सुंदर, सुखमय जग-जीवन।
× × ×
हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,

अपने उर की सौरभ से
जग का आँगन भर जाओ।"

एवं :—

"उठ-उठ लहरें कहती यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें।"

लहरें चिल्ला-चिल्लाकर उपदेश दे रही हैं कि आगे ही क़दम बढ़ाना चाहिए—चाहे दुःखों के पर्वत एवं परेशानियों की अलंघ्य घाटियाँ ही क्यों न हों। 'प्रकृति-चित्रण' नामक अध्याय में इस पर और भी विचार किया गया है।

व्यंग्य गीत (Satire) छायावादी कवियों ने कम ही लिखे हैं। सच पूछा जाय तो यह प्रगतिवादियों का बड़ा सबल शस्त्र है। आइए पहिले व्यंग्य को समझ लें।

'मनुष्य में स्वास्थ्य-संरक्षण का एक प्राकृतिक नियम है। अनुभूति परिस्थितियों पर विजय पाकर जब हम औरों को भी वैसी ही परिस्थितियों से मुक्त देखना चाहते हैं; पर सामाजिक कारणों से वैसा कर सकना अपनी शक्ति और स्वास्थ्य के लिए असंभव या हानिकर प्रतीत होता है, तो एक अनजान प्रेरणा हमारी सहानुभूति को ही व्यंग्य और उपहास का रूप दे देती है, ताकि एक ओर तो अनजाने और परोक्ष में उन लोगों का उद्धार हो जो हमारे व्यंग्य का शिकार बनते हैं और दूसरी ओर हमारे बचाव की तटस्थ स्थिति पूर्ववत् बनी रहे। वही स्वाभाविक प्रेरणा, व्यंग्य और उपहास का नैतिक आधार है।

उपहासकर्ता में तटस्थता न होगी तो उसका व्यंग्य कटूक्ति हो जायगा। उसमें यदि उपहास्य की परिस्थिति की सी पूर्व अनुभूति न होगी, तो वह व्यंग्य विरस और रूखा होगा। इसके विपरीत, तटस्थता जितनी ही गहरी, पूर्व-अनुभूतियों से पुष्ट होगी तथा उस तटस्थ-तल से अनुभूतियाँ जितनी ही साफ अन्वेक्षित होंगी—व्यंग्य उतना ही स्पष्ट-सार्थक, साथ-साथ उतना ही मार्मिक होगा।' [1]

पंत निराला की भाँति व्यंग्यकार नहीं फिर भी उन्होंने अपने प्रगति युग में ऐसे गीत अवश्य लिखे जिनमें व्यंग्य प्रधान है। 'ग्राम्या' की 'ग्राम-देवता' में ग्राम के पंडित-पण्डों के मंत्र-तंत्र की बड़ी हँसी उड़ाई गई है :—

"पण्डित, पण्डे, ओझा, मुखिया, औ साधु-सन्त।
दिखलाते रहते तुम्हें, स्वर्ग अपवर्ग पन्थ॥
जो था, जो है, जो होगा,—सब लिख गए ग्रंथ,
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मंत्र-तंत्र।"

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त—शचीरानी गुर्टू, पृष्ठ २२४

इसके आगे की एक रचना है 'संध्या के बाद'। इसमें बस्ती के बनिए की 'ईमानदारी सबसे अच्छी पालिसी है' बताई है। लाला समाजवाद की बातें करते नहीं अघाते, 'सामूहिक जीवन', शोषण से जन की विमुक्ति एवं सकल आय-व्यय के वितरण का शंख फूंकते हैं पर—

"टूट गया वह स्वप्न वणिक का
आई जब बुढ़िया बेचारी
आध पाव आटा लेने—
लो, लाला ने फिर डंडी मारी।"

यहाँ 'फिर' करोड़ों रुपए का शब्द है ! इसका सीधा-सा अर्थ है कि लाला ने यह नहीं कि अभी डंडी मारी है अपितु 'फिर' मारी है। इसी प्रकार 'ग्राम्या' की ही एक रचना है 'वे आँखें' जिसमें 'पैर की जूती' पर व्यंग्य निहारिए :—

"घर में विधवा रही पतोहू,
लछमी थी, यद्यपि पतिघातिनि,
पकड़ मँगाया कोतवाल ने,
डूब कुएँ में मरी एक दिन !।
खैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुधकर
साँप लोटते, फटती छाती।"

'नहान' शीर्षक कविता में गाँव की स्त्रियों के आभूषण-प्रेम पर करारा व्यंग्य है :—

"सिर पर है चँदवा शीशफूल,
कानों में झुमके रहे झूल,
बिरिया, गलचुमनी, कर्णफूल।
गल में कटवा, कण्ठा हसली,
उर में हमेल, कल चम्पकली,
जगनी, चौकी, मूँगे नकली।
बाँहों में बहु बहु रे जोशन,
बाजूबंद, पट्टी, बाँक, सुघम,
गहने ही गँवारिनों के धन।"

पति के घर जाती हुई ग्राम्य-वधू का वर्णन भी व्यंग्य का प्रज्वलित उदाहरण है। जब वह चलने को होती है तो ऊँचे स्वर में रोदन करती है। स्टेशन पर लोग समझते हैं स्यात कोई ट्रेन के पहियों से टकराकर मर गया हो अथवा हो सकता है कि कोई कोतवाली का जवान हो। यह रुदन अधिक देर नहीं रहता :—

"लो, अब गाड़ी चल दी भर-भर,
बतलाती धनि पति से हंस कर,
सुस्थिर डिब्बे के नारी-नर
जाती ग्राम-वधू पति के घर।"

'स्वीट पी के प्रति' कही गई पंक्तियाँ भी ऐसी ही हैं जिनमें ऊँची एड़ी के सैंडिलों वाली, दो चोटियों वाली, अपने ही शोभा के भार से दबी जाने वाली, अति सलज्ज सुकुमार पर चोट की गई है। फूल, लहर, तितली, मार्जारी, विहगी आधुनिके का तो कहना ही क्या !

'युगवाणी-ग्राम्या' में ही क्यों 'स्वर्णधूलि' में व्यंग्य प्रधान रचनाएँ हैं :—

"सूट-बूट में सजे-धजे तुम
डाल गले फांसी का फंदा,
तुम्हें कहे जो भारतीय, वह
है दो आँखों वाला अंधा।"

बाला का वैसे तो अत्यधिक आदर है पर ज्योंही उसे कोई अन्य पुरुष पतित कर जाता है तभी उसके परिजन-पुरजन तक खिसक जाते हैं :—

"फूटा करम, धरम भी लूटा
शीष हिला रोते सब परिजन,
हा अभागिनी ! हा कलंकिनी !
खिसक, रहे गा-गाकर पुरजन !"

'शीष हिलाते' एवं खिसक रहे' में कैसी करारी चोट है !

विचारात्मक (Reflective) गीत 'पल्लव' के अनंतर गुंजन से प्रारंभ हो जाते हैं। घण्टों मनन का फल दो पंक्तियों में बद्ध किया जा सकता है—

"जग पीड़ित है अति दुःख से;,
जग पीड़ित है अति सुख से।"

पर विचार तो यह करना चाहिए कि यह समस्या कैसे सुलझे। पंत जी के पास इसका भी समाधान इस प्रकार है :—

"मानव-जग में बँट जावें
दुःख सुख से औ' सुख दुःख से।",

वास्तव में मनुष्य पर जब अछोर दुःख या अछोर सुख पड़ता है तभी उसका उत्पीड़न होता है :—

"अविरत दुःख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न।"

जब इन दोनों का समीकरण हो जायगा, जीवन तभी जीने योग्य हो जावेगा :—

"सुख दुख क मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण।"

एक अन्य स्थल पर भी यही भाव दुहराया गया है :

"जग-जीवन में है सुख दुःख,
सुख-दुःख में है जग-जीवन;
हैं बँधे बिछोह-मिलन दो
देकर चिर स्नेहालिंगन।"

प्रसाद जी ने भी कहा था :—

"कौन कहता है जगत है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

पंत जी भी जग-जीवन को बड़ा सुहाना कहते हैं :—

"सुंदर से अति सुंदरतर,
सुंदरतर से सुंदरतम।
सुंदर जीवन का क्रम रे
सुंदर सुदर जग-जीवन।"

कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि एक ही सत्ता जगत की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है :—

"एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास
शरत अम्बर में नील विकास
वही उरउर में प्रमोच्छ्वास,
काव्य में रस कुसुमों में वास।"

जीवन-सरिता को कवि शाश्वत मानता है। जीवन और मरण के झूले पर झूलता हुआ जीवन सतत है। सुख-दुःख स्थायी हैं। शाश्वत सत्य तो कहीं और है और वह है आत्मा। सुख-दुःख से परे यह आत्मा चिरंतन है, नित्य है :—

"अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरंतन!
सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन!"

दुख से भय कैसा ? उसी से तो जीवन में निखार आता है :—

"दुख-दावा से नव-अंकुर
पाता जग-जीवन का बन,

करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव-जीवन-कण !"

कहीं-कहीं पंत के प्रकृति-चित्रों में लगता है जैसे वह (प्रकृति) प्रियतम की प्रतीक्षा में बैठी है—

"कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से,
संध्या उदास फिर जाती,
सूने गृह के आँगन से।"

आरंभ में पंत को प्रकृति से अपरिमेय मोह था, पर अनंतर उसे मानव सबसे सुंदरतम लगने लगता है—

"सुंदर है बिहग, सुमन सुंदर,
मानव तुम सबसे सुदरतम।"

इसीलिए 'गुंजन' की 'मानव' रचना में कवि उसे सर्वोच्च स्थान देता है :—

"तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पंदन,
प्राणों के चिर पहचाने।"

समस्त प्रकृति मानव के ही कारण तो हँसती मुसकाती है—

"सीखा तुमसे फूलों ने,
मुख देख मूँद मुसकाना,
तारों ने सजल नयन हो
करुणा-किरणें बरसाना।"

× × ×

"पृथ्वी की प्रिय तारावलि,
जग के बसंत के वैभव !
तुम सहज सत्य, सुंदर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव।"

मानव यदि मानव बना रहे तो उसे क्या कमी है :—

'क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव।"

और मानव को पूर्ण जीवन बनाने के लिए गहराई में प्रवेश करना चाहिए :—

"जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक !
जीवन के अंतस्तल में

नित बूड़ बूड़ रे नाविक !"

इस प्रकार पंत जी ने विचारात्मक गीत भी अनेक रचे है। ।

अब गीत की दो पद्धतियाँ रह गई—सॉनेट एवं एलेजी। यह पद्धतियाँ पंत ने अभी नहीं अपनाई हैं।

अंत में 'युगवाणी' की 'आवेश' की गीत की आठ पंक्तियाँ उद्धृत कर पंत जी के गीति-काव्य से विदा ली जाती है :—

"ज्यों मधुवन में गूंजते भ्रमर,
ज्यों आम्र कुंज में पिकी मुखर,
मेरी उर तंत्री से रह रह
फूटते मधुर गीतों के स्वर।"

× × ×

"गिरि उर से ज्यों बहता निर्झर,
रवि शशि से तिग्म मधुरतर कर,
मेरे मन की आवेश शांति
गीतों में पड़ती बिखर बिखर !"

: ७ :

प्रगतिवाद और पंत

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी की यवनिका के पतन के साथ ही हिन्दी-रंगमंच पर नए-नए वाद जाने-अनजाने चेहरे लगा-लगाकर थिरकने लगे। द्विवेदी जी के निर्देशन में हिन्दी काव्य में इतिवृत्तात्मकता, फलस्वरूप रुक्षता एवं शुष्कता का नृत्य होने लगा। दर्शक के मन का रंजन तनिक भी नहीं हुआ। अतः वह युग चुपके से छायावाद-रहस्यवाद का लबादा ओढ़ आया। द्विवेदी जी के रौबदार चेहरे के सामने यह बेचारे दोनों शिशु सहम गए, पर ज्योंही उन्होंने हिन्दी-स्टेज से उतरना प्रारंभ किया, इन दोनों वादों के जय-जयकार के स्वर से दिशाएँ पूरित हो गई। इस रहस्य का पता जब अन्य वादों को लगा तो वे भी अपना-अपना पार्ट अदा करने के लिए मचल उठे। फलतः हालावाद, झण्डावाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, त्रात्स्की-वाद, गाँधीवाद, प्रयोगवाद, यौनिवाद—न जाने कितने वाद कुलबुला उठे। इनमें से किसी का रोल तो ज़रा लम्बा था पर अधिकांश थोड़ी देर ही अपनी बानगी देकर बिला गए। हालावाद तो अपने गिनेचुने क्षणो में ही—वह भी बिना किसी सहायक के—हिन्दी-दर्शक पर ऐसा अमिट प्रभाव छोड़ गया कि आज भी उसकी स्मृति मन को और का और बना जाती है।

प्र+गम्+क्तिन 'प्रगति' होता है जिसका अर्थ है आगे बढ़ना, और जो साहित्य जीवन को पतन से रोकने एवं आगे बढ़ाने में सहायक हो वह है प्रगतिशील साहित्य। जिस साहित्य में इसका वैपरीत्य हो, विरोधी तत्व हों, जो जीवन को आगे बढ़ने का सम्बल देने के स्थान पर पीछे हटने की ख़ुमारी दे, कटु सत्य से भाग जाने का उकसावा दे, यथार्थ की टकराहट से बच निकलने की राह दे, धरती की मुसीबतों से पलायन करने के लिए आकाश का इशारा दे, वह है प्रतिक्रियावादी साहित्य। प्रश्न स्वयमेव उठता है—क्या सूर, तुलसी, कबीर, भूषण अथवा भारतेन्दु युगीन कवि-लेखकों ने जीवन-समर में जूझने की नहीं कही ? हिन्दी के इतने काल के साहित्य में क्या कोई ऐसा लेखक नहीं हुआ जैसा प्रगति-युग में ? यदि था तो फिर यह प्रगतिवाद नयावाद कैसा ? था, और खूब था, प्रत्येक कलाकार स्व-भावतः प्रगतिशील होता है पर आधुनिक प्रगतिवाद का कुछ और ही अर्थ है। स्वयं पंत के शब्दों में—**"वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा पर आधुनिक प्रगति ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक**

प्रगति के सिद्धांतों का पक्षपाती है।" प्रगति की इस नवीन परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—डायलैक्टिकल मैटीरियलिज़्म।

जगत की प्रत्येक दृश्यमान वस्तु दो भागों में विभक्त की जा सकती है—चेतना (काँसशस) एवं पदार्थ (मैटर)। इनमें से कोई दार्शनिक चेतना को प्रधान मानता है कोई पदार्थ को। कार्ल्स मार्क्स के लिए यही नही कि पदार्थ सत्य है अपितु चेतना मिथ्या है, जिसका जन्म पदार्थ से ही हुआ है। इस भौतिकवाद में दो सिद्धान्तों का योग कर दिया—इतिहास की भौतिक व्याख्या एवं वर्ग-संघर्ष। इन दोनों का योग पाकर भौतिकवाद मार्क्सवाद बन गया।

संसार का मूलाधार पदार्थ है—ऐसा भौतिकवाद मानता है। वाह्य जगत की प्रत्येक घटना का प्रभाव अंतर्जगत पर पड़ता है। मस्तिष्क, आत्मा, ईश्वर जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व भौतिकवादी को स्वीकार्य नहीं। वे केवल उसी वस्तु को स्वीकार करते हैं जिसका अस्तित्व इन्द्रियो अथवा विज्ञान-कक्ष के टैस्ट-ट्यूब द्वारा सिद्ध हो सके। आत्मा, ईश्वर ने प्रयोगशाला में अपने को सिद्ध नहीं होने दिया। अतः मार्क्स के लिए इस नाम और कल्पना मे कोई अंतर नहीं। इनका कहीं अलग अस्तित्व नहीं—पदार्थ का प्रक्षेपण मात्र हैं। अतः यदि वे कहीं हैं भी तो, उसके अनुसार, उनका भी उद्‌भव पदार्थ द्वारा ही हुआ होगा। पर यह पदार्थ गतिहीन (स्टेटिक) नहीं अपितु अनवरत क्रियाशील (in a constant flux) रहता है और यह गति भी स्वयंमेव होती रहती है, ईश्वर जैसे किसी अन्य सहायक, एजेन्सी, की आवश्यकता नहीं पड़ती। पदार्थ में आप से आप स्वस्थ और अस्वस्थ—दोनों प्रकार के तत्त्वों का समावेश रहता है जिनमें सतत संघर्ष होता रहता है। उसी संघर्ष का परिणाम गतिशीलता है। आधिभौतिक सत्ता ही जगत में सब कुछ है—आधिदैविक एवं आध्यात्मिक सत्ताएँ पण्डे-पुजारियों द्वारा निर्मित छलनाएँ मात्र हैं। धर्म को मार्क्स, इसीलिए, अफीम मानता था जिसे खिल-खिलाकर निम्न वर्ग की विद्रोही भावनाएँ सदा सुलाई गई। इतिहास की भौतिक व्याख्या करते हुए भी मार्क्स ने बताया कि समाज में सदैव से वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) चला आ रहा है। अर्थपतियों (Haves) एवं अर्थहीनों (Haves-not) का संघर्ष उसी क्षण प्रारंभ हो गया जिस क्षण जीवन ने धरती पर साँस ली। सर्वहारा (प्रौलेटेरियट) वर्ग ने अपने कंधे पर बलपूर्वक लादे गए जुए को फेंकने के लिए अहर्निश संघर्ष किया है पर धनिक वर्ग ने उसे ईश्वर, धर्म, भाग्य का नाम ले लेकर सदैव चुप कर दिया है। वर्तमान युग में भी दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष जारी है—पूँजीवाद एवं समाजवाद का। पूँजीवाद साम्राज्य की छाँह में पलता है, समाजवाद जनसाधारण का मुँह हो जाता है। पूँजीवाद पैसों की चमक से श्रम खरीद लेता है—माटी के मोल। बड़ी-बडी फैक्टरियाँ, बड़ी-बड़ी मिलें खोल देता है वह। श्रमिकों को चार पैसे देकर वह उनसे आठ पैसों का काम कराता है। फल यह होता है कि इन चार-चार पैसों से उसके पास एक दिन इतनी

पूँजी जमा हो जाती है कि वह अन्य देशों में भी अपने पैर पसार देता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद का जन्म होता है। समाजवाद इसके नितांत विरुद्ध होता है। एक ओर वह मज़दूरों से कहता है—'दुनिया के मज़दूरो एक हो जाओ', उधर जन-साधारण में अपना मंत्र फूँक देता है—और वह यह कि प्रत्येक मनुष्य से उसकी सामर्थ्यानुसार काम लेना चाहिए और आवश्यकतानुसार देना चाहिए। कितने शिशु बिना कौर के ही दम तोड़ देते हैं, उधर पूँजीपतियों के कुत्तों का पेट भर जाने पर भी दूध में स्नान कराया जाता है। पूँजीपति बन्दरों को माल खिलाकर, मानव के मुँह में पहुँचे हुए कौर को छिनाकर, अपने साथियों की निगाहों में ऊँचा उठने का उपक्रम रचता है। निराला जी से ऐसी बात भला कैसे अनदेखी रह जाती—

"झोली से पुए निकाल लिए,
बढ़ते कपियों के हाथ दिए।
देखा भी नहीं उधर फिर कर,
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।"

प्रगतिवादी इन्हीं दुखियारों की हिमायत करने घर से निकल आता है—बाबू जी बनकर नहीं अपितु डंडा लेकर, लाठी लेकर, बंदूक लेकर। पूँजीवादी, साम्राज्य-वादी जैसी विरोधी शक्तियों को वह बलपूर्वक विनष्ट कर देने के लिए कटि-बद्ध है। अतः प्रगतिवाद का प्रमुख स्वर क्रांति का है, कांति अथवा शांति का नहीं। यह क्राति साहित्य के कला एव भाव दोनों पक्षों में हुई। जिस देश ने साम्राज्य-वादियों के विरुद्ध हथियार उठाए वे प्रगतिवादी काव्य की विषय-वस्तु बन गए। रूस की अक्तूबर क्रांति का इसीलिए इतना यशोगान हुआ।

इतिहास की भौतिक व्याख्यानुसार मार्क्स ने सिद्ध कर दिया कि उत्पादन के साधनों के अनुसार युग बदलते रहे—**"भौतिक उत्पादन के साधन ही जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। सामाजिक जीवन चेतना का नियंत्रण करता है, इसका विलोम नहीं होता।"** समाज की चिंतन-धारा उत्पादन के साधनों के अनुसार बदलती रहती है। प्रकृति के पुरातनता का निर्मोक छूट पड़ता है और समाज में नए मूल्यों की स्थापना होती रहती है। 'आधु-निक कवि' के 'पर्यालोचन' में पंत जी ने भारतीय इतिहास की भौतिक व्याख्या की है। आदियुग पशुजीवी युग था और उत्पादन का साधन पशु-पालन। अनंतर कृषि-युग आया—राम और कृष्ण का युग। उत्पादन का साधन बदल गया। पशु-पालन का स्थान खेती ने ले लिया। समाज में आमूल परिवर्तन हो गया। **"स्थिर एवं सुव्यवस्थित कृषि-जीवन की व्यवस्था पशु-जीवियों की कष्टसाध्य अस्थिर जीवन-चर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि-संस्कृति ही की देन है।"** पशु-पालन युग में यौन संबंध अनियंत्रित थे। राम ने एक-नारी व्रत का शंख फूँका और वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए। इसकी प्रतिक्रिया

कृष्णायुग में हुई। **"सामंत युग की नैतिकता के तंग अहाते के भीतर श्रीकृष्ण ने, विभव युग के नर-नारियों के सदाचार में भी क्रांति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ, अभ्युदय के युग में, फिर से गोप संस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखाई देती हैं।"** और आज है यंत्र युग ! पंत जी के ही अनुसार **"जिस प्रकार कृषि-युग ने पशुजीवी युग के मनुष्य की अंतर्वाह्य चेतना में प्रकारांतर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार यंत्र का आगमन सामंत युग की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है।"** इसी बात को कविता में वे इस प्रकार कहते हैं—

> **"विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,**
> **युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।**
> **सामाजिक संबंध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,**
> **नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव नव दर्शन।।"**

संक्षेप में, प्रारम्भ से ही नवीन आर्थिक व्यवस्थानुसार राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन होते रहे हैं। **"साथ ही उत्पादन के नवीन यंत्रों पर जिस वर्ग विशेष का अधिकार रहा है उसके हाथ जन-साधारण के शोषण का हथियार भी लगा है और उसी ने जन-समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है।"** और साथ-साथ वर्गों में पारस्परिक संघर्ष भी होता रहा है। इतिहास की इसी भौतिक व्याख्या के प्रभाव ने कविवर पंत को—कल्पना-जीवी, छायावादी पंत को प्रगतिवादी बना दिया।

जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है 'गुंजन' से पंत की कल्पना कुछ डगमगाने सी लगी थी। 'युगांत' में आकर कवि ने अपने सौंदर्य-युग का पूर्णतया अंत कर दिया। अपने आगे के 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' काव्यों में वह उपर्युक्त विचारों से इतना आक्रांत हो गया कि पल्लव-कालीन कल्पना को नमस्कार कर यथार्थ धरती का गायक बन बैठा, आकाश की मोहक नीलिमा को अँगूठा दिखाकर ठोस भूमि की हरीतिमा पर मर मिटा, सत्य, शिवं, सुंदरम् की कौलौनी पीछे छोड़कर उस मुहल्ले में जा धमका जिसमें रोटी, कपड़ा और मकान के नारे लग रहे थे। उस युग के पंत के विषय में शांतिप्रिय द्विवेदी ने कहा—**"पहले उन्होंने छायावाद की ललित कला दी थी आज समाजवाद की वस्तुकला दे रहे हैं। पहले उन्होंने 'भू पलकों पर स्वप्न जाल-सी' छाया का रेशमी संसार बुन दिया था. आज वे भू पृष्ठों पर जीवन के स्थापत्य के कठिन उपकरण चुन रहे हैं। आज वे सौंदर्य के नये आकार और जीवन के नये नीड़ की रचना कर रहे हैं।"** छायावाद की कुहेलिका से निकलकर कवि वास्तविक जगत में क्यों आ गया, इसका भी उसने कारण दिया है—**"कविता के स्वप्न-भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आए ? ······इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण किया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने**

वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा और काव्य की स्वप्न जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिर-संचित सुख-स्वप्नों को चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ा है।"[१]

पंत जी को विश्वास है कि प्राचीन मूल्यो के बिना विनष्ट हुए जगत का. कल्याण नहीं। सडी-गली परंपराओं को छाती से चिपकाए रहना प्रगति में सबसे बड़ा बाधक है, जगती के जीर्ण-शीर्ण पत्र अब किस काम के ?

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त-ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण।
हिम-ताप-पीत मधुपात भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन।"

पर यह जीर्ण पत्र इतनी आसानी से गिरने वाले नहीं, रूढ़ियों का गहरा रंग इतनी शीघ्रता से फीका पडने वाला नहीं। कविवर 'नवीन' की इच्छा थी कि उथल-पुथल मच जाए ताकि 'जीर्ण पत्र' स्वयमेव ही ख़ाक हो जायँ :—

"कवि ! कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए।
प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशों का
धुआँ धार जग में छा जाए।"

कुछ ऐसी ही दशा हमारे पंत जी की है। अब उन्हें कोयल की मधुर तान से मोह नहीं, उनकी तो उससे यही प्रार्थना है कि वह पावक कण बरसा उठे ताकि जिनमें जीने का दम नहीं वे स्वयमेव मर जाएँ :—

"गा, कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रष्ट जग के जड़ बंधन।
पावक पग धर आवें नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन।"

प्रगतिवादियों का परम ध्येय है दुःखियों के आँसू पोंछना एवं दुःखदाइयों को

---

१. **'रूपाभ' प्रथम अंक**

जी भर कोसना, शोषितों की वकालत करना एवं शोषकों को नग-शिखर से धकेलना, रोने वालों के अश्रु पोंछने के लिए आगे बढ़ना एवं रुलाने वाले के हृदय में दुधारा आर-पार कर देना, लकुटिया टेक कर चलने वाले, पेट-पीठ मिले हुए व्यक्ति को गिरने से पूर्व ही सँभाल लेना एवं मोटाई के कारण बैठ तक न सकने वालों को मौत के घाट उतार देना। इस प्रकार निबंधिनीकार के अनुसार प्रगतिवादी रवि उस जनता एवं व्यथा का चित्रकार बना जो अपनी हृदय ज्वाला को, लाचार गरीबी और निस्सहाय वेदना को कभी कह नहीं सका, जिनके आलोड़ित भाव आजीवन ओंठ पर आकार ही मिट गए, जिनकी निर्जीव निःश्वासे चिता की लपटों के साथ ही बाहर निकलीं और जिनकी बेबस वेदना निराश आँखों के कोनों में ही सूख गई। इस तरह प्रगतिवादी मार्क्सवाद, साम्यवाद एतं यथार्थवाद के तिराहे पर जा खड़ा हुआ। प्रगतिवादी साहित्य भी अब भाव का नही अभाव का साहित्य रह गया। बहुतों को तो प्रगतिवाद इसीलिए बुरा लगा कि इसका सम्बन्ध साम्यवाद से है। स्वयं पंत ने 'उत्तरा' की भूमिका (पृष्ठ २) मे लिखा है—"**हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्गयुद्ध की भावनाओं से सम्बन्धित साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते है, उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनववादी, सुधार-जागरणवादी तथा युग्म-चेतना से पीड़ित दिखाई देती हैं। वे आलोचक आपने सांस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों मे कम्युनिस्ट भी हैं।**"—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी यही कहते हैं, "**प्रगतिवादियों के सिद्धान्त और उद्देश्य तो बहुत सुंदर हैं किंतु ये लोग कम्युनिस्टपार्टी के साथ जुड़े हैं—यही ज़रा खटकता है।**" यह खटकना कुछ सीमा तक ठीक है—कुछ सीमा तक—केवल उस विन्दु तक जिस तक डा० रांगेय राघव कहते हैं, "**रूढ़िगत मार्क्सवादी तो कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेज़ पर लिखने को ही कला कहते हैं।**"[1] पर प्रत्येक प्रगतिवादी को रूढ़िगत मार्क्सवादी मान लेना और यह विश्वास बना लेना कि वह कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करके ही हमारे सम्मुख आता है कहाँ तक समीचीन है? कवि ने गाँव और नगर का वैषम्य देखा—उसने देखा कि समस्त ग्राम-श्री चरमर-चरमर करती हुई भैंसागाड़ी में लदकर शहर में आ जाती है। वह कराह उठा। नरेन्द्र शर्मा ने भगवती बाबू के इस चित्र के विषय में कहा—"**ऐसा लगता है कि जब गाँव की विभीषिका को सहन न कर सकने के कारण गऊ के जाए बैल मर-खप गए तब भैंसे ही रह गए ग्राम-व्यवस्था के छकड़े को खींचने के लिए—चरमर चरमर चूं चरर मरर जा रही चली भैंसागाड़ी—वह भैंसागाड़ी अनाज ढोकर शहर की मण्डी को जाती है और आती है तो लाती है मुर्दनी का**

---

१. "आलोचना" अक्तूबर १९५३, पृष्ठ ६३

बोझ ढोकर।" प्रगतिवादी ने इसी मुर्दनी ढोने वाले गाड़ीवान की व्यथा मुखरित की, आँसू पोंछने को प्रसाद जी ने आह्वान किया :—

"इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे?"

पंत जी ने इसे सुना। व्यक्तिवादी दायरे को छोड़कर अब वे भीड़ के कवि हो गए :—

"सर्वमुक्ति हो मुक्ति तत्त्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब।"

इतना ही नहीं कि उन्होंने इतर प्राणियों की पीडा लख मुँह नहीं मोड़ा अपितु जिन्होंने नीलाकाश की ओर मुँह भी कर लिया उन्हें 'पुण्य-प्रसू' में भू देखने की ललकार लगाई :—

"ताक रहे हो गगन?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन?
अनिमेष, अचितवन, काल-नयन?
नि:स्पंद शून्य, निर्जन, नि:स्वन?
देखो भू को!
जीव प्रसू को!"

कैसी भू?—

"हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कुंजित गुंजित
कुसुमित
भू को!

× × ×

जिस पर अंकित
सुर-मुनि-वंदित
मानव-पद-तल!"

'युगवाणी' और उससे भी अधिक 'ग्राम्या' में पंत जी ने यथार्थ चित्र खींचे। 'ग्राम्या' के निवेदन में उन्होंने लिखा, **"इनमें (अर्थात् ग्रम्या की रचनाओं में) पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम जीवन में मिलकर उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गई हैं।"** इस 'बौद्धिक सहानुभूति' पर बड़ा हो-हल्ला मचा। पर उन्होंने यह नहीं सोचा कि गाँव की छाया भी न देखने वाले, सदा कोमलातिकोमल कुसुमों की माला गूँथने वाले कवि ने यदि 'मिट्टी से भी मटमैले तन' वालों को 'बौद्धिक सहानुभूति' भी दे दी तो क्या कम

किया ? पंत के प्रगतिवाद की ओर सरक आने के विषय में डा० रामविलास जी ने लिखा, "कविता में सबसे पहले पंत ने छायावाद से नाता तोड़ा परन्तु नाता पुराना था एक बारगी इतनी आसानी से टूट कैसे जाता ? पंत जी से लोगों को शिकायत है कि वह पहले की ही तरह स्वप्न-सौंदर्य पर कविता क्यों नहीं लिखते ? मुझे ऐसा लगता है कि वह स्वप्न सौंदर्य से काफी दूर चला जाना चाहते हैं परन्तु वह उन्हें अपनी ओर घसीट लाता है। फिर भी 'ग्राम्या' में उन्होंने प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न उस व्यक्ति का है जो स्वभाव से दुनिया की भीड़ भाड़ से दूर रहने वाला था। हिन्दी के अन्य कवि तो गाँव की धूल में ही पले हैं। उनके लिए नए ढग की कविता एक स्वाभाविक वस्तु हो जाती है। पंत जी के भीतर अब भी एक संघर्ष है जो समाप्त नहीं हुआ।" 'बौद्धिक सहानुभूति' के इस भ्रम को स्वयं पंत जी ने 'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' (पृष्ठ ३४) में दूर करने का प्रयास किया है—"ग्राम-जीवन में मिलकर उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने 'ग्राम-जनता को 'रक्त-माँस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है और ग्रामों को सामंत युग के खंडहर के रूप में।

"यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।
मानव दुर्गति की गाथा से ओत-प्रोत, मर्मांतक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक।"

इसी ग्राम्य को मैंने ग्राम्या की रंगहीन रंगभूमि बनाया है।

"रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ, जाति पाति के बंधन,
नियत कर्म हैं, नियत कर्मफल,—जीवन चक्र सनातन !"

× × × जनता की इस सांस्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचारधारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ। × × × यदि मुझे सामंत युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता,—'इस तालाब में (जन मन में) काई लग गई है, इसे हटाना भर है, इसके अंदर का जल अभी निर्मल है।' जो पुनर्जागरण की ओर लक्ष्य करता। पर मैंने लिखा है,—'इस तालाब का पानी सड़ गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं चलेगा, उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति) भरना पड़ेगा।'—जो सांस्कृतिक क्रांति की ओर लक्ष्य करता है। मैंने 'यहाँ धरा का मुख कुरूप है' ही नहीं कहा है 'कुत्सित गर्हित जग का जीवन' भी कहा। जहाँ आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता है वहाँ केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है ? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा-प्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा

हमें आगे नहीं ले जा सकता। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया काव्य (पिटी पोयट्री) से मैंने 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्रामवधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण यह बातें सहज ही में आ सकती थीं।"

'श्रमजीवी' का चित्र निहारिये — कैसा हूबहू है :—

"मूढ़, अशिक्षित,—सभ्य शिक्षितों से वह शिक्षित,
विश्व, उपेक्षित,—शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित।"

× × ×

भूख प्यास से पीड़ित उसकी भद्दी आकृति
स्पष्ट कथा कहती,—कैसी इस युग की संस्कृति!"

'ग्राम चित्र' वस्तुतः अत्यंत ही स्पष्ट है! वर्तमान युग का ग्राम और होता ही कैसा है! जीवन की चहल-पहल अब वहाँ कहाँ? प्रभात संदेशविहीन, संध्या उदासी से लिपटी हुई एवं दोपहरी स्वप्नों की छाया सी आती है—

"यहाँ खर्व नर (वानर?) रहते युग-युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।"

कवि को संदेह हो उठता है कि क्या ग्राम वास्तव में मानव-लोक है, क्या यहाँ तनिक भी सभ्यता या संस्कृति है—

"झाड़ फूँस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर?
कीड़ों से रेंगते कौन ये? बुद्धि प्राण नारी-नर?"

यहाँ की क्षुद्रता, विवशता, कलह देखकर दया आये बिना नहीं रहती—

"प्रकृति धाम यह : तृण-तृण, कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत!!"

ग्रामीणों को कवि 'कठपुतले' ठीक ही कहता है—

"ये जीवित हैं या जीवन्मृत!
या किसी काल विष से मूर्च्छित?
ये मनुजाकृति ग्रामिक अगणित!
स्थावर, विषण्ण, जड़वत्, स्तंभित!

× × ×

"ये मानव नहीं जीव शापित,
चेतना विहीन आत्म विस्मृत!"

'वे आँखे' देखकर कितना भय लगता है—

"अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दु:ख का नीरव रोदन!"

कूर्मांचल प्रदेश के कुसुमों को चुनने वाले कवि की आँखें गाँव के लड़कों की ओर उठ गई। आपने भी शायद देखे होंगे ? ऐसे ही तो होते हैं—

"मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,—
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन।"

नीचे का चित्र कितना स्पष्ट है—

"कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृशबाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सा टाँगे, बड़ा पेट,
टेढ़े मेढ़े, विकलांग घृणित !"

'वह बुड्ढा' में बौद्धिक सहानुभूति की अपेक्षा हार्दिक सहानुभूति अधिक है। प्रारंभ की पंक्तियाँ निहारिए :—

"खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटीं,—
पतझर में ठूंठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो चिपटी।"

उसके लम्बे डीलडौल को देखकर कवि ठीक ही सोच निकलता है कि किसी दिन इस खण्डहर शरीर में भी उन्मुक्त जवानी दौड़ी होगी—

"बैठी छाती की हड्डी अब
झुकी रीढ़ कमठा सी टेढ़ी,
पिचका पेट, गढ़े कंधों पर,
फटी बिवाई से हैं एड़ी।"

यह पढ़कर निराला की चिर नवीन 'भिक्षुक' की लकीरे याद हो आती हैं—

"पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक।"

जिस समय पंत का बुड्ढा सलाम झुकाता है, उस समय का दृश्य करुणा का कितना गहरा रंग छोड़ जाता है—

"बैठ, टेक धरती पर माथा
वह सलाम करता है झुककर,

उस धरती से पाँव उठा लेने को
जी करता है क्षण भर!
घुटनों से मुड़ उसकी लम्बी
टाँगें जाँघें सटी परस्पर
झुका बीच में शीश, झुर्रियों का,
झाँझर मुख निकला बाहर।"

अंत में पाठक लेखक के साथ ही कह निकलता है--

"काली नारकीय छाया निज
छोड़ गया वह मेरे भीतर,
पैशाचिक सा कुछ दुःखों से
मनुज गया शायद उसमें मर!"

ग्राम की वधू पति के घर जा रही है—सबसे रोकर मिल चुकी है। जब जाने के लिए क़दम उठा ही लेती है तो माँ, मौसी आदि कैसी सीख देती हैं--

"मा कहती—रखना सँभाल घर,
मौसी,--धनि, लाना गोदी भर,
सखियाँ,—जाना हमें मत बिसर,"

बिल्कुल यथार्थ बात है--बिल्कुल नेचुरल। पर आगे की पंक्तियाँ अविश्वसनीय-सी लगती हैं--ग्राम की धनि भरे डिब्बे में अपने पति से इतना हँसकर बात नहीं कर सकतीं जितना पंत जी सोचते हैं।

मानव ने मानव को किस धरातल पर खड़ा कर दिया है। उन्हें देखकर यह विश्वास नहीं होता कि वे वस्तुतः मानव-संतान हैं--

"इन कीड़ों का भी मनुज बीज,
यह सोच हृदय आता पसीज।"

एक बार तो कम से कम पेट भर ही जाय—दुखी बिचारे अहर्निश इसी चिंता में लगे रहते हैं, उन्हें इतनी फुर्सत कहाँ कि वे प्रकृति-सौंदर्य की प्रशंसा कर सकें, निहार भी सकें--

"कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख?"

जीवन के लिए आज प्राचीन सत्य झूठा पड़ गया है। 'धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण' को आज कौन पूछे, आज तो

"सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली।
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली, पीली॥"

ही परम सत्य हैं।

इस प्रकार आकाश छोड़कर पंत जी युगवाणी-ग्राम्या काल में गाँव के भीतर चले आए, भाव के कुंज से अभाव की मेंड़ पर जा खड़े हुए। पर वे उन नारकीय ग्रामों

में अधिक देर नहीं ठहर सके, उनका सौंदर्य-लोभी मन घूरों के देश में अधिक नहीं रम सका। इसी को लक्ष्य करके डा० रामविलास जी ने लिखा, **"पंत जी ने दर्शन और अर्थशास्त्र के अनेक सूत्रों को पद्यबद्ध किया है—और सदा उनके मूल रूप की रक्षा भी नहीं कर पाए हैं—लेकिन उनका असली रूप सौंदर्यवादी का है, उसे वह छोड़ नहीं पाए। सौंदर्यवादी का रूप सदा सुन्दर नहीं होता, वह व्यक्तिगत और कृत्रिमता के दायरे में बंद रहता है लेकिन पंत जी जब कोशिश करके लोक-जीवन के नजदीक आते हैं तब मानों जुल्फें सँभालते हुए, पतलून की क्रीज का ध्यान रखते हुए। प्रगतिशील विचारधारा से उनकी 'बौद्धिक सहानुभूति' का यही रहस्य है।"**

प्रगतिवादी दीन-दुखी के आँसू पोंछने के लिए ही अपना हाथ नहीं बढ़ाता अपितु, जैसा कि मैंने प्रारभ मे कहा, उनकी आँखों में आँसू लानेवालों का सर तोड़ने के लिए भी आस्तीनें ऊँची किए रहता है। वह जानता है कि एक की मोटाई न जाने कितनों को ठठरी बना चुकी है, एक का स्मित न जाने कितनों की आँखों को गीला कर चुका होता है। एक का महत्त्व न जाने कितने घरों के अस्तित्व को पौंछ चुका होता है। ऐसे के प्रति प्रगतिवादी कवि का आक्रोश स्वाभाविक है। 'युग वाणी' में वे धनपतियों को, जिन्हें अपने जीविकोपार्जन के हेतु किसी प्रकार का कोई श्रम नहीं करना पड़ता, लोक जग के 'नृशंस' कहते हैं। पत जी का यह कथन भी रेखांकित करने योग्य है कि श्रम की अनुपस्थिति के कारण ही कुबेरों में अनैतिकता अनिवार्यत: पाई जाती है। उनका चित्र कवि इन शब्दों में खींचता है—

"शय्या की क्रीड़ा कंदुक है जिनको नारी,
अहंमन्य वे, मूढ़, अर्थबल के व्यभिचारी।
सुरांगना, संपदा, सुराओं से संसेवित,
नरपशु वे: भू भार: मनुजता जिनसे लज्जित।
दर्पी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित,
गत संस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत।"

पर युग उनकी यह हरकतें कब तक सहन करता रहेगा? आखिर कभी न कभी तो कुबेरों की मीनार भरभराकर गिर ही पड़ेगी—और गिरेगी अवश्य। कवि पंत का तो विश्वास है कि उनका अंत बस आ ही गया :—

"अब न प्रयोजन उनका अंतिम हैं उनके क्षण।"

अतीत के सामंत-महंत भी तो बिला गए :—

"मुखियों के, कुलपति, सामंत, महंतों के वैभव क्षण,
बिला गए बहु राज-तंत्र, सागर में ज्यों बुद्-बुद् कण।"

वर्तमान साम्राज्यवाद भी ढह जायगा :—

"अस्त आज साम्राज्यवाद, धनपति वर्गो का शासन,
प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन।"

साम्राज्यवाद के ध्वंस के अनंतर ही साम्यवाद की शहनाइयाँ बज निकलेंगी—

"साम्यवाद के साथ स्वर्णयुग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।"

थोड़े दिनों बाद ही :—

"जनयुग की स्वर्णिम किरणों से होगी भू आलोकित।"

इसीलिए साम्यवाद के जनक मार्क्स के समक्ष पंत जी नत है :—

"धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु-से प्रकट हुए प्रलयंकर।"

प्रगतिवादी नर पर ही आँसू नहीं बहाता, उसकी दृष्टि शोषित नारी की ओर भी जाती है। जिन दिनों पंत जी का मन प्राकृतिक सौंदर्य की लहरों पर दोलायमान था उन दिनों उन्हें नारी से मानो कोई सरोकार ही नहीं था। द्रुमों की मृदु छाया, प्रकृति का स्नेह, तरल तरंगें, इन्द्रधनुष के रंग, कोयल के बोल, किसलय-दल, मधुकर की वीणा के समक्ष नारी के वाल-जाल, भ्रू भंग, अधरामृत आदि कुछ भी तो नहीं थे। इसीलिए वह बाला की मनुहारों की ओर ध्यान ही नहीं देता पर 'ग्रंथि' की ओर उसका इस स्वर्ग से भी परिचय हो गया। फिर जब कवि ने देखा कि बालिका के छूने में प्राण, साथ में गंगा स्नान, वाणी में त्रिवेणी की लहरों का गान, चितवन में प्रात, उर के भीतर स्वर्ग आदि थे तो फिर उसका ध्यान उस प्रकृति से हटकर इस प्रकृति की ओर भी गया। कान से मिले नयनों वाली सरला को निहारकर वह निजत्व भूल गया, वंदना कर निकला :—

"स्वप्नमयि ! हे मायामयि !
तुम्हीं हो स्पृहा अश्रु औ' हास,
सृष्टि के उर की साँस,
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान।
तुम्हीं स्वर्गिक आभास;
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान;
"देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण ! !"

और तभी उसे नारी के रोम-रोम से प्रीति हो गई :—

"स्नेहमयि ! सुन्दरतामयि !
तुम्हारे रोम-रोम से, नारि !
मुझे है स्नेह अपार,"

और तभी से उन्होंने नारी के शतमुख होकर गीत गाए हैं—वह भी प्रत्येक प्रकार की नारी के—प्राचीना से लेकर आधुनिका (जिसे वे फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी—सब कुछ कह देते हैं) तक के, पर सोचने योग्य उम्र पाने पर

कवि ने देखा कि उसकी देवि, माँ, सहचरि, प्राण नर की 'पैर की जूती' है तो वह हुंकार उठा :—

"मुक्त करो नारी को मानव !
मुक्त करो नारी को !"

एवं

"नारी हो स्वतंत्र जैसे नर !"

कवि के हृदय को बड़ी ठेस लगी यह देखकर कि मानव के समक्ष मानवी का कोई मूल्य ही नहीं है। उसका जीवन, जैसा कि लेनिन ने क्लैरा को बताया था, दिन-प्रतिदिन का बलिदान है, वह उसकी सेज़ की कंदुक है, भोजनमात्र है, वह भी तब जब पुरुष को उसकी भूख हो। सामंतयुगीन नारी की इस दयनीय दशा का चित्र पंत ने इन पंक्तियों में दिया :—

"वह नर की छाया नारी।
चिरनमित नयन, पर विजड़ित,
वह चकित, भीत हिरनी सी
निज चरण चाप से शंकित।
मानव की चिर सहधर्मिण,
युग-युग से मुख अवगुंठित,
स्थापित घर के कोने में
वह दीप-शिखा सी कंपित !"

'नारी' में वे नारी पर इस प्रकार अश्रु ढुलकाते हैं :—

"युग-युग की बंदिनी, देह की कारा में निज सीमित,
वह अदृश्य अस्पृश्य विश्व की, गृह पशु सी ही जीवित !"

× × ×

"अंग अंग उसका नर के वासना चिह्न से मुद्रित,
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पर लुंठित।"

स्त्री की यह दशा साम्राज्यवाद की दीवाल के गिरते ही सुधर जायगी। वर्तमान काल में भी तो सामंतकालीन चिह्न प्राप्य हैं, अतः जब यह चिह्न धुल जाएँग नारी सही अर्थों में नारी बन जायगी। सामंतयुगीन स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में पंत जी 'आधुनिक कवि' के पर्यालोचन (पृ० २६) में अपने विचार इस तरह व्यक्त करते हैं—"**सामंत युग के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अचल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बालविधवा अपनी छाती से चिपकाये हुई है और दूसरे छोर को उस युग की दीन वेश्या। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए**

कोई स्थान नहीं और वह पुरुष भी सम्पत्ति समझी जाती रही है। स्त्री स्वातंत्र्य सम्बन्धी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन अधिकार सम्बन्धी आन्दोलन बूर्ज्वा संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामंत युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।

"सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।
वह समाज की नहीं इकाई—शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलंबित।
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।"

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामन्त युग की क्षुद्र नैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं ही से युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यंत्र-युग प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा-काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्, की धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित कर सकेगा।"

'ग्राम्या' की 'मज़दूरनी के प्रति' रचना पल्लवकार के मन-विपर्यय की उद्घोषक है। अब कवि को अपने ही शोभा-भार से कुम्हलाती, सुभग रेशमी वसनों में लिपटी, प्रणय-कुंज में प्रात-साँझ कूजन करने वाली, केवल हास विलासमयी नारी में सौन्दर्य नहीं रह गया। ऐसी नारी को तो वह घरदेहरी छोड़ बाहर आने का प्रश्न करता है.—

"क्षुधित व्यथित मानव रोता
जीवन पथ द्वारा
सह दुःसह उत्पीड़न!
छोड़ स्वर्ण पिंजर
न निकल आओगी बाहर
खोल वंश अवगुंठन!
युग-युग से दुःख कातर
द्वार खड़े नारी नर
देते तुम्हें निमन्त्रण।"

इसीलिए साधारण मजदूर के साथ काम करती हुई साधारणतर मजदूरनी अब कवि का मन हरती है। उसके फटे हाथों में अब कविता की मुस्कान कवि निहारता है, बिवाई से फटी एड़ियों में सौन्दर्य का चरमबिंदु देखता है। अब उसे ऐसी एड़ियाँ नहीं भातीं जो गुलाब के झाग से लाल हो जायँ—

"जो बँटा रहीं तुम जग जीवन का काम काज
तुम प्रिय हो मुझे : न छूती तुमको काम लाज।"

काम करती मज़दूरनी का चित्र कितना भव्य है :—

"सर से अंचल खिसका है,—धूल भरा जूड़ा,—
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा,
हँसती, बतलाती सहोदरा सी जन जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से।"

इस दशा में मज़दूरनी कवि को अत्यन्त स्पृहणीय हो गई है :—

"कुलवधू सुलभ संरक्षणता से हो वंचित,
निज बंधन खो, तुमने स्वतन्त्रता की अर्जित।
स्त्री नहीं आज मानवी बन गईं तुम निश्चित,
जिसके प्रिय अंगों को छू अनिलातप पुलकित।"

प्रगतिवादी कवि के लिए आदर्श का प्राचीन मूल्य निरर्थक है। नव 'मूल्यांकन' कवि ने 'युग वाणी' में इन शब्दों में किया है :—

"आज सत्य, शिव, सुन्दर करता
नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट औ' संस्कृत लगते
मन को केवल कुत्सित।"

'ग्राम कवि' में भी यही बात है :—

"यहाँ धरा का मुख कुरूप है
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन?
जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन!"

प्रगतिवादी पंत को कूड़े-करकट में ही सौंदर्य-प्राप्ति हुई :—

"आज असुन्दर लगते सुन्दर
प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर
मानव मुख हरता मन।
मूढ़, असभ्य, उपेक्षित, दूषित ही
भू के उपकारक।"

और हम देखते हैं कि उन्हें वास्तव में ही असुन्दर सुन्दर लग निकले। प्रसाद-वासी की अपेक्षा 'श्रमजीवी' सुन्दर है :—

"मूढ़, अशिक्षित,—सभ्य शिक्षितों से वह शिक्षित,
विश्व उपेक्षित,—शिष्ट संस्कृतों से मनुजोचित।
दैन्य कष्ट कुंठित,—सुन्दर है उसका आनन,
गंदे गात वसन हों, पावन श्रम का जीवन।"

कवि को छह-सात साल के पासी के लड़कों की, जो

"सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली"

निधियाँ बटोर रहे हैं—

"सुन्दर लगती नग्न देह, मोहनी नयन-मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन।"

रेशम में लिपटे अलंकारों से सजे प्रभु-शिशु का सौन्दर्य नंगे तन, गदबदे, सहज छबीले, मिट्टी के मटमैले पुतलों के समक्ष फीका पड़ गया। आज धर्म, नीति, सदाचार के मूल्यों की माप जनहित और केवल जनहित है। जो जनता से प्राण-सम्बन्धित नहीं वह सत्य नहीं, जो भौतिक जीवन में सहायता करने आगे नहीं बढ़े वह शिव नहीं, जो स्वाभाविक नहीं, नैसर्गिक नहीं, उसमें सौन्दर्य कहाँ ? प्रगतिवादी, इसीलिए, जीवन को, उसके प्रकृत रूप में देखने का इच्छुक है। इस दिशा में वह फ्रायड साहब का पटु शिष्य है जिसके अनुसार प्रकृत भावनाओं का गोपन, दमन, संयम ग्रंथियों (Complexes) को जन्म देता है। क्षुधा-काम वृत्तियों को ज्यों-का-त्यों कागज पर उतारने में प्रगतिवादी नहीं हिचकिचाता। मनोविकारों को मुक्त हस्त से खिलाया करता है। फ्रायडवाद की आलोचना डा० शर्मा ने यूँ की—**फ्रायड का मनोविज्ञान चाहे सही हो या गलत साहित्यकार को उससे पहला फायदा तो यह होता है कि मनोविज्ञान के नाम पर वह उस तमाम गन्दगी का चित्रण कर सकता है जो बिना उसके सहारे अक्षम्य है।"**[1]

चुम्बन न लेने देने वाले बुजुर्ग से कवि कह उठा :—

"यों भुज भरकर हिये लगाना है क्या कोई पाप?
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप-कलाप?

'द्वन्द्व प्रणय' में यही बात पंत जी ने कह दी :—

"धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुंबन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन

---

१. डा० रामविलास शर्मा—प्रगति और परम्परा

तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर !
क्या गुह्य, क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान !
नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ?"

पंत जी का विश्वास है कि जीवन का सौंदर्य प्रेमार्त प्राणों के मंजुल मिलन में ही है, अधरों की पारस्परिक टकराहट में ही है, कपोलों पर चुंबन-चिह्न छोड़ने में ही है। काम तो क्षुधा-प्यास का जन्मजात है :—

"क्या सुधा तृषा औ' स्वप्न जागरण सा सुंदर
है नहीं काम भी नैसर्गिक जीवन द्योतक ?"

दार्शनिक रेनन ने इसीलिए तो कहा था कि **"नारी के साथ संभोग करना उसकी पूजा करना है।"** हिचकिचाते मानव से तो, इस दृष्टि से, पंत ज़ी के अनुसार, पशु-पक्षी उच्चतर है जो

"खग युग्म गान गा करते मधुर प्रणय अनुभव,
मृग मिथुन शृंग से अंगों को कर मृदु मर्दित।"

अन्त में, इसी कविता में, कवि मनोविकारों के दमनकर्त्ताओं को सीख देता है—

"मत कहो मांस की दुर्बलता, हे जीव प्रवर!
है पुण्य तीर्थ नर नारी जन का हृदय-मिलन,
आनंदित होओ, गर्वित, यह जीवन का वर
गौरव दो द्वन्द्व प्रणय को, पृथ्वी हो पावन !"

इस प्रकार प्रगतिवादी भाव का न होकर विचार का साहित्य बना। भावों एवं विचारों के इस परिवर्तन के साथ ही साथ अभिव्यक्ति के माध्यम में भी विचारणीय परिवर्तन हो गया। प्रगतिवादी जीवन को उसके सम्पूर्ण रूप में स्वीकार करने का पक्षपाती रहा है, छायावाद की चयन-वृत्ति उसे पसन्द नहीं। जगत में सूक्ष्म, सुन्दर, कोमल, मसृण ही नहीं स्थूल, असुन्दर वाणी देने के लिए अब कवि भाषा भी अधिक चिकनी बनाने के पक्ष में नहीं। लेनिन ने कहा था **"जब कभी कोई साम्यवादी बोलता है तब वह सदैव जन साधारण का ध्यान रखता है और इस प्रकार बोलता है कि उनके द्वारा समझ लिया जाय।"**[1] अतः प्रगतिवादी, जो साम्यवादी का साहित्यिक संस्मरण है, कवि लेखक लिखते समय सदैव ध्यान रखता है कि वह जन साधारण (Masses) के लिए लिख रहा है, मुट्ठी भर बुद्धिवादियों (Intelligentsia) के लिए नहीं। प्रगतिवादी पंत की शब्द-योजना जन-जीवन की गतियों से एकत्र की हुई है, शहर की पालिश की हुई नहीं। जब समाज का कोई भी बंधन उसे नहीं लुभा सकता तो फिर छंद का बंधन कैसे लुभा सकता :—

---

१. 'लेनिन के संस्मरण'—क्लोरा जेटकिन, पृष्ठ ४३

"खुल गए छंद के बंध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ' युगवाणी बहती अयास।"

अब तो युगवाणी बिना किसी परिश्रम के, अलंकारों पर पैसा खर्च किए बिना ही, बही है। सत्य, शिव, सुंदर का अब क्या मूल्य ?—

"जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम।
सुंदर शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल।"

अब तो कवि 'वाणी' से यही प्रार्थना करता है कि वह किसी प्रकार से उसके विचारों को (भावों का युग तो ढह ही गया) जन-मन तक पहुँचा भर दे :—

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार,
वाणी ! मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?"

× + +

"ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?"

किसी भी माध्यम से सही, कवि का विचार जन-साधारण तक पहुँच जाय—बस। नगेन्द्र जी ने पंत जी की छायायुगीन एवं प्रगतियुगीन भावाभिव्यक्ति के इस अंतर को पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए गंगा की साँझ के दो उदाहरण पेश किए हैं—एक 'गुजन' में से और दूसरा 'युग वाणी' में से। 'गुंजन' का चित्र देखिए :—

"अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्वहीन।
गंगा के चल जल में निर्मल,
कुम्हला किरणों के रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण रेख सुंदर
पड़ गई नील ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग,
उड़ गया खोल निज पंख सुभग।
किस गुहा नीड़ में रे किस मग,

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल,
नव नील-नील कोमल-कोमल
छाया तरु-वन में तम श्यामल।"

'युग वाणी' में 'गंगा की साँझ' इस प्रकार चित्रित है :—

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश सा,
गंगा के उस पार,
क्लांत पाथ, जिह्वा बिलोल,
जल में रक्ताभ प्रसार।
भूरे जलदों से धूमिल नभ,
विहग-छन्दों से बिखरे—
धेनु-त्वचा से सिहर रहे
जल में रोओं-से-छितरे।
दूर, क्षितिज में चित्रित सी
उस तरु माला के ऊपर
उड़ती काली विहग पाँति
रेखा सी लहरा सुंदर।"

दोनों चित्रों का अंतर दो युगों की दूरी का परिचायक है—**"पहले में रूप और रंग का विलास है—दूसरे में तथ्य का चित्रण। पहले पद का 'किरणों का रक्तोत्पल' दूसरे में 'ताम्र कलश' बन गया है। 'गुंजन' का सोना और स्वप्न 'युग वाणी' में विहग-छन्द, धेनु-त्वचा इत्यादि में परिणत हो गया है।"** काव्य की 'रसात्मकं वाक्यं' परिभाषा प्रगतियुग में अपना मूल्य खो बैठी। पंत ने 'युगवाणी' के मुख पृष्ठ पर इसीलिए 'गीत गद्य' लिख दिया—जीवित चिता में जलने वाले युग के जीवन में अब कविता रह ही कहाँ गई है।

इस तरह बहुत समय तक पंत ने प्रगतिवादी रचनाएँ रचीं—ऐसी रचनाएँ जिनमें साम्यवादी दल की राजनीति की प्रशस्ति, मार्क्सवादी सिद्धान्तों का पोषण, दलितों की वकालत, शोषक के प्रति आक्रोश, विचार-प्रचार आदि थे। पर पंत का हृदय साम्प्रदायिक प्रगतिवाद में ऐसा सराबोर नहीं हुआ कि निचोरा ही न जा सकता हो। उसे किसी भी एक वाद—अद्वैतवाद, मार्क्सवाद, गाँधीवाद, अरविंद-वाद आदि में अडिग आस्था नहीं रही, यही कारण है कि 'ग्राम्या' के उपरान्त कवि मार्क्सवाद की धूल पोंछकर दूर फेंकने लगा और स्वर्णकाव्य की ओर सरक निकला एवं मार्क्स की पाठशाला से सदैव के लिए ही नाम कटा लिया। पंत जी को, अतः प्रगतिवादी की अपेक्षा प्रगतिशील कवि कहा जाय तो अधिक समीचीन है।

: ८ :

पंत की कोमल कल्पना

आज चाहे प्रगतिवादी सर हिलावें पर अब तक का प्रत्येक कवि कल्पना की ही उपज होता आया है। अब तक विचारों का माध्यम गद्य ही होता था, भावों का पद्य। सत्य, शिव और सुंदर-काव्य के तीन गुण माने जाते थे। कोई कवि सत्य का उपासक था, कोई शिव का भक्त और कोई सौंदर्य का पुजारी !

पंत जी की रचनाओं में यत्र तत्र शिवं और सत्यं के भी दर्शन होते हैं पर मूलतः वे सुंदरम् के ही कवि हैं। उनकी कल्पना कोमल सौंदर्य निहारकर चिहुक उठती है, यथार्थ सत्य के समक्ष लजा जाती है। इस आक्षेप को कवि ने 'आधुनिक कवि' में (प्रत्यालोचन पृष्ठ १२) स्वयं पोंछा है, "**यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुंदरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नहीं होता है, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उनसे ऊपर उठने की चेष्टा की है। गुंजन में 'तप रे मधुर मधुर मन', 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुःख को अपनाना' आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि सत्यं शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस; और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुन्दरं की परिणति शिवं में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से सम्बंध रखने वाले सत्यं में अवश्य होने चाहिए, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है, और मेरी रचनाओं में उसका संबंध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दो रूप हैं—शराबी शराब पीता है यह सत्य है; उसे शराब नहीं पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुअल) रूप है दूसरा 'परिणाम से संबंध' रखने वाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है; वह मेरा संस्कार है आत्म विश्वास (सबलिमेशन) की ओर जाना।**" पंत जी का तर्क है कि उनकी रचनाओं में सुंदरम् ही नहीं अपितु सत्यं एवं शिवं भी प्रचुर मात्रा में प्राप्य हैं। दूसरे शब्दों में जो वस्तु सुंदर है वह, पंत जी के अनुसार

शिवं अवश्य होगी और फिर सत्यं तो होगी ही। इन तीनों में कवि को एक ही तन्तु की व्याप्ति प्रतिभासित होती है :—

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार।"

महादेवी जी भी सत्यं के शिखर पर पहुँचने के लिए सुंदरम् के सोपान की ही सिफारिश करती हैं—"**सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य साधन है। एक अपनी एकता में असीम है और दूसरा अनेकता में अनन्त।**" कवीन्द्र रवीन्द्र भी सत्य-शिव-सुन्दर की अन्योन्याश्रयता के विषय में यही कहते हैं—"**सत्य के साथ मंगल-मय के पूर्ण सामंजस्य को यदि हम देख सकें तो फिर सौंदर्य हमारे लिए अगोचर नहीं। × × × मंगलमय वस्तु हमारा भला करती है इसलिए हम उसे भली कहते हैं। वास्तव में भी जो वस्तु मंगलमय होती है वह हमारी आवश्यकताओं को पूरा करती है और सुन्दर भी होती है। नीति के जो पण्डित हैं वे उस मंगलमय वस्तु का संसार में नीति-दृष्टि से प्रचार करने का प्रयत्न करते हैं और जो भी कवि लोग मंगल को उसकी अनिर्वचनीय सौंदर्य की मूर्ति में लोगों के निकट प्रकाशित करते हैं।**" सारांश यह है कि निरे सौंदर्य में भी सत्य एवं शिव का अस्तित्व बना अवश्य रहता है—चाहे न्यून कितना भी क्यों न हो। अतः पंत जी ने सुन्दरम् के मार्ग से उन दो मंज़िलों पर पहुँचने का प्रयास किया।

प्रारंभ से ही जैसा अब भी कहा, पंत जी सौंदर्य के ही गायक रहे हैं—सौंदर्य भी कमनीय, कोमल, मसृण! उनकी कल्पना भी, अतः, कोमल वस्तुओं पर जाकर ही अटक जाती है। किरण, चाँदनी, प्रभात, संध्या, छाया, ज्योत्स्ना, अप्सरा, मधुपकुमारी ही उन्हें अधिक भाए हैं। झंझा, झकोरे, गर्जन, बिजली, नीरदमाला, भूकम्प जैसे कठोर एवं भयावह वस्तुओं की ओर वह अपना मैत्री-हाथ नहीं बढ़ाते। 'पंचभूत के भैरव मिश्रण' से तो कोई प्रसाद ही आँख मिला सकता है। अपनी इस कमनीय-चयन वृत्ति के विषय में उन्होंने प्रारंभ में ही कहा :—

"नव-नव सुमनों से चुन चुन कर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,
मेरे उर की मृदु कलिका में—
भरदे करदे विकसित मन।"

कवि-जीवन के प्रारंभ में पंत जी की कल्पना प्राकृतिक सौंदर्यों में रमी थी—"**कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घण्टों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। × × × प्रकृति के**

साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौंदर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया।" जन-भीरुता का ही तो यह फल है कि पंत की कल्पना कोमलता में ही काव्य खोजती रही। बाल्यावस्था में ही कवि प्रकृति-सौंदर्य पर मन लुटा तो बैठा पर केवल उन्हीं वस्तुओं पर जो कोमल थीं। आचार्य शुक्ल को प्रकृति-चित्रण का यह एकांगी रूप कभी नहीं रुचा। उनके अनुसार **"अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में, कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयानक रूप में। सच्चे कवि का हृदय इसके इन रूप में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुखभोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल 'प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसाद, सौरभ संचार, मकरंद-लोलुप, मधुर-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख स्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते है। वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिंदु-मंडित मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यन्त विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-निहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं। प्रकृति के साधारण असाधारण सब प्रकार के रूपों में रमाने वाले वर्णन हम वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृति के प्राचीन कवियों में मिलते हैं। × × × असाधारणत्व की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं।"**[1] इस लिहाज से पंत 'विषयी या भोगलिप्सु' हैं। उन्होंने अपनी भावुकता को केवल कोमल-ललित मसृण को सुंदर मानने वाले सौंदर्यवादी दृष्टिकोण से सीमित कर रक्खा है।

वसंत आया, घाटी ने कुसुम-चूनरी ओढ़ ली, कल्पना भी उसी के साथ उठ निकली :—

"लो, चित्र-शलभ सी पंख खोल,
उड़ने को है चित्रित घाटी,
यह है अलमोड़े का वसंत
खिल पड़ी निखिल पर्वत-घाटी।"

कवि ने घर से बाहर निकलते ही देखा कि प्राची से कोमल किरण फूट रही है, जगती तंद्रिल है पर पखेरू कूक उठा है, पूछ उठा वह :—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ है बाल-विहंगिनि !

१. चिंतामणि प्रथम भाग—पृष्ठ १४९

पाया तूने यह गाना ?"

प्राची की वह किरण धीरे-धीरे अपने चरणों को बढ़ा निकली। मनु की संतान उठ बैठी एवं टोलियाँ बनाकर अपने काम-काज में जुट गई, उधर छाया ?—— आह ! वह बेचारी एकाकिनी ही चुपचाप पड़ी रही। पंत की कल्पना कैसे चुपचाप रहती, वह प्रश्न कर बैठी :——

"कौन पड़ी हो दमयन्ती-सी,
क्यों तरु के नीचे सोई,
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई ?"

'ग्रन्थि' में विवश प्रेमी के नैराश्य-चित्रण करने के लिए प्रकृति की कोमल वस्तुओं को संबोधित करता है :——

"शैवालिनि ! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का,
चंद्रिके ! चूम तरंगों के अधर,
उडुगणों ! गाओ, पवन-वीणा बजा।"

नियति जैसे कठोर पुरुष को पंत जी की कल्पना कोमल बना देती है :——

"नियति ! तुम निर्दोष और अछूत हो,
सहज हो सुकुमार, चकई का तुम्हें
खेल अति प्रिय है, सतत कृश-सूत्र से
तुम फिराती हो जगत को समय-सा।
मंजु-छाया के विपिन में पूर्णिमा
सजल-पत्रों से टपकती हैं जहाँ,
विचरती हो वेश प्रतिपल बदल कर,
सुघर मोती-से पदों से ओस के।"

'ग्राम्या' के कवि ने यद्यपि अकोमल चित्रों को गढ़ने की कसम खाई, धूल की ढेरी में गीतों को खोजा, 'प्राकृत-कुसित्त' एवं 'जो है सो है' का निरीक्षण करते हुए भी उनकी निगाह बार-बार मना करने, समझाने-बुझाने, डाँटने-डपटने पर भी कोमल, सूक्ष्म एवं कमनीय पर ही जा टिकती है :——

"अरहर सनई की सोने की
किंकिड़ियाँ हैं शोभाशाली।"

× × ×

"लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली।"

× × ×

"मखमली पेटियों से लटकीं
छीमियाँ, छिपाये बीज लड़ी।
फिरती हैं रँग रँग की तितली
रँग-रँग के फूलों पर सुंदर,
फूले फिरते हों फूल स्वयं
उड़-उड़ वृन्तों से वृन्तों पर।
अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गईं आम्र तरु की डाली।"

× × ×

"लहलह पालक, महमह धनिया,
लौकी औ' सेमफली फैली,
मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचों की बड़ी हरी थैली।"

× × ×

"मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम,
जिस पर नीलम नभ आच्छादन
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शान्त,
निज शोभा से हँसता जन मन।"

'संध्या के बाद' प्रगतिवादी कविता का दहकता अंगार है। इनमें टिन की ढिबरी, धुआँ मिट्टी खपरे के घर आँगन, कूकर-सियार की बोलियाँ होते हुए भी कोमल चयन की न्यूनता नहीं है—

"सिमटा पंख साँझ की लाली
जा बैठी अब तरु शिखरों पर,
ताम्रपर्ण पीपल से, शतमुख
झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर।"

× × ×

"स्वर्ण चूर्ण सी उड़ती गोरज
किरणों की बादल सी जलकर"

× × ×

"माली की मँड़ई से उठ,
नभ - के - नीचे - नभ - सी धूमाली
मंद पवन में तिरती
नीली रेशम की सी हलकी जाली।"

नक्षत्र, गुलदावदी, स्वीट पी, गंगा आदि के विषय में तो कहना ही क्या जो

प्रगतिवादी रचनाओं के ढेर में योजनों से साफ़ नज़र आते हैं।

'स्वर्ण किरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा' आदि में यद्यपि ऊर्ध्वगामिनी कविताओं का संकलन है फिर भी उनकी दृष्टि कोमलता पर ही अटक गई है। 'उत्तरा' की 'स्वर्गविभा' में, लगता है कि कामनीयता की हाट लगी है—

"नव स्वप्नों की लपटें उठतीं
शोभा की आभाएँ बखेर,
शत रंग की छायाएँ कँपती
उपचेतन मन का गहन घेर!
ज्यों उषा प्रज्ज्वलित सागर में
डूबता अस्तमित शशिमण्डल
चेतना क्षितिज पर आभा स्मित
भूगोल उठ रहा स्वर्णोज्ज्वल!"

"लिपटी फूलों से रंग ज्वाल,
गूंजते मधुप गाती कोयल,
हरिताभ हर्ष से भरी धरा,
लहरों के रश्मि ज्वलित अंचल।"

'युगछाया' में कवि ने दिखाया है कि आज धरा-प्रांगण पर दारुण मेघ-घटा, भीषण परछाईं भूल रही है। रुधिर, शोणित, चेतन, पंकिल मनुज, शव, गीध आदि की चर्चा करने के अनंतर पंत जी की कल्पना अपना व्यक्तित्व बिल्कुल नहीं खो बैठती। अतः इन बीस पंक्तियों में, चाहे अंत में ही सही उन्हें दो पंक्तियाँ ऐसी भी देनी ही पड़ीं :—

"स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई!"

'स्वप्नक्रांत' में जहाँ

"ज्वाल गर्म शोणित का बादल
लिपटा धरा शिखर पर उज्वल,
नीचे, छाया की घाटी में
जगता क्रन्दन मर्मर!"

जैसी पंक्तियाँ लिखी गई हैं, उन्हीं के नीचे

युग स्वप्नों की साँझ सुनहली,
बिखरी भू पर टूट ज्यों कली,
जन विषाद में डूब मौन
मुरझाती, रज तम में झर।"

जैसी कोमल पंतियाँ लिख गई हैं।

'अंतर्कथा' की भी यही दशा है। तम, गर्जन, विद्युत् नर्तन, करुणा-धारा, उर का व्यथा भार, अंतर का क्रन्दन लगता है कवि ने प्रयासपूर्वक लिखा है अन्यथा उसकी सहज कल्पना तो अंतिम पंक्तियाँ लिख गई है—

"खोलो उर वातायन
आएँ स्वर्ग किरण छन,
भू स्वप्नों का नूतन
रचें इन्द्रपथ मोहन।"

'वसंत' में तो कोमलता होनी ही चाहिए :—

"किरणों के सौ रँग समेटकर,
गुंजन कूजन से जग को भर"

पंत ने चिल्लाहट नहीं कहा—बस गुजन, कूजन। इसी प्रकार 'वनश्री' का चित्र है जहाँ कवि-कल्पना प्रकृति के कोमल उपादानों पर ही जा टिकी है—तरु-दल की मर्मर, निर्झर की कल-कल, कोयल की कुहू-कुहू, मधुकर के गुजन पर—किसी कठोर स्वर पर नहीं :—

"मर्मर करते तरुदल मर्मर,
कल-कल झरते निर्मल निर्झर।
कुहू-कुहू उठती कोयल की ध्वनि,
गुंजन रह-रह भरते मधुकर!"

अंतिम पंक्तियों की कोमलता का तो कहना ही क्या जिनमें बाल-किरण सँजो-कर रखी गई है :—

"लो, अब खुला छितिज वातायन,
आई वन में स्वर्ण किरण छन,
जगे नीड़ के मुखर विहगगण,
बरस रहे नभ से मंगल स्वर।"

पंत की कल्पना प्रकृति के कोमल चित्र उतारने में ही नहीं रमी है, कायिक सौंदर्य में भी उनकी निगाह वहीं अटकी है जहाँ कोमलता है। 'उच्छ्वास' की बालिका, में कहीं कठोरता नहीं :—

"सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन।"

× × ×

"रँगीले, गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित।"

'आँसू की बालिका' तो कोमलता का साकार रूप ही है :—

"हास में शैशव का संसार"

× × ×

"उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों बच्चों के साँस।"

भावी पत्नी के रूप-विभव के चित्रण की कल्पनाएँ तो कोमलता की सीमाएं बनाती हैं :—

नवल मधुऋतु-निकुंज में प्रात,
प्रथम-कलिका सी अस्फुट गात
नील नभ-अंतःपुर में, तन्वि !
दूज की कला सदृश नवजात;
"मधुरता, मृदुता-सी तुम, प्राण !
न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात;
कल्पना हो, जाने, परिणाम ?

× × ×

बाल-भावुकता बीच नवीन
परी-सी धरती रूप अपार;

× × ×

लाज में लिपटी उषा समान

× × ×

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों-सा हिलता हिम-ह्रास;
इन्द्र धनुषी-पट से ढंक गात
बाल-विद्युत का पावन-लास,
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले-अंगो का मधुमास,
तुम्हारी छबि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणों की प्राण !"

प्रथम मिलन के समय भी प्रिया के पद-चापों की कोमलता स्पृहणीय है :—

"विकंपित मृदु-उर, पुलकित-गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक-दृग-पात;"

आलोचकों ने इस पर 'उर्वशी' की चित्र-छाया देखी है :—

"द्विधाय, जड़ित-पदे, कम्पवक्षे, नम्र नेत्र-पाते
मतहास्ये नाहि चल, सवज्जित वासर शय्याते स्तब्धराते।"

इस महान संसार में इससे अधिक कोमलता कहाँ होगी—ऐसी कोमलता जिसका नाम ले देना भर उसके मुरझाने का पर्याप्त कारण बन जाता है :—

"लाज की छुई मुई-सी म्लान,"

'अप्सरा' जब जल-विहार करती है तब का तो कहना ही क्या :—

"स्वर्गंगा में जल-विहार जब
करती, बाहु-मृणाल !
पकड़ पैरते इन्दु-बिम्ब के
शत-शत रजत मराल;"

इस रचना में भी कोमलता का पार नहीं है :—

"तुहिन-बिन्दु में इन्दु-रश्मि-सी
सोई तुम चुपचाप,
मुकुल-शयन में स्वप्न देखती
निज-निरुपम छबि आप;
× × ×
नील रेशमी तम का कोमल
खोल लोल कच-भार,
तार-तरल लहरा लहरांचल,
स्वप्न-विचक-स्तन हार;"

'स्वीट पी' भी बड़ी कोमल हैं :—

"कुल बधुओं सी अयि सलज्ज, सुकुमार !
शयन कक्ष, दर्शन गृह की शृङ्गार !
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प पात्र में शोभित रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम निज शोभा ही के भार !
× × ×
"सुभग रेशमी वसन तुम्हारे
सुरँग, सुरुचिमय,—
× × ×
मृदुल मलय के स्नेह स्पर्श से
होता तन में कंपन,"

पंत जी की यह कोमल कल्पना प्राकृतिक, कायिक अथवा मानसिक सौंदर्य तक

ही सीमित नहीं, शब्द-चयन भी उनका अतीव कोमल है। भाषा को भी कोमल एवं कमनीय बनाने के लिए पंत जी दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। 'पल्लव' की भूमिका में वे लिखते हैं—"**जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचे में, ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताव में गलाकर कोमल, करुण, प्रांजल कर लेना पड़ता है।**" कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी भाषा भी कोमलता की चूनरी पहनकर आती है। इसीसिए तो निराला जी ने 'पंत और पल्लव' में लिखा है कि उनकी कविता में स्त्रीत्व के चिह्न (Female Graces) अधिक पाए जाते हैं। उनके अनुसार पंत के स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्त जैसे पुरुषत्व-प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। हाँ, यदि कहीं उनमें पुंसत्व है तो वह है 'परिवर्तन' में पर हिन्दी में अपवाद भी एक शब्द होता है जो नियम की पेटी से किसी प्रकार बँधने से रह जाता है।

केवल कल्पना की इस प्रधानता का यह फल हुआ कि पंत की रचनाओं में अनुभूति की कमी हो गई, कल्पना के अट्टहास ने भाव-पक्ष के स्मित को बुरी तरह दबा दिया—पर सर्वत्र समान रूप से नहीं।

जैसा अब तक बताया गया है पंत कवि-जीवन के प्रभात से ही सुन्दरम् पर मर मिटने के लिए घर से निकलते हैं पर साथ साथ शिवम् भी आ धमकता है। उनकी बालिका सौंदर्य की सीमा का भी अतिक्रमण कर गई है—

"कहाँ है सुंदरता का पार।
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि,
दिखाऊँ मैं साकार!"

पर इस सीमातीत सौंदर्य के साथ ही साथ उसका शिवत्व दर्शनीय है।

"संग में पावन गंगा स्नान;"

शिवं के सरक आने से वे केवल-सुंदर के ही उपासक नहीं बन सके। कवि के अंतरंग सखा बच्चन जी के शब्दों में पंत जी के "**रागी मन पर विरागी चेतना के नियंत्रण का परिणाम यह भी हुआ है कि वे सुंदरता पर कभी भी पूरी तरह निछावर नहीं हो सके, बलिहार नहीं गए, लपालेट नहीं हुए। जब इच्छाओं ने उन्हें माधुर्य की ओर खींचा है तब साधना ने उन्हें आदर्शों से बाँध दिया है। राग और विराग के इसी संघर्ष ने जीवन के अनुभवों से उन्हें दूर-दूर रक्खा है। वे अनुभवों की गहराई में नहीं पैठ सके, उसमें भीग नहीं सके, उसकी तीव्रता अथवा दग्धता को मुखरित नहीं कर सके। जब उनके रागी मन ने अनुभवों की ओर उन्हें निमंत्रण दिया है तो उनकी विरागी चेतना ने जैसे उन्हें बहलाने के लिए उसके आगे कल्पना के कुछ खिलौने फेंक दिए हैं। पंत जी के कवि-मन ने उसी से रीझकर अपने को संतुष्ट कर लिया है। और इस प्रकार उनकी विरागी चेतना को उन्हें वास्तविकता की मलिनता**

से अछूता रखने की सफलता मिली है। साथ ही रागी मन भी पूर्णतः उपेक्षित नहीं रह गया है उसे अपने को तृप्त करने का भी कुछ साधन मिल ही गया है।[1]" उनकी बाद की रचनाओं में अनुभूति की कमी कल्पना द्वारा पूरी हुई है जो वस्तुतः अत्यधिक खलती है। उदाहरण के लिए 'उत्तरा' का तीसरा ही गीत 'युग छाया' लिया जा सकता है। पूरी रचना का आलंबन आकारविहीन है, अनुभूति-शून्य है, कल्पना-जन्य है। अतः इसमें उनकी पूर्व रचनाओं जैसी सरसता के दर्शन नहीं होते—

"तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ,
गीध टूटते, श्वान भूंकते,
रोते शिवा विदाई !
मनुज रक्त से पंकिल युग पथ,
पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,
स्वर्ण रुधिर से अभिषेकित अब
नव युग की अरुणाई !
नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जाएँगे युग दानव,
सुर नर होंगे भाई !
ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता
जन्म ले रही नव मानवता,
स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई !"

रहस्यवादी रचनाओं का प्रसाद तो सर्वथा कल्पना के ही आधार पर खड़ा किया गया है। आचार्य शुक्ल का रहस्यवाद के प्रतिकूल होने का प्रमुख कारण यही था कि ऐसी रचनाओं में थोथी कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। शुक्ल जी का तर्क है कि अगोचर की अनुभूति कैसे हो सकती है, आकार विहीन को भाव में कैसे लाया जा सकता है—"**हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई संबंध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा जो कुछ भी प्रकट किया जायगा वह गोचर और व्यक्त ही के प्रति होगा। प्रतिबिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और काल्पनिक रूप विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बनाना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्वयक आडम्बर खड़ा करना है।**" अतः पंत जी ने भी जहाँ-जहाँ

---

१. **'पल्लविनी' की भूमिका—डा० हरिवंशराय बच्चन**

'अव्यक्त' और 'अगोचर' के लिए आठ-आठ आँसू बहाएँ हैं वहाँ कल्पना की जमनास्टिक मात्र है, अनुभूति की यथार्थता नहीं। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में जहाँ रहस्यात्मकता है वहाँ तो स्वाभाविक प्रतीत सी होती है पर 'पल्लव' की ओर इस स्वाभाविकता में कल्पना का अतिरेक इस सीमा तक पहुँच गया है कि अनुभूति में बहुत बड़ा धक्का लगा है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं के विषय में आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं—"**उनकी जो एक बड़ी विशेषता है, प्रकृति के सुंदर रूपों की आह्लादमयी अनुभूति, वह 'वीणा' में भी कई जगह पाई जाती है। सौंदर्य का आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक मार्ग खुल जाते हैं।**"[1] इसके अनंतर वे 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' से प्रारंभ होने वाला 'वीणा' का अट्ठावनवाँ गीत उद्धरित करते हैं।

'ग्रंथि' में हो सकता है कि सर्वत्र पंत की कल्पना का उन्मुक्त लास्य हो पर लगता है कि उसमें कवि की निजी अनुभूति ही बिखर गई है। लगता है निम्न पंक्तियाँ अनुभूतिमय है, कल्पनाजन्य नहीं—

"तरणि के ही संग तरल-तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में;
सांध्य-निःस्वप्न से गहन जल-गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।"

× × ×

"शीश रख मेरा सुकोमल-जाँघ पर,
शशि-कला-सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान-मुख मेरा × × ×।"

× × ×

"बैठ कर मैंने निकट ही, शान्त हो,
विनत-वाणी में प्रिया से यों कहा:—
'सलिल-शोभे! जो पतित, आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल तरंग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः?"

× × ×

"हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि-बंधन हो गया, वह नव-कमल

---

१. **रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६९४**

मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया।"

लगता है कवि ने अपनी ही किसी घटना को वाणी दी है। यदि यह कल्पना का ही चमत्कार है तो सचमुच अत्यंत श्लाघ्य एवं यथार्थ से भी अधिक यथार्थ। कल्पना को अनुभूतिमय बना देना ही तो कला का चरमोत्कर्ष है। अविश्वास-तिरोहण (Suspension of Disbelief) पाश्चात्य-जगत में भी कला का चरम लक्ष्य माना गया है। 'पल्लव' की 'मौन-निमंत्रण' एवं 'स्वप्न' रहस्यात्मक रचनाएँ हैं। कवि को लगता है कि प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में उनके लिए आमंत्रण है पर यह 'आमंत्रण किसका? वह है कौन जो प्रकृति की आड़ लेकर इंगित करता है, अपारदर्शी घूंघट डालकर तीर चलाता है, छिप-छिपकर अपना तूणीर खाली करता है? बस यही जिज्ञासा कवि को विकल बना देती है। उसे जो कोई मिलता है उसी के समक्ष वह अपने अचरज की गाँठ खोल देता है—

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न महान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको कौन?"

'गुंजन' की प्रसिद्ध 'चाँदनी' का चित्र फिर निहारिए जिसमें निरी कल्पना है। पंत जी के किसी पाठक को हथेली पर शशि-मुख रखे हुए चाँदनी की अनुभूति हुई होगी—इस पर सहज विश्वास नहीं होता—

"नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु-करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि!"

पंत जी की 'युगवाणी' 'ग्राम्या' कालीन रचनाएँ अनुभूतिमय ठहराई गई हैं पर मुझे तो उनमें भी यत्र-तत्र कल्पना की उड़ानें गोचर होती हैं। 'ग्राम्य चित्र' की यह पंक्ति मुझे तो अत्यंत ही अरुचिकर लगी है :—

यह भारत का ग्राम—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित! (पृष्ठ १६)

यदि कवि को गाँव का तनिक भी अनुभव होता तो वह उन्हें सभ्यता-संस्कृति से निर्वासित नहीं कहता। सच पूछा जाय तो सभ्यता-संस्कृति का आगार गाँव ही है—हाँ, उसका प्रदर्शन, उसकी चटकमटक शहर में भले मिल जाय। यहाँ हमें 'गोदान' का वह दृश्य बरबस ही याद आ जाता है जिसमें गाँव की मैली-कुचैली भील-कन्या में मिस मालती को सभ्यता की शून्यता गोचर हुई थी और मेहता

साहब को, उसी में, सभ्यता का चरम विन्दु। ऐसी ही कतिपय पंक्तियाँ 'ग्राम-वधू' में हैं। वधू, माँ, मौसी, सखी, आदि से भेंट कर पति के घर के लिए विदा हो चुकी है :—

"लो अब गाड़ी चल दी भरभर,
बतलाती धनि पति से हँसकर,
सुस्थिर डिब्बे के नारी-नर,
जाती ग्राम-वधू पति के घर !"

पंत जी को संभवतः पश्चिम की सड़क याद हो आई होगी जिस पर युवक-युवतियाँ प्रीति-प्रदर्शन करते चलते हैं। हमारे यहाँ तो जितना घना प्रेम होगा, प्रकट में उतनी ही शांति होगी। प्राच्च एवं पाश्चात्य प्रेम-प्रणालियों का अंतर इन लकीरों को लिखते समय पंत जी बिल्कुल भूल बैठे।

यह बात अवश्य है कि पंत में केशव जैसा कल्पना-प्राधान्य नहीं गोचर होता फिर भी उन्होंने यत्र-तत्र कल्पना का इतना कौशल प्रदर्शित किया है कि भावना बुरी तरह दब गई है। 'बादल', 'स्याही की बूंद' आदि में यही हुआ है। छाया के उपमान ऐसे ही हैं जो किसी में भी फिट किए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ :—

"तरुवर के छायानुवाद-सी
उपमा-सी, भावुकता-सी।
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी छँटी नव कविता-सी।"

एवं—

"गूढ़ कल्पना सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय-सी।
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी।"

'नक्षत्र' में भी उपमानो की दूकान खोल दी गई है—नक्षत्र को उल्लू तक कहा गया है पंत द्वारा। कल्पना का यदि और प्रदर्शन देखना हो तो 'स्याही की बूंद' की यह सतरें देखिए :—

"एकटक, पागल सा यह आज
अपरिचित सा, वाचक सा कौन
यहाँ आया छिप-छिप निर्व्याज
मुग्ध सा, चिंतित-सा, जड़ मौन
सजनि यह कौतुक है या रास ?"

इस प्रकार कहीं-कहीं पंत जी की कल्पना ने उनकी अनुभूति को पीछे अवश्य धकेल दिया है पर यह कहना कि उनमें जहाँ-जहाँ कल्पना की तरलता है वहाँ अनु-

शब्द-चयन भी अब सुष्ठु एवं प्रतीकमय है। प्रतीक भी अब विशद हैं जिनका चयन व्यापक जीवन से किया गया है—महादेवी की भाँति, अथवा कबीर की भाँति—कुछ इने गिने ही प्रतीक-शब्द नहीं हैं इनके । इन प्रतीक शब्दों के अतिरिक्त इस युग में उन्होंने रजत-घंटियाँ, अभिषेक, कर्पूर, चंदन, अमृत, गंगाजल, कलश, मंदिर, यज्ञ-धूम जैसे उन शब्दों को भी प्रयुक्त किया है जो आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित मंगल सूचक है।

अब आगे पंत के कवि की विचार-सरिता किधर मुड़ेगी—कौन जाने ?

: १० :

पंत और हिन्दी के अन्य कवि

हिन्दी में ही क्यों संस्कृत, उर्दू, अँग्रेज़ी आदि प्रत्येक भाषा के साहित्य में कवि को अन्य कवियों के बीच रखकर देखने की परिपाटी है। यह परम्परा कभी लाभ-दायक सिद्ध हुई हो तो हुई हो, अधिकाशतः इससे मुँह के स्वाद बिगड़े ही हैं। कालिदास एवं भवभूति का युगल बहुत समय तक आलोचना का केन्द्र बना रहा। राजेन्द्रनाथ देव ने तो 'कालिदास और कालिदास' नाम की पुस्तक ही रच दी। मीरा-महादेवी एक साथ ही बोले जाते हैं, शैली-कीट्स की तुलना आज भी की जाती है। सूर-तुलसी के विषय में तो कहना ही क्या ? कौन 'सूर' कौन 'ससी' है—इस पर अब भी लाठियाँ चलती हैं। देव और बिहारी के अनुयायियों में तो अपने-अपने कवि को लेकर वर्षों जूतम-पैजार हुई थी। उर्दू-काव्य में लखनऊ और दिल्ली के दो स्कूल ही बन गए थे जिनमें सदैव युद्ध होता रहा। तात्पर्य यह कि किसी कवि को दूसरे के समीप रखकर निहारना साहित्य के लिए हितकर नहीं क्योंकि इसमें व्यक्तिगत वैमनस्य सरक आता है। यदि यह बात एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित रहती तब भी ग़नीमत थी, पर जब यह राष्ट्र की सीमाओं को लाँघ जाती है तब तो नकशा ही बदल जाता है। यदि किसी ने कह दिया कि 'तुलसी हिन्दी के मिल्टन हैं' तो उसका एवज़ हम 'मिल्टन अंग्रेज़ी के तुलसी हैं' कहकर चुकाएँगे। अपने कवि को किसी विदेशी कवि से हीन मानने के लिए कोई राजी नहीं होता—और तथ्य तो यह है कि होना भी नहीं चाहिये। यदि उन दिनों अंगरेज शेक्सपीयर के पीछे भारत का साम्राज्य छोड़ देने को तैयार थे तो हम भी बिहारी के एक दोहे पर योरोप छोड़ देंगे—सूर, तुलसी, प्रसाद का तो प्रश्न ही नहीं। अंग्रेज़ों की भाँति हम तो इनके छोड़ने की सोच भी नहीं सकते। कोई कवि दूसरे से छोटा-बड़ा नहीं होता—हाँ, अच्छा-बुरा हो सकता है। कोई किसी क्षेत्र को चुनता है,—कोई किसी को। जहाँ 'परिवार' का अर्थ केवल पति-पत्नी है वहाँ का मिल्टन तुलसी के 'मानस' के से परिवार की कल्पना भी नहीं कर सकता था। इसी प्रकार परम भक्त तुलसी 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' के मिल्टन की भाँति सोच भी नहीं सकते थे कि ईश्वर के विद्रोही शैतान को अपने महाकाव्य का नायकत्व प्रदान कर दें। अतः कवि के चुने हुए क्षेत्र को ध्यान में रखकर ही उसकी आलोचना करना चाहिए। हाँ, किन्हीं दो कवियों की कृतियों की समानता असमानता बताना दूसरी चीज़ है। कुछ दिन से कालिदास एवं

शेक्सपीयर की तुलना चल निकली है। इस में भी वही बात है—कोई कालिदास को **"संस्कृत का शेक्सपीयर"** कहते हैं तो कहीं से शेक्सपीयर **"अंग्रेजी के कालिदास"** की आवाज आती है। पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तो कालिदास को विश्व का सर्वोत्तम कवि मानकर शेक्सपीयर को उसके बराबर का मानते थे—**"रचना नैपुण्य और प्रतिभा के विकास-सम्बन्ध में कालिदास की बराबरी का यदि और कोई कवि हुआ है तो वह शेक्सपीयर ही है। भिन्न-भिन्न देशों में जन्म लेकर भी सारे संसार को अपने कवित्व-कौशल से एक-सा मुग्ध करने वाले यही दो कवि हैं।"** उन्होंने तो यहाँ तक कहा—"**इनके (अर्थात् कालिदास एवं शेक्सपीयर के) विचार, इनके भाव, इनकी उक्तियाँ अनेक स्थलों में परस्पर लड़ गई हैं। जिस वस्तु को जिस दृष्टि से कालिदास ने देखा है प्रायः उसी दृष्टि से शेक्सपीयर ने भी देखा है। × × शेक्सपीयर के मैकबेथ, ओथैलो, रोमियो, जूलियट, मिरंडा, और देसदेमोना आदि के चित्रों का मिलान कालिदास के दुष्यन्त, अग्निमित्र, पुरूरवा, शकुन्तला, प्रियम्वदा आदि के चित्रों से करने पर यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है। × × कहीं-कहीं पर तो इन महाकवियों के नाटक-पात्रों ने, तुल्य प्रसंग आने पर, ठीक एक ही सा व्यवहार किया है। शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त कहता है, 'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं, हसितमन्यनिमित्त कथोदयम्।' रोमियो भी जूलियट के विषय में प्रायः यही कहता है:—**

> "She will not stay the seige of loving terms,
> Nor bide the encounter of assailing eyes."[1]

आदि, आदि।"

यह स्वस्थ तुलना है जो इन दोनों को समान स्थान दिया गया है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रेमचंद और गोर्की को, नहीं तो जाने क्या का क्या हो जाता? अस्तु—

पंत जी का कवि-जीवन छायावाद के नयनोन्मीलन से प्रारंभ हुआ, अतः संगत यही होगा कि हम इनको उन्हीं कवियों के साथ बिठाकर देखें जो उनके ही वातावरण में उगे-पनपे-बढ़े हैं। यदि हम उनके कृतित्व को कबीर-सूर अथवा तुलसी के कृतित्व के साथ रक्खें तो न्यायपूर्ण नहीं होगा। इसी प्रकार यदि रीति-युगीन कवियों के साथ इन पर विचार करें तो अन्याय के अतिरिक्त और कुछ न होगा। इनके काव्य की तुलना, अतः, आधुनिक—विशेषतः छायावादी—कवियों के काव्य से करना ही संगत होगा। इस लिहाज से प्रसाद, निराला, महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त ही विशेष उपयुक्त हैं।

---

१. कालिदास और उनकी कविता'—पृष्ठ १००–१०१

पंत और प्रसाद—प्रसाद का नाम लेते ही हिन्दी के उस तपस्वी का स्मरण हो आता है जो चुपके-चुपके शंकर की नगरी में साहित्य-देवता पर कुसुम चढ़ाता रहा। छायावाद का दिशा-संकेत वस्तुतः उसी ने दिया, निराला एवं पंत तो बाद की उपज हैं। 'प्रसाद' एवं पंत में जितनी समानताएँ हैं उतनी ही असमानताएँ भी। प्रसाद जी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। उन्होंने हिन्दी के प्रत्येक अंग को छुआ और आहत पाया। आगे बढ़कर प्रत्येक अंग पर पट्टी बांधने का भार उन्होंने सहर्ष लिया। नाटक, काव्य, गद्य, निबन्ध, कहानी, उपन्यास—प्रत्येक में उनकी पैठ समान थी। पंत जी में यह बात नहीं। प्रसाद जी के नाटक हिन्दी साहित्य के अक्षय सौन्दर्यागार हैं जिनके एक-एक शब्द से कवि के अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का आभास मिलता है। वे सुसंस्कृत एवं सुपाठ्य जनता के लिए विनिर्मित हैं, अतः उन पर अनभिनेयता का दोष बे-बुनियाद है। पंत जी ने उधर 'ज्योत्स्ना' नाटक लिखा पर वह किसी भी काम का नहीं। न उसमें कार्य है और न चरित्र-चित्रण। पात्र पवन, इन्दु, ज्योत्स्ना आदि अशरीरी हैं जो प्रसाद जी के 'कामायनी' के पात्रों की स्मृति दिलाते हैं पर दोनों के अशरीरी पात्रों का वैभिन्य स्पष्ट है। पर हाँ, एक बात में दोनों एक से हैं और वह है दोनों के गद्य में काव्य का आनन्द। दोनों ही के गद्य में उनका कवि-कोकिल चिहुक उठा है, अन्यथा शुक्ल जी के अनुसार, **"ज्योत्स्ना' सब मिलाकर क्या है, यह नहीं कहा जा सकता।"** छायावाद पर जिन दिनों चारों ओर से प्रहार हुए, इन दोनों कवियों ने उनका मुक़ाबिला किया। छायावाद को तत्कालीन आचार्यों ने—जिनमें आचार्य शुक्ल एवं द्विवेदी जी प्रमुख हैं—नितांत बाहरी चीज समझा। प्रसाद जी ने युक्तियाँ दे-देकर छायावादी रहस्यवादी काव्य के अभारतीयता के लांछन को पौंछने में अत्यन्त दृढ़ता, अध्ययनशीलता, चिंतन, उत्साह एवं साहस का परिचय दिया। पर इसकी अभिव्यंजना-पद्धति की वकालत का श्रेय 'पल्लव' के पंत जी को ही जाता है। उन्होंने इसका 'प्रवेश' क्या लिखा, बस द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के मुँह पर कफन ही डाल दिया। यदि यह दोनों कवि प्राण-पण से इस संघर्ष में न कूदते तो छायावादी प्रासाद का विध्वंस सुनिश्चित था। पर उद्देश्य की समानता होते हुए भी दोनों की शैलियाँ भिन्न हैं। प्रसाद में भावुकता के साथ-साथ चिंतन का आधार भी है, पंत में, प्रारम्भ में, केवल भावुकता का बाण ही था, तर्क का कवच नहीं। प्रथम के पास भारत के अतीत के साहित्य का साथ था, दूसरे के हाथ में अँगरेजी की मात्र उँगली। फलतः प्रसाद में जहाँ वेद, उप-निषद्, पुराण आदि दार्शनिक ग्रंथों के भी उद्धरण मिलते हैं वहाँ पंत में अँगरेजी के ही। 'कामायनी' के 'आमुख' के इने-गिने पन्ने एवं 'पल्लव' के 'प्रवेश' के अंत की ओर के कुछ पृष्टों का अवलोकन ही यह अन्तर बताने के लिए पर्याप्त है। पर भाषा-परिष्कार कवि पंत की भाँति गद्यकार पंत में भी प्रसाद जी से विशेष है।

दूसरे उनकी गद्य में काव्य-भावो की एकरूपता के समान विचारों और गद्य-रूप की एकरूपता भी पाई जाती है। इस दृष्टि से वे जितना महादेवी के नजदीक हैं, उतना प्रसाद के नहीं।

गद्य ही नहीं, दोनों की काव्य-कला में भी वैभिन्य है। वैसे दोनों ने ही आगे-पीछे छायावादी पौधे को सींचा, दोनों की अभिव्यक्ति, छायावादी अभिव्यक्ति, समान रूप में हुई, पर जहाँ प्रसाद में सर्वत्र भाव एवं भाषा का समीकरण है वहाँ पंत यत्र-तत्र अभिव्यक्ति के पीछे भाव की हत्या करते गोचर होते हैं। शुक्ल-द्विवेदी प्रभृति इसीलिए छायावाद को शैलीमात्र समझ बैठे थे। वैसे भाव-गांभीर्य दोनों में है पर पंत में यदा-कदा गांभीर्य की धोखाधड़ी भी देखी जाती है। प्रसाद जी का अध्ययन अत्यन्त गहन था, अतः उसमें दार्शनिकता का पुट अत्यधिक है, जैसे 'कामायनी' में, पर पंत जी दर्शन में अत्यन्त कच्चे हैं। जहाँ वे समझ में नहीं आते समझ लो जान-बूझकर कठिन बन रहे हैं क्योंकि रहस्यवाद जितना प्रसाद जी में स्पष्ट है, उतना पंत में नहीं—वे रहस्यवादी नहीं। वेदना के गीत दोनों ने गाए पर जहाँ पंत में कृत्रिमता लगती है (चाहे न हो) वहाँ प्रसाद में नहीं (चाहे हो)। 'प्रसाद' के 'आँसू' की एक-एक लकीर पाठक के हृदय को चीरती चली जाती है, पंत की 'ग्रंथि' अथवा किसी अन्य रचना की समग्रतः नहीं। वेदना के इतने मोहक गीत गा-गाकर भी प्रसाद जी जीवन पर्यंत आनंदवादी रहे, उन्हें 'दुःख की रजनी' में 'सुख का नवल प्रभात' दिखाई पड़ा; जो कोई इसे 'अभिशाप' समझ बैठे तो समझ बैठे, प्रसाद जी को तो यह 'ईश का रहस्य वरदान' लगता है। दुःख उनके लिए 'सुखविकास का सत्य' एवं 'भूमा का मधुमय दान' है। प्रसाद जी अतीत के गायक हैं, पंतजी भविष्य के द्रष्टा। प्रसाद जी ने हिन्दी को महाकाव्य, अपूर्व महाकाव्य दिया है, पंत अभी राहें बदल रहे हैं, अतः छोटे-छोटे गीत ही दे पाए हैं। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है प्रसाद ही नहीं खड़ी बोली अभी पंत की समानता का कोई कवि नहीं दे पाई है। लिंग-निर्णय में दोनों मौजी हैं; दोनों के लिए नर-नारी में कोई अंतर नहीं। पर इस दिशा में पंत प्रसाद जी से आगे बढ़े हुए हैं। निरालाजी के साथ प्रसाद-पंत की यह जोड़ी अमर है।[1]

पंत और निराला—प्रसाद जी के उपरांत, पंत के साथ, 'निराला' जी का नाम आता है। निराला जी की काव्य-साधना का काल प्रसाद जी से कुछ ही बाद का है। 'प्रसाद' का 'चित्राधार' १९१९, निराला जी की 'जुही की कली' १९१६ एवं पंत जी की 'वीणा' १९१८ की रचनाएँ हैं। उस समय तक गुप्त की कई रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी थीं। गद्य

---

१. विशेष अध्ययन के लिए लेखक की 'प्रसाद एवं पंत का तुलनात्मक विवेचन' नामक पुस्तक अवलोकनीय है।

के क्षेत्र में निराला जी ने प्रसाद जी की भाँति उपन्यास, कहानी, निबंध, रेखा-चित्र आदि लिखे हैं जिनकी शैली पंत जी की शैली के समान ठेठ नहीं है। प्रसाद जी को छोड़कर छायावादी कवियों में 'निराला' जैसा बहुमुखी व्यक्तित्व और किसी का नहीं। आलोचना संबंधी निबंधों में भी वे बेझिझक दो टूक कह देने के आदी है, पंत की तरह विनम्र होकर, संस्कृत रूप में नहीं। इसका अंतर 'प्रबंध पद्म' एवं 'पल्लव' के 'प्रवेश' के पठन से आसानी से ही जाना जा सकता है। पंत जी के गद्य से ही नहीं, छायावादी किसी भी लेखक के गद्य से निराला जी अलग खड़े हैं। जहाँ अन्य लेखकों में भावुकता से लिपटी तत्सम पदावली है वहाँ इनमें ठेठ हिन्दी है, फलतः जहाँ अन्यान्य के गद्य में आभिजात्यपन है वहाँ इनके गद्य में जन-वादीपन। अतः पंत जी की बात जहाँ हृदय के गवाक्ष से मस्तिष्क के आँगन में पहुँ-चती है, वहाँ निराला जी की सीधी ही जा धमकती है।

यही अंतर दोनों की कविता में है। निराला जी पौरुष के कवि हैं, पंत उन्हीं के शब्दों में 'स्त्रीत्व (फीमेल ग्रेसैज़)' के। यह दोनों के व्यक्तित्व का भी निर्देशक हैं। पंत का कलेवर अत्यन्त कोमल है, निराला जी का विशाल, पहलवानी। प्रारंभ में निराला जी के काव्य को लेकर कितने प्रहार किए गए—यह कहने की आवश्यकता नहीं। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी तो 'विशाल भारत' लेकर इनके पीछे ही पड़ गए थे। तूफान आए पर हिमालय अडिग रहा। युग की बिना चिन्ता किए वह अट्टहास करता रहा। जमाने ने उसे पागल समझा, उसने ज़माने को उल्लू। यदि वह झुक जाता तो आज छायावाद का नाम भी सुनाई नहीं पड़ता। शब्द-चयन में जहाँ पंत जी की निगाह कोमल-कान्त-पदावली की ओर ही फिसलती है वहाँ निराला जी की परुष शब्दावली की ओर। निराला जी की अधिकांश कविताओं की जटिलता का यह भी राज़ है। वे हमें ब्राउनिंग की याद दिलाते हैं—कविता की अजस्र टेढ़ी-मेढ़ी धार, रूढ़ि के छन्दों की उपेक्षा। पंत को पढ़कर हमें शैली-कीट्स का स्मरण हो आता है—मधुर शब्दावली, चित्रात्मकता, भू-नभ को मिला देनेवाली कलित कल्पना। पर उनका मूड दूसरे छोर पर भी देखा जा सकता है:—

"आजकल पंडित जी देश में विराजते हैं—
कुइरीपुर गाँव में व्याख्यान देने को
आये हैं मोटर पर,
लन्दन के ग्रैजुएट,
एम. ए. बैरिस्टर
बड़े बाप के बेटे!
बीसियों भी पतों के अन्दर, खुले हुए।"

अथवा 'तुलसीदास' के ६६वें पद की प्रारंभिक पंक्तियाँ:—

"लेते सौदा जब खड़े हाट,
तुलसी के मन आया उचाट;"

इतना ही नहीं :—

"फाँसना है उन्हें मुझे,
ऐसे कोई साला एक धेला नहीं देने का।"

व्यंग्य गीत पंत जी ने भी लिखे हैं, प्रगति और परम्परा को उन्होंने भी आज़माया है पर इतने नीचे धरातल पर वे कहीं नहीं उतरे। ग्राम्या-युगवाणी काल की रचनाएँ इसकी साक्षी हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने एक मेंढक को सुकरात और दूसरे को अफलातूँ बना दिया है। 'कुकुरमुत्ता' की ऐसी रचनाओं जैसा 'भदेसपन' हमारे पंत में नहीं।

निराला जी का काव्य रवीन्द्र की कला से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। पंत जी पर भी 'गीतांजलि' का प्रभाव पड़ा। 'वीणा' का 'मम जीवन का प्रमुदित प्रात' तो रवीन्द्र के 'अंतर मम विकसित कर' की ही छाया है। पर इसके साथ-साथ ही पंत जी पर कालिदास, शैली, वर्डसवर्थ, कीट्स एवं टैनिसन का भी प्रभाव पड़ा जिसे उन्होंने 'आधुनिक कवि' के 'पर्यालोचन' में स्वीकार किया है। समान पंक्तियाँ नगेन्द्र जी एवं रामरतन भटनागर ने 'सुमित्रानंदन पंत' एवं 'छायावाद' मे उद्धृत की हैं जिन्हें यहाँ दुहराना अतिप्रसंग होगा। पर इस विषय में सबमे अधिक तो स्वयं निराला जी ने ही 'पंत और पल्लव' में लिखा है। उनकी बात यदि मानी जाय तो 'पल्लव' में अधिकांशत: चोरी का माल है एवं वे चौर्यकला में अत्यन्त निपुण है, पर पचा न सकने के कारण एक पंक्ति कहीं से और दूसरी कहीं से लेते है। उपरान्त कुछ अपना मिलाकर उसे एक नवीन रूप ही दे देते है ताकि आलोचकों को पकड़ने में दिक्कत हो। ऐसा छिद्रान्वेषण सर्वथा अशोभनीय है। भाव एवं विचार तो दो कवियों के टकरा ही जाते हैं पर इसी से एक को दूसरे के भाव का चोर कह देना समीचीन नहीं। हमें तो हिन्दी के वयोवृद्ध आलोचक की एक बात बड़ी पसंद आई, **"विचार डाकख़ाने के टिकट नहीं हैं जिनका दुबारा व्यवहार न हो सके।"**

निराला पर सबसे अधिक प्रभाव विवेकानंद का पड़ा। पन्त पर भी स्वामी रामतीर्थ, विवेकानंद एवं अरविन्द-दर्शन का पड़ा। अपनी-अपनी रचनाओं मे दोनों ने उनके दर्शन को वाणी दी। पर दुख होता है यह देखकर कि निराला जी के अद्वैत-वाद को प्रगतिवाद मान लिया गया एवं पंत को, उसी बात पर, प्रतिक्रियावादी क़रार दे दिया गया। इसी दर्शन के प्रभाव के कारण इनकी रचनाओं में ब्रह्म का प्रियतम के रूप में लुका-छिपी करने का वर्णन हो निकला, प्रकृति से मौन-निमंत्रण मिल निकले। पर पंत दार्शनिक विवेचना में खो जाते हैं, गंभीर हो जाते हैं, जग के क्रम पर विचार कर निकलते हैं यथा 'नौका विहार' एवं 'एक तारा' में, पर निराला जी अपने हृदय में उठे हुए मधुर भावों को ही वाणी देते हैं। अपनी प्रसिद्ध

दार्शनिक कविता 'तुम और मैं' में अत्यन्त रमणीय अभिव्यंजना में ईश्वर और जीव के सम्बन्ध जोड़े गये हैं।

शब्दों में चित्र खींचने में निराला पंत से पीछे हैं। 'नौका विहार', 'वीचि विलास' 'बादल' आदि के चित्र अनुपम हैं। हाँ निराला जी 'तरंगों के प्रति', 'सन्ध्या सुंदरी', 'जुही की कली' आदि में अच्छे चित्र खींच चुके हैं। पंत का शब्द-चयन अत्यंत मंजुल एवं गीतिमय है, निराला का सर्वत्र ऐसा नहीं—इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो उन्होंने अत्यन्त गर्हित शब्द प्रयुक्त किए हैं। पंत को रङ्गों से, विशेषतः स्वर्ण से, अत्यंत प्रेम है। कान दोनों के राग-रागिनी समझते हैं। पंत-काव्य का तो क्रम ही 'सा' से 'रे' की ओर चला। पर लगता है निराला जी इसमें आगे हैं, इसीलिए उनकी अतुकांत पंक्तियों में भी पंत की अतुकांत पंक्तियों से अधिक मिठास है। अतुकांत काव्य का प्रारम्भ ही निराला जी ने किया जिस पर उनका पूर्ण अधिकार है।

सारांश यह है कि दोनों कवि-पुंगव हिन्दी के गौरव हैं। यदि निरी कोमलता स्त्रीपन है तो निरा पौरुष उजड्डपन। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं—ईश्वर करे दोनों की परुषता एवं कोमलता जुग-जुग जिये।

पंत और महादेवी वर्मा—महाकवि प्रसाद एवं निराला को छोड़कर पंत के साथ तीसरा नाम महादेवी जी का आता है। प्रसाद, निराला एवं पंत छायावाद की वृहद्त्रयी हैं, रामकुमार, भगवतीचरण एवं महादेवी लघुत्रयी। पर डा० हजारीप्रसाद जी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में इन सबको एक ही नाम देने के विरुद्ध हैं। आचार्य शुक्ल भी इनमें अंतर करते हैं; **"छायावाद का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य-क्षेत्र में चलने वाली श्री महादेवीवर्मा हैं। पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।"** रहस्यवादी कवियों की सूची में वास्तव में महादेवी ही आती हैं। पंत में जो रहस्यभावना मिलती है वह नैसर्गिक है, स्वाभाविक है, प्रसाद अथवा महादेवी की सी साम्प्रदायिक रहस्य-भावना नहीं। पर दोनों में छायावादी कला अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गई है। रहस्यवादी कवियों में तो, अधुनिक-युग में, महादेवी जी निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ हैं। एक बात और—महादेवी जी ने काव्य-डगर पर छायावाद-रहस्यवाद का पाथेय लेकर चलना प्रारम्भ किया था। वह सम्बल आज भी उनके पास है। पंत जी, किंतु, आज अपने कल से बहुत भिन्न हैं। कोई यह भी नहीं कह सकता कि वे कल क्या हो जाएँगे? 'पल्लव', ग्राम्या' एवं 'उत्तरा' एक ही कवि की उपज हैं—विश्वास नहीं हो सकता, पर 'रश्मि', 'नीरजा', 'दीप-शिखा' एक ही हृदय की बूँदें हैं—इस पर बिना कहे ही प्रत्यक्ष हो जाता है। इसका एक लाभ यह भी हुआ है कि उनकी शैली आज तक अत्यंत मधुर एवं प्रांजल है। यह माना कि पंत की भाषा का सौंदर्य अद्वितीय है, पर अभिव्यक्ति की मार्मिकता में महादेवी सानी नहीं रखतीं। यह बात

उनकी काव्य-रचनाओं में ही नहीं, गद्य-रचनाओं में भी है। इसका एक कारण और है—वह यह है कि पंत उल्लास के कवि हैं, महादेवी वेदना की। उनकी रचनाओं में अथ से इति तक वेदना भरी है—और वेदनाभिव्यक्ति में भाव को हृदय के ताप में पूर्णतया गलाकर बाहर लाना पड़ता है, अतः उनकी अभिव्यक्ति इतनी मर्मस्पर्शी हो सकी है। पंत का कवि अपने युग के साथ-साथ न बदलता रहता तो उसकी अभिव्यक्ति भी किसी से कम नहीं होती। पर वे तो प्रगतिवाद एवं आध्यात्मवाद की ओर सरक आए; अतः शैली में भी अंतर करना पड़ा। काव्य में वेदना-भाव तो पूर्व से ही था, पर छायावाद में तो यह एक अनिवार्य तत्त्व मान लिया गया। छायावादियों में भी महादेवी ने वेदना को सर्वाधिक गले लगाया है। क्यों ?—वे 'रश्मि' की भूमिका मे इसका कारण बताती है। प्रथम तो उन पर बाल्यावस्था में ही बौद्ध-दर्शन से अनायास परिचय हो गया, अतः उन पर 'सर्व क्षणिकम क्षणिकम' की छाप लग गई। दूसरे उन्हें इतना सुख मिला कि प्रतिक्रिया-स्वरूप वेदना भली लगने लगी। बौद्धों के क्षणिकवाद के ही प्रभाव से शायद उन्होंने अपनी रचनाओं को वे नाम दिए जो अस्थायी हैं—'नीहार, रश्मि', 'नीरजा', और 'दीपशिखा'। प्रारम्भ में पंत जी को भी दुख से स्नेह था :—

"बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।"

अथवा—

"वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पट"
वेदना ही है।"

पर उपरांत उन्हें जीवन-जगत में उल्लास लगने लगा। प्रारम्भ में उन्हें जगत दुःख से पीड़ित दिखाई पड़ा, सुख में भी उन्हें आनंद नहीं लगा, उससे भी उन्हें पीड़ा मिली :—

"जग पीड़ित है अति सुख से।"

पर बाद में उनके दुखवाद की यह धारा तिरोहित हो गई :—

"जग जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव अभिलाष मुझे।"

उन्हें धरती की हर चीज से मोह हो गया। भू पर का कूड़ा-कर्कट सब कुछ उन्हें भला लग निकला। अतः उनका मन आह्लाद से भर गया और अब तो वे उस स्थिति पर पहुँच गए जहाँ आनंद ही आनंद है। महादेवी जी को वेदना ही वेदना मिली है, विरह का जलजात ही हाथ लगा है, मिलन का तो उन्हें नाम भी नहीं भाता :—

"मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ।"

इतना ही क्यों वे उन्हें पीड़ा में ही ढूँढ़ती हैं। जब संयोग का अवसर भी आता है तब वे छुप जाती हैं :—

"काटूं वियोग-पल रोते,
संयोग-समय छिप जाऊँ।"

और तो और उन्हें वह मुक्ति तक नहीं भाती जिसमें वेदना न हो :—

"ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद !
क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरा करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार !"

आचार्य शुक्ल ने इस 'मिटने' के 'अधिकार' पर बड़ी मीठी चुटकी ली है। उन्हें शायद दुःख इसलिए भी प्रिय है कि इसकी ही चरम सीमा सुख बन जायगी :—

"चिर ध्येय यही जलने का
ठण्डी विभूति पड़ जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना।"

उर्दूवालों में ऐसी बातें बहुत पाई जाती हैं। अच्छा है पंत जी इससे बचे हैं। प्रकृति-चित्रण में भी महादेवी जी का वेदनावाद रँग आया है। प्रकृति का प्रत्येक व्यापार उन्हें संसार की क्षणिकता का ही सन्देश देता है :—

"निश्वासों का नीड़ निशा का
बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के वन्दनवार,"
अब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख-लिख जाता है, "कितना अस्थिर है संसार !"

अथवा :—

"घोर घन का अवगुण्ठन डाल,
करुण सा क्या गाती है रात ?"

वे अपनी मनोवृत्तियों को प्रकृति के निराश और करुण संसार में ले जाकर छोड़ देती हैं :—

"जाने किस बीते जीवन का,
सन्देसा दे मन्द समीरन।
छू लेता अपने पंखों से,
मुरझाए फूलों के लोचन।
उनके फीके मुसकाने में, फिर अलसाकर गिर जाने में।
आँखों की नीरव भिक्षा में,
आँसू के मिटते दागों में।
ओंठों की हँसती पीड़ा में,
आहों के बिखरे त्यागों में।"
रज-रज में फैला है निर्मम, मेरे मानस का सूनापन।"

पन्त का एक उदाहरण लीजिए। दोनों का अन्तर बिना कहे समझ में आ जायगा :—

"अरी सलिल की लोर हिलोर।
यह जग कैसा स्वर्गीय हुलास,
सरिता की चंचल दृग कोर।
यह जग को अविदित उल्लास
आ मेरे मृदु अंग झकोर।
नयनों में निज छवि को बोर
मेरे उर में भर यह रोर॥"

पन्त को वसन्त में अलमोड़े की घाटी उड़ती प्रतीत होती है, महादेवी को उसमें भी पतझर का सन्देश सुनाई पड़ता है। इसका प्रभाव दोनों के प्रतीकों पर भी पड़ा है। जहाँ पन्त ने प्रतीक-शब्द जगत के कोने-कोने से बटोरे है वहाँ महदेवी के प्रतीक पूजा-साभग्री तक ही सीमित हैं—दीपक, लौ, पूजा-धूम, झंकार, लहर आदि। हाँ, प्रकृति-सम्बंधी दो रचनाओं में पन्त और महादेवी एक से हैं—'मौन निमंत्रण' एवं 'वह कौन है ?' मे। पन्त 'मौन-निमंत्रण' में पूछते हैं :—

"सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास
प्रखर झरती जब पावस-धार
न जाने तमक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन ?"

उधर महादेवी 'वह कौन है ?' में दरयाफ्त करती हैं :—

"शून्य नभ पर उमड़ जब दुख-भार-सी
नैश तम में सघन छा जाती घटा

बिखर जाती जुगनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी
तब चमक जो लोचनों को मूंदता
तड़ित की मुसकान में वह कौन है ?"

पंत जी इसी रचना में पूछ कर रह गए, महादेवी पूछती ही गई और आज भी पूछ रही हैं।

गीत दोनों ने रचे हैं, पर इस क्षेत्र में महादेवी पंत से आगे हैं। पंत के कतिपय गीत अत्यन्त सुन्दर हैं। ('पंत जी का गीति काव्य' अध्याय देखिए।) महादेवी के गीतों की अभिव्यक्ति हिन्दी में अद्वितीय है। उनके समस्त गीतों की टेक उन्हीं की एक पंक्ति में कही जा सकती है—'मैं नीर भरी दुख की बदली।' इसी बात को उन्होंने न जाने कितनी तरह से अपने पाठकों से कहा है। इसी वेदना के कारण उनके गीत मार्मिक बन गए हैं—प्रात की तरह मधुर, राका की भाँति करुण, बरसात के समान सजल।

पंत जी और मैथिलीशरण गुप्त—अब रहे हमारे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त। इन दो कवियों में चाहे कितनी ही विभिन्नताएँ हों पर एक बात बिल्कुल एक-सी है, वह यह कि इन्हें ज़माने की नब्ज का बड़ा ज्ञान है—गंगा गए तो गंगादास, जमुना गए तो जमुनादास। बदलते समय के अनुसार गुप्त जी अपना चोला तब्दील करते आए हैं अन्यथा द्विवेदी-युग का प्रतिनिधि कवि आधुनिक युग का भी प्रतिनिधि हो जाय, यह मज़ाक नहीं।

गुप्तजी के पिता अत्यन्त विनम्र भक्त थे। गुप्तजी भी वैष्णव-भावना में निष्णात हैं। हिन्दू संस्कृति से उन्हें अत्यधिक प्रेम है। हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान के हामी होकर भी वे अन्य संस्कृतियों से द्रोह नहीं करते। राम-भक्त होते हुए भी उन्होंने 'काबा कर्बला' मे इस्लामी संस्कृति के गीत गाए हैं, 'गुरुकुल' में सिख-संस्कृति उतारी है, 'अनघ' बौद्ध कथा पर आधृत है, 'द्वापर' में यशोदा, नन्द, गोपी, गोप, राधा के चित्र हैं। 'विकट भट' में राजस्थानी वीरों की गाथा है। गरज कि गुप्त जी ने राष्ट्र एवं जाति पर अपनी निगाह बनाए रखी है। पंत में यह बात नहीं। उन्हें 'भारत-भारती' के कवि के समान भारतीयता से मोह नहीं। इस इलज़ाम की भनक, लगता है, उनके कानों में पड़ गई तभी तो 'स्वर्णधूलि' में उन्हें अपनी सफाई में लिखना पड़ा :—

"भारती ही नहीं बल्कि मैं
हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर।"

गुप्त जी को 'भारत-भारती' के प्रकाशन के साथ ही जातीय एवं राष्ट्रीय कवि मान लिया गया। हाँ, अब पंत जी भी भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम अतीत की ओर निहार निकले हैं, यह शुभ है।

हिन्दू कवि होने के कारण ही गुप्त जी के पारिवारिक चित्र अत्यंत मनोरम हैं जो हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं। 'साकेत' के गार्हस्थ्य चित्र समूचे हिन्दी-जगत के आधुनिक युग में अकेले हैं।

आदर्शवादी कवि होते हुए भी उनकी लेखनी से यत्र-तत्र ऐसी पंक्तियाँ भी निकल पड़ी हैं :—

"सी-सी करती हुई पार्श्व में लखकर जब तब मुझको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको।"

अन्यथा उनमें सीधी-सच्ची इतिवृत्तात्मकता है। इसलिए उनमें पंत जैसा सौष्ठव नहीं।

पंत जी ने ग्राम को दूर से ही निहारा है। अतः वे उसे 'बौद्धिक सहानुभूति' ही दे सके। गुप्त जी ने तो गाँव की हर झोंपड़ी में झाँका है। 'ग्राम्या' काल मे पंत जी ने भी गाँव के बड़े यथार्थ चित्र दिए, पर उन चित्रों की असलियत पर प्रश्नवाचक चिह्न लग निकला है। गुप्त ने हमारे परिवार की स्त्री-दशा निहारी, वे सिहर उठे। स्त्री को 'केवल श्रद्धा' निहारकर उनके ओठों से अनायास फिसल गया :—

"अबला-जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥"

केकयी, उर्मिला, यशोधरा के चरित्रों को कवि ने दूध से धो दिया। पंत की अग्नि थोड़ी देर ही जलती है; अतः वे अब तक प्रबंध-काव्य नहीं दे पाए, छोटे-छोटे गीतों में ही बिखर गए, फिर भी गीतों के माध्यम से ही उन्होंने नारी की काफी वकालत की है।

छायावाद का कलरव सुनकर गुप्त जी को भी ऐसे गीत रचने का शौक उठा। पर इसमें वे सफल नहीं हो सके। हाँ, 'झंकार' के अतिरिक्त, जिसमें उनकी छायावादी रचनाएँ संग्रहीत हैं, 'पंचवटी', 'साकेत', 'यशोधरा' आदि में छायावादी शैली की छाप मिलती है। पर वह छाप ही है, ज्यादा कुछ नहीं। 'पंचवटी में निहारिए :—

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अंबरतल में॥"

'साकेत' के नवम सर्ग में जहाँ रीतिकालीन ऊहा है, वहाँ यत्र-तत्र छायावादी शैली के भी दर्शन होते हैं :—

"हा ! मेरे कुंजों का कूजन रोकर, निराश होकर सोया।"

अथवा—

"श्रुति-पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल।"

और छायावादी गुरु जी इनसे अच्छी पंक्तियाँ तो कभी नहीं गढ़ सके:—

"कहीं सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी,
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दलपुंज में,
जगा रही है उसे हिलाकर कुंज में।
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट-सी पलट, लेटती है वहीं।"

—(साकेत, पंचम सर्ग, पृष्ठ ११०)

पर छायावादी शैली के यह उदाहरण खोजने से ही मिलते है। अतः पंत जी से उनका इस क्षेत्र में क्या मुक़ाबिला! उन्हें तो मातृभूमि की छटा के ही चित्र खींचना रुचते हैं—चाहे कपिलवस्तु के प्रासाद में हों चाहे महाभारत के युद्ध में, चाहे 'पंचवटी' में हों चाहे 'साकेत' में। पर छायावाद की नफीरी अधिक न बजाने के कारण जहाँ गुप्त जी की हानि हुई वहाँ लाभ भी हुआ; और वह यह कि छायावादी कवियों के असमान प्रसाद गुण सम्पन्न होने के कारण वे घर-घर पहुँच गए।

'साकेत' के पंचम सर्ग (पृष्ठ १०७) में गुप्त जी ने कला को 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' कहा है। क्या इस कसौटी पर वे खरे उतरते है? द्विवेदी युग के बेचारे पाठकों को उनकी अभिव्यक्ति मे 'कुशल शक्ति' लगी हो, पर आज अदना से अदना पाठक पंत जी की अभिव्यक्ति के समक्ष गुप्त जी की अभिव्यक्ति का मूल्य दो कौड़ी भी नहीं आँकेगा। कुछ कहते है हमें यह बात अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि वे खड़ी बोली के उस दिन के लेखक है जब वह प्रारंभ ही हुई थी, तो फिर हमारे पंत जी को ही कहाँ मली-मलाई मिल गई? उन्होंने इस क्षेत्र में जो तपस्या की वह किसी से छिपी नही है। और यदि यह भी मान लें कि गुप्त जी ने खड़ी बोली के बिल्कुल ही प्रारंभ में लिखना शुरू किया, तो सेवा में निवेदन यह है कि आज भी तो वे रचनाएँ देते है पर वे ही पंत की कहाँ समता रखती है? हम यह मानने को बिल्कुल तैयार है कि तुकों पर उनका पूर्ण अधिकार है, इतना कि और किसी का नहीं, उनकी भाषा मुहाविरेदार, व्याकरण सम्मत, शुद्ध, विमोद-युक्त, अलंकार पहने हुए है पर पंत–निराला–प्रसाद जी की भाषा में 'कछु और' ही है जिसके समक्ष गुप्त जी की हज़ारों पंक्तियाँ बड़ी भौंड़ी लगती है। 'भारत-भारती' की, जिसके प्रकाशन से वे 'वे' बने, कतिपय पंक्यिाँ अवलोकनीय हैं:—

हो भद्रभावोद्भाविनी वह भारती हे भगवते!

—(अतीत खण्ड)

"कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृण्टता करती विचारोत्कृण्टता?"

—(अतीत खंड)

"हा ! जो कलाएँ थीं कभी अत्युच्च भावोद्धारिणी–
विपरीतता देखो कि अब वे हैं अधोगतिकारिणी।"

—(वर्तमान खण्ड)

"निज दुर्दशा के दृश्य सारे स्वप्न-सम देखा किए।"

—(भविष्यत् खण्ड)

उनकी प्रौढ़तम रचना, 'साकेत' भी इससे बरी नहीं :—

"सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके रंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।

× × ×

कौशल्या रानी भोली,
धाड़ मारकर यों बोली।

× × ×

विरह ने ली आज अफर डकार,
वत्स हम्बा कर उठे डिडकार।"

'साकेत' का ग्यारहवाँ सर्ग तो आल्हखण्ड ही लगता है। कहीं-कहीं तो ऐसी तुकें मिलाई हैं जैसी जाड़ों में, बिल्कुल सुबह, द्वार पर 'हर-गंगा' कहने वाले तुकें मिलाते हैं ! ऐसी उखड़ी भाषा पंत जी में खोजने पर भी नहीं मिलती, मिले भी कैसे—**"जिस प्रकार बड़ी को चुवाने के पहले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचे में, ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताव में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता है।"** और पंत जी ने उतना ही श्रम किया है, शब्दों को उतना ही मथा है, तब कहीं खड़ी बोली 'हृत्तंत्री की झंकार' बन सकी, तब कहीं उसमें 'अभि-व्यक्ति की कुशल शक्ति' आ सकी है, तब कहीं गुप्त जी की खड़ी बोली से बिदका हुआ ब्रजभाषा का रसिक उसे भी काव्य की भाषा मान सका है। यहाँ एक बड़ा दिलचस्प सवाल मन में उठता है—यदि गुप्त जी 'पल्लव' लिखते, या फिर पंत जी कहीं 'साकेत' लिखते ? तो निश्चय है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास भी और ही तरह लिखा जाता। पर एक बात तय है—यदि गुप्त जी काव्य-भवन में छायावादी झरोखे नहीं काट पाते तो पंत जी भी, निश्चय है, इतना इतिवृत्त नहीं खींच पाते।

पंत जी कलाकार हैं, और गुप्त जी राष्ट्र-कवि हैं। उन्होंने एक जगह बड़ी ईमानदारी से कहा है :—

"राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।।"

कहना न होगा कि वे यूँ ही कवि बन गए हैं। द्विवेदी जी के चाक पर और बन भी कैसे सकते थे !

पंत जी एवं अन्य कवि—पंत जी के काव्य की तुलना प्रसाद, निराला महादेवी एवं गुप्त जी से करना ही समीचीन है, और यह ही हमें ईप्सित थी, क्योंकि इनकी रचनाओं में वैषम्य के साथ-साथ साम्य भी विपुल है। बच्चन हाला-प्याला में जा डूबे अन्यथा उनके गीत भी हिन्दी की स्थायी थाती होते। बच्चन जी एवं पंत जी वर्षों साथ रहे, वर्षों एक ही वातावरण में पले, पर दोनों की काव्य-दिशाएं भिन्न रहीं। इनमें से कोई भी दूसरे को अपने मार्ग पर न ला सका। 'अंचल' एवं पंत के गीतों में भी अंतर है। इन दोनों ने प्रेम एवं यौवन के गीत लिखे हैं पर अंचल के गीतों में अपेक्षाकृत अधिक उन्माद है, प्रेम की ज्वाला अत्यंत तीव्र है, पंत के समान मंद नहीं, और यहाँ यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि उल्का के समान क्षणिक विस्फोट वाली ज्वाला का गीत ही गीत होता है। पंत ने प्रेम-यौवन के साथ साथ जहाँ जन साधारण पर भी गीत लिखे वहाँ 'गुजन' में अपने दर्शन को भी गीतों मे बाँधा। श्री रामकुमार वर्मा में रहस्यात्मकता अधिक है, अतः वे पन्त जी के गीतों से साफ़ अलग नज़र आते हैं। हमारे दिनकर-माखनलाल राष्ट्रीय कवि हैं। यदि उन्हें 'हुंकार-टङ्कारवादी' ही मानलें, 'क्रांतिकारी' नहीं तब भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन दिनों समाज को दिशा-सूचना जितनी इनकी कविताओं ने दी, उतना पंत जी की कृतियों ने नहीं। पंत जी की तो उन दिनों दुनियाँ ही और थी। इनसे तो वैसे आज भी अलग है, पर पहले जितनी नहीं। नरेन्द्र शर्मा भी छायावाद से प्रगतिवाद की ओर सरक आए हैं—पंत की ही भाँति, पर उनकी प्रकृति गीतिमयी है जिस पर उन्हें क़ाबू पाना अत्यन्त कठिन है।

१—मोह (जनवरी १६१८, पल्लव)

छोड़ द्रुमों ························· जग को

शब्दार्थ—द्रुम=वृक्ष। मृदु=मृदुल, कोमल, घनी। माया=मोह प्रीति, ममत्व। बालजाल=केशराशि। लोचन=नेत्र। भ्रूभंग=तिरछी भौंहें। तरल=बहने वाली, लिविवड।

भावार्थ—पंत जी का मन मयूर प्रारंभ से ही प्राकृतिक दृश्यावलियाँ निहारकर नृत्य करता आया है। प्रकृति-सुषमा के समक्ष नारी-सौन्दर्य कवि के लिए कुछ भी नहीं। अपना मन वह, इसीलिए, किसी भी बाला में नहीं उलझाना चाहता। सौंदर्य की पुत्तलिका को संबोधित करके कवि कहता है—

हे बाले! यह मैं मानता हूँ कि तुम्हारा सौंदर्य अनुपम है, तुम्हारे चिकुर-जाल में किसी के भी बावरे नयन अनायास ही उलझ सकते हैं पर इधर भी तो तनिक देखो। वृक्षों की मनोरम शीतल छाया भी कितनी मोहक है! प्रकृति के इस अभिराम जगत को त्यागकर क्या मुझे तुम्हारे घने केशपाश में अपने नेत्र उलझा देना चाहिए? नहीं, मैं तो ऐसा कभी नहीं कर सकता।

तुम्हारी तिरछी भौंहों की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। तुम्हारे नयन-बाण किसी भी हृदय को वेध सकते हैं पर इधर भी तो निहारो। लहरें कितनी मस्ती से खेल रही हैं! इन्द्रधनुष के रंगों का तो कहना ही क्या? इन दोनों के सौंदर्य क्या वर्णन किए जा सकते हैं? यह तो बस देखने की ही वस्तुएँ हैं। अपने मन को इस सौंदर्य-राशि से हटाकर क्या तुम्हारे कटाक्षों से विद्ध करवा दूं? क्या यह उचित है? नहीं, मैं तो प्रकृति के इस सुघड़ संसार को अभी नहीं भूल सकता।

विशेष—(१) प्रत्येक पद में दो सुन्दर वस्तुएँ प्रस्तुत की गई हैं। एक का सम्बन्ध प्रकृति से है, दूसरी का बाला से। बाला के बाल-जाल एवं भ्रू-भंग साधारण नहीं हैं फिर भी उनकी तुलना में, पंत को, द्रुमों की मृदु छाया, तरल तरंग एवं इन्द्रधनु अधिक भाए हैं। यह कवि के प्रकृति के अगाध प्रेम के साक्षी हैं।

(२) 'बाले' का संबोधन साभिप्राय है। हिन्दी के कवि, पंत से पूर्व, अपनी तूलिका से स्त्रियों के चित्र ही बनाया करते थे। उनके लिए जगत में अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं जो उनके काव्य का प्रतिपाद्य हो सके। छायावाद में कवियों की निगाह चिर उपेक्षित प्रकृति पर पड़ी इतनी कि पंत को फिर 'बाला' भी नहीं रुची। इस सम्बोधन से मानो रीतिकालीन कवियों को कवि फटकार रहा है। उनके लिए समूचा जगत मानो स्त्रीमय ही था। और फिर बाला का तो कहना ही क्या!

किशोरावस्था एवं यौवन के मिलनबिंदु की वय वाली नारी बाला कहलाती है। लज्जा का प्रथम अध्याय, वक्ष का अंकुरण, कपोलों पर उषा के नृत्य का आरंभ—रीतियुगीन कवियों को और कुछ देखने ही नहीं देते थे। पंत ने ऐसी बाला को भी फटकार दिया।

(३) 'बाल-जाल' कहकर कवि ने बाला को कितना शरमा दिया होगा। जब कोई वस्तु सीधे से हाथ नहीं आती तब उसे धोखा देकर जाल में फँसाया जाता है। बाला के बाल मानों जाल हैं जो पुरुष को धोखे से फँसा लेते हैं। वह बेचारा फिर नहीं निकल पाता, उसमें से। हाँ, जो मृग, पशु, पक्षी सजग रहता है वह उसमें नहीं फँस सकता। पंत भी काफी सजग है। यदि अनजाने वे उलझ जाते तो कोई बात भी नहीं थी, पर क्या जान-बूझकर वे अपने नयनों को फँसा दें? ऐसा तो कोई भी बुद्धिमान नहीं कर सकता। पंत को भी उलझन से प्रकृति-जग का स्वच्छन्द विचरण भाता है।

(४) 'अभी से' प्रकट है कि प्रारंभ में ही पंत जी प्रकृति की अलौकिकता छोड़कर बाला का संसर्ग नहीं चाहते। अभी तो कवि-डगर पर उन्होंने पग बढ़ाए ही हैं। ज़रा प्रकृति से भी खेल लें, सर मुड़ाते ही ओले पड़ना ठीक नहीं।

(५) 'तरल तरंग' एवं 'इन्द्रधनुष' के साथ 'भ्रू भंग' का प्रयोग अत्यन्त समीचीन है। तरंगों की तरलता का आँखों में—नारी की आँखों में—नहीं होती? भृकुटि की तुलना धनुष से करना तो प्रसिद्ध है ही। नारी को अपने भ्रू-भंगों पर बड़ा गर्व होता है। बड़े-से-बड़े कठोर हृदय को वे भोंहौं की कमान से झुक जाने के लिए वाध्य कर सकती हैं। इसी गर्व को विचूर्ण करने के लिए मानों कवि तरंगों एवं इन्द्रधनु की ओर इंगित करता है। इससे एक और ध्वनि निकलती है, वह यह कि बाला का सौंदर्य, संभव है, कुछ समय उपरांत समाप्त हो जाय, धनु टूट जाय पर तरंगों एवं इन्द्रधनुष का सौंदर्य अक्षय है, चिर है, अनन्त है।

(६) 'मृग-सा मन'—प्रसिद्ध है कि भोलेपन में मृग अपना सानी नहीं रखता। उसे स्वच्छन्दता अतीव प्रिय है। कवि का मन भी मृग के समान भोला, छलविहीन एवं स्वतन्त्रताप्रिय हैं। उसे चौकड़ी भरना प्रिय है, जाल में फँस जाना नहीं। इसके लिए पंत जी प्रकृति का विशद क्षेत्र चाहते हैं। मृग कभी-कभी शिकारी के जाल में फँस जाता है पर क्या वह कभी अपने आप फँस सकता है? कदापि नहीं। तो फिर कवि जान-बूझकर अपने मन के मृग को बाला के भ्रू-भंगों से कैसे बिंधवा दे? अमृत का लेबिल लगाकर विष कोई पीले तो पीले, पर जो यह जानकर भी कि यह विष है, पी ले तो उसे पंत जी मूर्ख ही कहेंगे।

(७) 'मृग-सा' में उपमालंकार है।

कोयल का·························जग को!

शब्दार्थ—मधुकर = भौंरा, षट्पद। वीणा = गुंजन। अनमोल = अमूल्य।

श्रवन=कान। सस्मित=स्मित सहित, मंद मुस्कान के साथ। किसलय दल= अत्यन्त कोमल नई-नई पत्तियाँ। सुधा-रश्मि=चन्द्रमा की किरणें। जल= ओस। अधरामृत=अधरों का अमृत, ओठों का माधुर्य। मद=आनंद, सुख, चुम्बन।

भावार्थ—बाला के पास युवक को डिगाने के लिए बाल-जाल अथवा भ्रू-भंग ही नहीं अन्यान्य वस्तुएँ भी हैं पर कवि तो जैसे अडिग है। उसे प्रकृति में ही इतना सौंदर्य प्राप्त है कि मानवी की वय:संधि उसे अपनी ओर नहीं खींच सकती। बाला को ही संबोधित करके कवि पुन: कहता है—

यह मानता हूँ कि तुम्हारे कण्ठ से फूटता हुआ स्वर अत्यन्त मोहक है पर तनिक कोयल एवं मधुकर भी तो निहारो। इनके स्वरों का आकर्षण भी तो न्यून नहीं, फिर यह बताओ कि इन्हें बिसारकर, तुम्हारे ही कोमल स्वर से अपने कानों को भर लेना कहाँ तक उचित है? संगीत का वह जगत जिसमें अहर्निश कोकिला का पंचम स्वर एवं भौरों का गुंजार चलता रहता है, मुझसे तो नहीं छोड़ा जाता।

कौन कह सकता है कि तुम्हारे ओठों का सौंदर्य कम है? उनके पान का आनन्द भी वर्णनातीत है—इसमें भी संदेह नहीं। पर टुक इधर भी तो निगाह घुमाओ। यह देखो उषा है! प्रत्येक क्षण मुसकराती ही रहती है। व्यथित मानव की टीस वह अपने स्मित से दूर कर देती है। उस समय नई नई कोपलों का तो कहना ही क्या? उषा की यह समस्त आभा उनमें आ जाती है। उधर चंद्रकिरणों से सुधा-सदृश ओस विंदु प्रतिक्षण गिरते रहते हैं जिससे उषा के रंग के सुकोमल पत्ते और भी आभामय हो जाते हैं। अब तुम्हीं बताओ प्रकृति के इन चिर-नूतन प्राकृतिक व्यापारों को देखूँ या तुम्हारे अधरों का आनन्द लूटूँ? और अभी से? ना ना, यह मुझसे तो नहीं हो सकता। इस समय तो क्षमा करो।

विशेष—(१) कोयल की बोली एवं मधुप का गुंजार कितने कर्णप्रिय होते हैं—यह बताने की आवश्यकता नहीं। और फिर उस समय का तो कहना ही क्या जब कोयल गा रही हो और मधुकर वीणा बजा रहा हो, नारी के कण्ठ से स्वर-सरिता प्रवाहित हो रही हो और नर की चपल उँगलियाँ वीणा के तारों पर खेल रही हों। द्रुमों की मृदु छाया में अब संगीत की ऐसी सभा जुड़ी हो तब भला कवि का मन अन्यत्र कैसे लग सकता है? पंत के साथ यही बात थी।

(२) 'कह', 'ही' और 'ना' शब्द बड़े मार्के के हैं। पंत ने नारी की किसी मोहक वस्तु का वर्णन किया है और उसी के समान प्रकृति को प्रस्तुत किया है। कवि ने स्वयं नहीं कहा कि उससे प्रकृति अच्छी है अपितु इसका निर्णय बाला से ही करवाया है। खामोश रह जाती होगी, बेचारी।

'ही' शब्द से प्रकट है कि बाला कवि से अत्यधिक आग्रह कर रही होगी। उसे कोई विकल्प भी नहीं दे रही होगी पर कवि उसके 'ही' स्वर में नहीं खो

सकता।

'ना' शब्द में कितना निषेध है। तुम्हारे अधरों का सौंदर्य ! उनके चुम्बन में वस्तुतः अत्यंत आनंद होगा पर क्या किसलय-दल को 'भूल जाऊँ' ? ना, ऐसा तो असंभव है। पंत जी ने ही 'ना' का प्रयोग अन्यत्र भी किया है। वहाँ भी इस शब्द का मिठास अनुभव करने की ही वस्तु है :—

"सिखा दो ना हे मधुपकुमारि !
मुझे भी अपना मीठा गान !"

(३) प्रथम छंद में कवि ने 'बाला' शब्द प्रयुक्त किया है, तीसरे में 'सजनि' संबोधन है। कवि से उसने बहुत देर मनुहार की है जिससे वह उसे सखी, सहचरी, मित्र मान लेता है। सजनी से किसी बात की सहसा मना नहीं की जाती। पंत जी कर देते हैं। उनका प्रकृति-प्रेम इसी से प्रकट है।

(४) 'बहला दूँ' का मूल्य कम नहीं। कृष्ण जब-जब चन्द्रमा माँगते थे, माता यशोदा तभी उन्हें कोई न कोई खिलौना देकर बहला देती थी। अर्थ यह है कि मन को झूठी बातों से बहलाया जाता है। बाला का अधर जगत के लिए चाहे अमृत ही क्यों न हो, पंत जी के लिए तो उसमें कोई आकर्षण नहीं, कोई यथार्थता नहीं, कोई सचाई नहीं। इसीलिए वह कहता है कि जब मुझे यथार्थ वस्तु प्रकृति से प्राप्त है तब अयथार्थ अधरामृत से अपना जीवन क्यों बहलाऊँ ?

(५) 'ऊषा-सस्मित' कोई छायावादी ही लिख सकता था ? इतिवृत्तात्मक युग प्रकृति में मानव-व्यापार कब सहन करता।

२—बाल-प्रश्न (१६१८, वीणा)

मा ! ....पूजन के।

शब्दार्थ—अल्मोड़ा=उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध पहाड़ी स्थान, पंत की जन्मभूमि। स्वामी विवेकानंद=नरेन्द्रनाथ दत्त। आपका जन्म कलकत्ता के एक सभ्रांत कायस्थ कुल में हुआ। पश्चिमी शिक्षा ने उन्हें नास्तिक बना दिया था पर सौभाग्य से महात्मा रामकृष्ण परमहंस जैसे महान् गुरु उन्हें मिले जिन्होंने उनके हृदय में अद्वैतवाद की ज्योति जला दी। मानव जीवन की अकथ सेवा करते हुए ३६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने संसार त्याग दिया। सन् १८६० ईसवी में वे ख्याति के एव-रेस्ट पर जा बैठे जब शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में इन्होंने महान विजय प्राप्त करके हिन्दू-धर्म को उच्च महत्ता दिलाई। ईसाइयों के गढ़ में ईसा के अनुयायियों को खरी-खरी सुनाने वाले वही एक वक्ता थे। अमन्द=जो धीमी न पड़े, सतत ज्योतिपूर्ण। दुर्गम मग=ऐसी राह जिसमें काँटे ही काँटे हों, त्यागमय जीवन। दिव्य दृष्टि=असाधारण दृष्टि, ऐसी दृष्टि जो परोक्ष को आँक ले। कंटकमय=कंटकपूर्ण काँटों से भरे हुए।

भावार्थ—एक बार स्वामी विवेकानंद अल्मोड़ा पधारे। उनका स्वागत वहाँ बड़े ज़ोर शोर से किया गया—दीपक जलाए गए, मखमल बिछाई गई। बालक तो स्वभावतः ही प्रत्येक नई वस्तु को देखकर उसे जानने का प्रयास करते हैं। एक ऐसी ही जिज्ञासु बालिका अपनी माँ से पूछती है :—

माँ ! पिछले दिनों जब स्वामी विवेकानंद अल्मोड़े आए थे तब उनके चलने के रास्ते में मखमल क्यों बिछवाया गया था? अन्य व्यक्ति तो बिना मखमल के पथ पर चलते हैं तब उनमें क्या वैशेष्य था? क्या पाँवड़ेविहीन मार्ग पर वह नहीं चल सकते थे? यदि बात यहीं समाप्त हो जाती तब भी ठीक था, उनके लिए तो असंख्य दीपों को भी जलाया गया था। इसका क्या कारण है? क्या उनकी दृष्टि ठीक नहीं थी? क्या उन्हें कम दिखाई पड़ता था? कारण क्या है माँ! बता दो न?

बाल हठ तो प्रसिद्ध ही है, माँ को बालिका की जिज्ञासा शान्त करने के लिए ओंठ हिलाने ही पड़े; "कृष्णे! तू बड़ी भोली है। कुछ नहीं जानती। वह तो ऐसे-ऐसे कण्टकाकीर्ण मार्गों पर चल चुके हैं जिन पर साधारण मनुष्य कभी नहीं चल सकता। छुरे की धार पर चलने मे भी उन्हें किंचित्मात्र भय नहीं होता, यह अल्मोड़े का पथ तो बड़ा सादा है। उनकी दृष्टि भी साधारण जनों से कहीं अधिक है, मंदता का तो प्रश्न ही नहीं। हम तुम तो प्रत्यक्ष ही निहार सकते हैं, पर स्वामी जी परोक्ष को भी देख सकते हैं। उनके दिव्यचक्षु हैं। उन्हें किसी वाह्यालोक की क्या आवश्यकता? वे तो आत्म-ज्योति से परिपूर्ण हैं जो सामान्य जनों को तमस से निकाल कर ज्योति-क्षेत्र में पहुँचा देते हैं। उनके लिए जो मखमल बिछाया गया था वह जनता की श्रद्धा का दिग्दर्शन मात्र था। इसी प्रकार जो दीपकों की कतारें जलाई गई थीं वे उनकी आरती के दीपक थे। पाँवड़े इसलिए नहीं बिछाए गए थे कि उन्हें काँटे लगने का भय था, इसी प्रकार दीपकों की पंक्तियाँ इसलिए प्रज्ज्वलित नहीं की गई थीं कि उन्हें साफ़-साफ़ पथ सूझ जाय। कृष्णे! यह तो अल्मोड़ा निवासियों की अगाध श्रद्धा के परिचायक थे।

विशेष—(१) इस रचना का सौंदर्य इसके बाल-मनोविज्ञान में निहित है। अल्मोड़े के ही बालक नहीं, कृष्णा बालिका ही नहीं, जगत का प्रत्येक बालक हर नई चीज़ को जानने के लिए उत्सुक रहता है। अबोध बालकों का यह भोला कौतूहल सार्वभौमिक है। मनोविज्ञान का एक और सत्य है—वह यह कि बालक की आत्मीयता जितनी माँ से होती है उतनी पिता से नहीं। अतः कृष्णा माँ से ही पूछती है, पिता से नहीं। पिता, संभव है, उसे फटकार भी देता।

(२) कुछ आलोचकों ने इस रचना में भी रहस्यवाद के दर्शन किए हैं। उनके कथनानुसार कृष्णा जीव है, विवेकानंद परमात्मा एवं माँ प्रकृति। जीवात्मा ईश्वर को जानने की सदैव इच्छुक रहती है। पर यह उन्हीं का अर्थ है, कवि का नहीं।

(३) भाषा पात्रानुकूल एवं स्वाभाविक है। उसमें कृत्रिमता की छाँह भी नहीं आ पाई है। बालिका का सीधी-सी भाषा में सीधा-सा प्रश्न है जिसका उत्तर माँ सीधी-सी ही भाषा में देती है। यदि पृष्ठभूमि में बालिका न होती तो यह दो कौड़ी की भी रचना नहीं थी।

(४) 'दुर्गम मग' पढ़ कर हमें कठोपनिषद् (१–३–१४) का निम्नश्लोक याद हो आता है :—

"उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।"

(५) अँग्रेज़ आलोचक यह कल्पना करके बड़े प्रसन्न होते हैं कि जब शेक्सपीयर कहीं से अपने घर को लौटता होगा तब उसे सड़क की धूल में खेलता हुआ मिल्टन मिलता होगा। हम भी क्यों न कल्पना कर लें कि स्वामी जी अल्मोड़े गए होंगे तब कृष्णा ने उन्हें देखा होगा। कृष्णा का अर्थ पंत लगाने में हमें तो कोई आपत्ति नहीं है। आगे चलकर पंत पर स्वामी विवेकानंद का प्रभाव भी पड़ा। प्रगति युग से आध्यात्मिक युग में सरक जाने की, पंत की, बड़ी रोचक कहानी है। स्वामी जी ने लिखा है, **'बौद्धिक क्षेत्र की अपेक्षा मनुष्य अपने आत्मिक क्षेत्र में अधिक आनंदित रहता है।"** कहना न होगा कि पंत अपने 'बौद्धिक क्षेत्र' (प्रगतिवाद) को कभी का त्याग चुके हैं। अब वे 'आत्मिक क्षेत्र' का आनंद ले रहे हैं।

३. प्रथम रश्मि (१९१९, वीणा)

प्रथम रश्मि..............................गाना।

शब्दार्थ—प्रथम रश्मि=प्रातःकाल प्रकाश की प्रथम किरण। रंगिणि=सुन्दर रंगों की मूर्ति, चिड़िया, रंगमंच पर की नायिका।

भावार्थ—प्रभात की किरण फूटने से पूर्व ही पक्षी कलरव कर निकलते हैं। मानव नहीं जान पाता कि प्रातः होने वाला है जब कि पखेरू जान लेते हैं। उन्हें यह ज्ञान कौन प्रदत्त करता है ? वे कैसे जान जाते हैं कि अब प्रभात होने वाला है ? पंत में इस जिज्ञासा का उन्मेष होता है और वे उसकी शांति के लिए अन्य किसी से न पूछकर स्वयं पखेरू से ही पूछते हैं :—

हे रंगिनि ! मानव जाति शांत पड़ी है, प्रत्येक वस्तु खामोश है पर यह तो बता कि तूने कैसे जान लिया कि अब रात समाप्त हो रही है ? तेरे कलरव से मनुष्य जाति जान लेगी कि अब दिन अपनी निद्रा त्याग रहा है, पर यह तो बता तुझे कौन बता जाता है ? तुझमें ऐसी कौन-सी रहस्यमयी शक्ति है, जो मानव में नहीं है, जिससे तू प्रथम किरण ही आगमन पहले ही समझ जाती है ? इतना ही नहीं कि तू प्रथम किरण का आगमन जानकर खामोश हो जाती है, तू मस्ती से गाना प्रारंभ कर देती है। जरा बता दे न, वह कौन-सा स्थान है जहाँ इस मधुर संगीत की शिक्षा दी जाती

है ? मैंने तो किसी मानव से ऐसा कल कण्ठ एवं मधुर संगीत नहीं सुना। तू कहाँ से ले आई ? कुछ तो बता विहंगिनि !

विशेष—(१) यह प्राकृतिक सत्य है कि चिड़ियाँ प्रभात से पूर्व ही चिहुकने लगती हैं। उनका कल-कण्ठ बस उनके जैसा ही होता है। कवि उससे इतना प्रभावित हुआ कि बिना पूछे नहीं रह सका। संभव है अन्य किसी द्वारा उसकी जिज्ञासा शांत न होती। अतः वह सीधा विहंगिनि से ही प्रश्न करता है। 'तूने' से आत्मीयता एवं सामीप्य की ध्वनि निकलती है।

(२) 'कहाँ-कहाँ' का प्रयोग अत्यंत मोहक है। कवि को अपनी जिज्ञासा की शांति की इतनी उतावली पड़ी है कि वह एक साथ दो बार प्रश्न करता है—'कहाँ, कहाँ ? ज़रा जल्दी बता।' एक और ध्वनि निकलती है, वह यह कि किसी एक स्थान पर ऐसा संगीत सीखना असंभव है; अतः वह पूछता है—'कहाँ-कहाँ सीखा है यह संगीत ?'

(३) बाल विहंगिनि से कोई छायावादी ही प्रश्न कर सकता था। जिज्ञासा-वृत्ति छायावाद-रहस्यवाद का प्रथम सोपान था।

सोई थी .... नाना।

शब्दार्थ—स्वप्न-नीड़=घोंसला जिसमें आनंद आता हो, सुख के स्वप्न आते हों। प्रहरी=पहरा लगाने वाले, चौकीदार। जुगनू=पटबीजना; एक कीड़ा विशेष जो रात में चमकता है; बरसात में यह कहीं भी देखा जा सकता है।

भावार्थ—प्रभात का आना पक्षी ने मनुष्य से पूर्व ही जान लिया। वह गा उठी। गाने से पूर्व उस पक्षी की दशा इन पंक्तियों में चित्रित है :

तू अपने घोंसले में निश्चिंत होकर सो रही थी, उस समय की तेरी शांति अलौकिक थी, तुझे सुहावने स्वप्न आ रहे थे। तेरे द्वार पर संख्याहीन जुगनू उड़ रहे थे। लगता है वे तेरे नीड़ की रखवाली कर रहे थे, तू इसीलिए निर्भय थी। तेरी नींद में विघ्न डालने की किसकी सामर्थ्य थी।—

विशेष—(१) पक्षी को इस पद में कवि ने अत्यंत ऐश्वर्यशाली दिखाया है। वह अपने महल के भीतर सुख-चैन से सो रही थी, उसे तनिक भी चिंता नहीं थी क्योंकि असंख्य जुगनू उसकी चाकरी में थे जो पहरा दे रहे थे। यदि दस-बीस चौकीदार ही होते तब भी किसी वाह्य आक्रमण का भय था, पर पहरेदार तो 'नाना' थे, अगणित थे।

(२) स्वप्न तभी आते हे जब गहरी नींद हो, और गहरी नींद तभी आती है जब सोने वाला निश्चिंत हो। प्रति क्षण भयाक्रांत जीव को नींद कहाँ ? विहंगिनि भी निश्चिंत हो सो रही थी, अपने ख्वाबों में मस्त थी।

(३) पहरेदार रात में चाहते हुए भी नहीं सो पाते हैं। यदा-कदा उन्हें झपकी

लग जाती है। जुगनू भी रात को पहरे पर घूमते समय झूम उठते थे। पंत की दृष्टि कितनी सूक्ष्म है।

(४) प्राकृतिक वस्तुओं को मानव-व्यापार करते दिखाना छायावादका वैशेष्य था। जुगनुओं का पहरा लगाना उचित ही था। 'प्रहरी-से' में उपमा-लंकार है।

शशि किरणों से .... मुसकाना।

शब्दार्थ—शशि=चंद्रमा। कामरूप=सिद्धियों युक्त; जो स्वेच्छानुसार अपना रूप बदल ले। नभचर=आकाश में विचरण करने वाले, समीर, देव, अप्सरा आदि।

भावार्थ—जिस समय बाल विहगिनि अपने स्वप्नों मे खोई हुई थी, संसार में अनेक व्यापार हो रहे थे।

हे रंगिणि! तुझे क्या पता कि रात में भी क्या-क्या कार्य होते हैं? तू तो निर्द्वन्द्व होकर सोती रहती है न! जिस समय तू स्वप्नों में निमग्न थी, आकाश में चन्द्रमा विहार कर रहा था, अबर का नाम-निशान भी नहीं था। चन्द्र की किरणें भूमि पर पड़ रही थीं। कवि उत्प्रेक्षा करते हुए लिखता है मानों उन किरणों के सहारे-सहारे आकाशचारी अप्सराएँ अथवा समीर धरती पर उतर आते थे और कलियों को चटखा जाते थे। नभचरों को सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं; अतः वे आकाश से ऐसा रूप धारण करते हे कि किसी को भी गोचर नहीं होते।

विशेष—(१) इन पंक्तियों की कल्पना अत्यन्त कोमल एवं मोहक है। शशि की किरणें कितनी कोमल होती हैं। उनका सहारा लेकर उतरने वाले की कोमलता तो बस समझने की ही वस्तु है। प्रभात की प्रथम किरण के साथ कलियाँ अपने ओठों को खोल देती हैं। कवि कल्पपना करता है मानो कोई अत्यन्त कोमल प्रेमी चन्द्र-किरणों के सहारे आकाश से उतरता है और अपनी प्रेमिकाओं की मुस्कान सिखाकर वापस चला जाता है। कलिकाएँ अभी नवीन हैं, वे प्रणय करना अभी नहीं जानतीं। अतःउनका कोई काम रूप प्रेमी आकाश से उतरकर उन्हें प्रणय का प्रथम पाठ-मुसकराना सिखा जाता है। कलियों के खिलने का कारण कवि ने कितना सुंदर दिया है। कथन की यह वक्रता छायावाद का वैशेष्य है।

(२) 'उतर-उतर कर' से दो ध्वनियाँ निकलती हैं—प्रथम यह कि वे अत्यन्त खामोशी से धीरे-धीरे उतर रहे हैं, दूसरी यह कि 'कामरूप नभचर' एक-दो नहीं अपितु बहुत बड़ी संख्या हैं जो क्रमशः उतरते रहते हैं।

(३) 'कामरूप' से एक अर्थ यह भी निकलता है कि कलियों के प्रेमी अत्यंत कामुक हैं—इतने कि अपनी प्रेयसी (कलियों) के पास स्वयं आते हैं।

स्नेह-हीन .... ताना।

शब्दार्थ—स्नेहहीन=तेल के बिना। शून्य=बिना। अवनि=पृथ्वी।

तम=अंधकार। मण्डप=चँदोबा, पण्डाल।

भावार्थ—तारों की ज्योति अब मंद हो चली थी, उन दीपों के समान जिनका तेल समाप्त होने को होता है। समीर शांत था जिसके कारण वृक्ष का एक भी पत्ता नही हिल रहा था, लगता था जैसे उनकी श्वास बन्द हो गई है। संसार नींद में डूबा स्वप्न देख रहा था। प्रभात होने को था, अतः तारों की आभा फीकी पड़ गई थी एवं सर्वत्र अन्धकार का साम्राज्य था।

विशेष—(१) दीपक का प्रकाश तभी तक तेज़ होगा जब तक उसमें तेल रहेगा, तेल के बिना वह कुछ देर अपना सिर धुनेगा और समाप्त हो जायगा। प्रातः सितारे ऐसे ही लगते है गोया पहले उनमें तेल भरा हो और अब वह, रात भर जलते रहने के कारण शायद खत्म होने वाले हों।

(२) 'तरु के पात'; 'स्वप्न' एवं 'तम' का मानवीकरण द्रष्टव्य है। वनस्पति विज्ञान में तो सर जगदीशचन्द्र बोस के समय से पत्ते सांस ले निकले। साहित्य में छायावाद में ही सांस ली जाती है। इसी प्रकार स्वप्न न तो विचार सकते हैं और न तम मण्डप तान सकता है। अमूर्त स्वप्नों को मूर्त रूप देना तथा तम को मानव रूप में मण्डप तानते देखना छायावाद में ही संभव हुआ।

कूक उठी..............................आना।

शब्दार्थ—तरु-वासिति=वृक्ष पर निवास करने वाली, चिड़िया। अन्तर्यामिनि=हृदय की बात जानने वाली। उसका=अर्थात् प्रथम रश्मि का।

भावार्थ—तारों का तेल समाप्त होने वाला था, तम का साम्राज्य था, जुगनू इधर-उधर टहल रहे थे कि बाल विहंगिनि कूक उठी। कवि पूछ उठा—

जगत की प्रत्येक वस्तु निन्द्रा में मग्न थी, ऐसे में हे तरु वासिनि। तू एकाएक चौक उठी एवं प्रथम रश्मि के स्वागतार्थ मंगल-गान कर उठी। तू सचमुच हृदय की बात जानने वाली है, बड़े से बड़े रहस्य की ग्रंथि को तू खोल सकती है। तनिक तो बता तुझे प्रथम रश्मि के आने का पता तुझे कैसे लग गया? किसने सूचित किया? जगत तो सो रहा है।

विशेष—(१) 'कूकना' का प्रयोग अत्यन्त समुचित है। इसका अर्थ है तरुवासिनि की भी 'श्वास निद्रा' है जो तनिक सी आहट से एकदम कूक उठती है।

(२) 'रंगिणि' और 'विहंगिनि' के उपरांत अब कवि पखेरू के लिए 'अंतर्यामिनि' संबोधन प्रयुक्त करता है। मानव प्रत्यक्ष का ही ज्ञान कर सकता है, तरुवासिनि ही ऐसी है जो भावी प्रथम किरण को पहले से ही जान लेती है। उसे कोई बताने नहीं आता कि प्रभात होने वाली है, उसका आंतरिक ज्ञान ही उसे बता देता है। कवि का प्रश्न इसीलिए अब तक उत्तर नहीं पा सका है।

निकल सृष्टि..........................टोना-माना।

शब्दार्थ—अंध-गर्भ=अंधकारमय संसार। छाया-तन=छाया के समान

धूमिल शरीर वाले। खल=दुष्ट। निशिचर=रात में विचरण करने वाले, राक्षस। कुहुक, टोना-माना=जादू-टोना।

भावार्थ—रजनी में जहां नभचर प्रणय-व्यापार करना सिखा रहे थे वहा कतिपय दुष्ट कार्य भी हो रहे थे।

समूचा संसार अंधकार के मण्डप के नीचे निद्रामग्न था। ऐसे शुभ अवसर पर दृष्टि के अंधेरे गर्भ से दुष्ट राक्षस निकल-निकल कर अपना जादू-टोना चला रहे थे उनका शरीर ऐसा नहीं था जो स्पष्ट हो अथवा जिसका अनुभव स्पर्श से किया जा सके। उन मायावी राक्षसों का शरीर छाया-जैसा छाया-रहित था। स्थूलता का तो प्रश्न ही नहीं, उनका रंग भी स्याह था।

विशेष—(१) राक्षसों के विषय में प्रचलित व्यापारों को कवि ने वाणी दी है। प्रसिद्ध है कि वे लोग प्रकाश में कहीं छिपे रहते है और अंधकार में अपना काम करते हैं। इस पद में प्रयुक्त 'निशाचर' शब्द साभिप्राय है।

(२) यह प्रसिद्ध है कि राक्षस जादू-टोना जानते हैं; वे जब जैसा रूप चाहें धारण कर सकते हैं। उनका यथार्थ रूप आज तक किसी ने नहीं जाना है, इसीलिए उन्हें मायामय कहा जाता है। यहाँ उन्हें शरीर विहीन बताया गया है, छायामात्र कहा गया है। फिर छाया की छाया क्या ? इसीलिए पंत जी ने उन्हें 'छाया-तन बहु छाया-हीन' कहा है। खल तो वे होते ही है।

(३) प्राचीन काल में रिपुओं का संहार करने के लिए चक्रव्यूहों की रचना की जाती थी। उन व्यूहों का निर्माण इस चातुरी से किया जाता था कि उसमें जो कोई एक बार भी फँस जाय वह किसी भी दशा में बाहर न निकल सके। भूत-प्रेतों के चक्कर में फँसकर भी मनुष्य को चैन कहाँ ? कवि ने इन मायावी निशाचरों के काम को, इसलिए, 'चक्ररचना' कहा है।

छिपा रही........................दीवाना।

शब्दार्थ—शशि बाला=चंद्रमा रूपी बालिका। श्रीहीन=आभा रहित, कांतिविहीन। क्रोड़=गोद, संपुट। अलि=भौंरा। दीवाना=पागल।

भावार्थ—प्रभात होने ही वाला है। कवि उसी का वर्णन कर रहा है :

रात भर चन्द्रमा अपने श्रम से जग को शीतलता एवं प्रकाश प्रदान करता रहा था। थक जाने के कारण उसकी कांतिश्री, आभा चली गई थी। प्रभात के समय वह अपने मुख को छिपाना चाहता था। उधर मधुकर की दशा भी बड़ी दयनीय थी। वह कमल के संपुट में बन्दी-जीवन व्यतीत कर रहा था। और चक्रवाक् ?—आह ! अपनी प्राणेश्वरी से बिछुड़ जाने के कारण सिर धुन रहा था। सभी दुखी थे—क्या चंद्र, क्या भ्रमर, क्या कोक !

विशेष–(१) 'शशि' को पंतजी ने बाला माना है बाल नहीं। जैसाकि उनकी अभिव्यंजना-पद्धति के सम्बन्ध में बताया जा चुका है वे किसी भी शब्द का लिंग-निर्णय

करते समय अकारांत-इकारान्त का ध्यान न रखकर उसकी कोमलता एवं परुषता का ध्यान रखते हैं। 'पल्लव' के 'प्रवेश' में इन्होंने इस पर बहुत विचार किया है। वे पुल्लिंग उस शब्द को मानते हैं जिसमें महानता, परुषता आदि पुरुषोचित गुण हों, इसी प्रकार स्त्रीलिंग उसे जिसमें कोमलता, लावण्य आदि स्त्रियोचित गुण हों। उनके अनुसार "**लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य**" होना चाहिए, नहीं तो "**शब्दों का ठीक-ठीक चित्र सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित-सी हो जाती है।**" इस पद में 'शशि' को उन्होंने इसीलिए स्त्रीलिंग माना है। वैसी कोमलता और कहाँ मिल सकती है।

(२) कविप्रसिद्धि है कि रात को कोक-कोकी विलग हो जाते हैं। चक्रवाक-"**हंस-जाति का पक्षी है। दिन में सदा चक्रवाक जोड़ों में ही पाये जाते हैं। भारतीय भाषाओं के काव्य-ग्रंथ इस पक्षी के प्रणयाख्यान से भरे पड़े हैं। कवि-सम्प्रदाय का कहना है कि चक्रवाक और चक्रवाकी दिन में नदी या जलाशय के एक ही किनारे रहते हैं पर रात में अलग-अलग हो जाते हैं, पुरुष इस किनारे पड़ा रह जाता है तो स्त्री उस किनारे। सारी रात वियोग में कटती है। अग्निवेश रामायण की कथा है कि स्त्री-वियोग में कातर राम को देखकर चक्रवाकों ने हँसी उड़ाई थी। परिणामवश उन्हें इस प्रकार वियुक्त होने का अभिशाप-भागी होना पड़ा।** × × × **पक्षि-विद्या के प्रसिद्ध पंडित श्री सत्यचरण लाहा ने लिखा है कि यह पक्षी भारतवर्ष का स्थायी अधिवासी नहीं है। चैत्र, वैशाख में यह हिमालय की ओर यात्रा करता है।** × × **चकवा-चकवी की वियोग-कथा की अच्छी जाँच अभी नहीं हुई है। स्टुआर्ट बेकर ने रात में पक्षि-मिथुन को वियुक्त-भाव से विचरण करते देखा है। ये एक दूसरे को उत्कंठा भरी आवाज से पुकारते-से जान पड़ते थे।**"[1] ऐसे ही कोक को पंत जी ने शोक से दीवाना बताया है।

मूर्छित थीं .... जाना।

शब्दार्थ—इंद्रियाँ=यह दस मानी गई हैं—पाँच कर्म की और पाँच ज्ञान की। स्तब्ध=मौन, शान्त। एकाकार=बिल्कुल समान।

भावार्थ—रात्रि का वर्णन करते हुए पन्त जी कहते हैं—

रजनी में मनुष्यों की समस्त इंद्रियाँ मूर्छित थीं। वे अपनी कोई भी कार्य नहीं कर रही थीं। सारा संसार शांत एवं खामोश था। अंधकार का इतना प्रबल साम्राज्य था कि भान नहीं होता था कि कौन-सी वस्तु जड़ है एवं कौन-सी चेतन। लगता था जैसे सारा संसार जनविहीन है। हाँ, कभी-कभी समीर लहराता हुआ बह निकलता था अथवा प्राणियों की साँसे अवश्य जारी थीं अन्यथा इंद्रियाँ तो उनकी भी अनुभूति से विहीन थीं।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृष्ठ २४२-२४३

विशेष—(१) इंद्रियों से अभिप्राय यहाँ हाथ, कान, नाक, आँख, त्वचा नामक कर्मेन्द्रियों से है। जब यह अनुभूतिशून्य हो जाती हैं उस दशा को मूर्छावस्था कहते हैं। यहाँ इसका अर्थ है कि समूचा संसार घोर निद्रा में निमग्न था। उसे होश नहीं था।

(२) 'जग' का मानवीकरण तो है, ही विशेषण विपर्यय भी है। जग स्तब्ध नहीं था अपितु जग के निवासी स्तब्ध थे। इसी प्रकार वह साँस नहीं ले रहा था उसके निवासी ले रहे थे। कविवर वर्डसवर्थ ने ऐसे भावों को कई स्थलों पर व्यक्त किया है। 'अपॉन वेस्टमिंस्टर ब्रिज' चतुर्दशपदी की अंतिम तीन पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

The river glideth at his own sweet will;
Dear God; the very houses seem asleep;
And all that mighty heart is lying still !

(३) अत्यंत घने तम में वस्तुओं को अलग-अलग करके देख सकना असंभव है। वे सब एकाकार होती हैं। ईसाई मानते हैं कि जगत के निर्माण से पूर्व समस्त वस्तुएँ एकाकार की ही दशा में थीं। इस दशा का नाम बाइबिल मे 'क्यौस' (Chaos) आया है। ईश्वर ने इस अंधकार को दूर करके (लैट देअर बी लाइट; एण्ड देअर वॉज़ लाइट) वस्तुओं की एकाकारिता दूर की। इस दशा को 'कॉसमॉस' (Cosmos) कहा गया है।

तूने ही·······························**ताना-बाना।**

शब्दार्थ—बहु दर्शिनि=अत्यधिक देखनेवाली, ज्ञानवान्।

भावार्थ—समग्र संसार निद्रामग्न था। मानव-जाति मूर्छित थी। तम का साम्राज्य था पर पखेरू शांत न था।

कवि को आश्चर्य है कि ऐसे समय में भी वह जान गई कि प्रभात होने वाला है। वह कह उठता है हे बहुदर्शिनि ! मनुष्य नहीं जान पाया कि प्रभात होने वाला है, तूने जान लिया; तू सचमुच सब कुछ जानने वाली है; सर्व प्रथम तूने ही जागरण गान गाया। हे आकाश में विचरण करने वाली ! तेरी मधुर ध्वनि से प्रकृति का कण-कण जाग उठा है। लोगों को बोध हो गया कि अब प्रातःकाल होने वाला है। सर्वत्र शोभा, सुख और सुगंधि बिखर गई। लगता है यह सब तेरे कारण ही हुआ है।

विशेष—(१) जब प्रभात होने को होता है मानव तब भी सोता रहता है पर पखेरू ऐसा नहीं करता। वह तो प्रथम रश्मि के आने के पूर्व ही चिहुक उठता है। कवि ठीक ही सोचता है कि पक्षी का ज्ञान मानव के ज्ञान से कहीं अधिक होता है। वह उसे, इसीलिए, 'बहुदर्शिनि' कह कर पुकारता है।

(२) अंतिम पंक्ति बड़ी भावपूर्ण है। जब वस्त्र बुना जाता है तो उसमें चारों ओर धागे ही धागे रहते हैं उसी प्रकार जब नभचारिणि ने स्वागत-गान प्रारंभ किया तो सर्वत्र श्री, सुख, सौरभ व्याप्त हो गया। प्रभात वस्तुतः अत्यंत ही स्पृहणीय

होता है !

निराकार तम..........................माना ।

शब्दार्थ—निराकार=आकार विहीन । तम=अंधकार । ज्योति-पुंज= अत्यधिक प्रकाश । साकार=आकार सहित । द्रुत=शीघ्र । चिड़िया गा उठी= जगत अँगड़ाई ले उठ बैठा ।

भावार्थ—जब प्रभात नहीं हुआ था, अंधकार की चादर तनी थी, जड़-चेतन सब एकाकार हो रहे थे। पर ज्योंही दिनकर की किरण आई, सर्वत्र प्रकाश बिखर गया; अंधकार में न दीखने वाले पदार्थ अब पूर्णतया दिखाई पड़ निकले। कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहता है मानो निराकार ब्रह्म ने साकार रूप धारण कर लिया हो।

विशेष—(१) इन पंक्तियों में पंत जी ने जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार व्यक्त जगत प्रलयोपरांत अव्यक्त ब्राह्म से उत्पन्न होता है और फिर प्रलय के आने पर यह सारा व्यक्त जगत उसी अव्यक्त ब्रह्म में लीन हो जाता है :—

"अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।"

भारतीय-दर्शन के अनुसार ब्रह्म की भी दो प्रकृतियाँ है—निराकार और साकार। जब वह निराकार रूप में होता है तब वह अभाव रूप में कहा जाता है। क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर में से किसी की भी सत्ता नहीं रह जाती। पुन: सृष्टि का विकास नए सिरे से प्रारंभ होता है और वह निराकार, अव्यक्त ब्रह्म फिर अपना व्यक्त एवं साकार रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार यह दृश्यमान जगत निराकार ब्रह्म का ही व्यक्त रूप है।

(२) अठारह-उन्नीस वर्ष की अपरिपक्वावस्था मे सृष्टि और प्रलय के विषय में सोचना कवि के भावी चिन्तन की ओर इंगित करता है।

सिहर उठे..........................दाना ।

शब्दार्थ—सिहर उठे=काँप उठे। पुलकित=रोमांचित। द्रुम-दल=वृक्षों के पत्ते। अधीर=धैर्य रहित अर्थात् चल निकला।

भावार्थ—अब रात बीत गई, प्रभात हो गया, उसी समय का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

ज्योंही रजनी ने विदा ली और प्रात हुआ, जगती की दशा ही बदल गई। वृक्षों पर के पत्ते हर्ष से विभोर होकर हिलने लगे। रातभर समीर सोता रहा था, अब वह अधिक देर शांत नहीं रह सका और बहने लगा। फूल खिल गए। उनकी पंखुड़ियों पर पड़ी हुई ओस की बूंदें प्रथम रश्मि की थपकी पाकर मोती के दानों के समान चमक उठीं। समीर का झोंका खाकर वे हिल निकली जिससे सुमनों के सौंदर्य में और भी वृद्धि हो गई।

विशेष—(१) जब रात थी तब क्लेश ही क्लेश था। शशि बाला, भ्रमर और चक्रवाक सभी दुःखी थे। जड़-चेतन शोकाहत हो मूर्छित पड़े थे। प्रातः होते ही सब प्रसन्न हो गए।

(२) इसमें 'द्रुम-दल', 'समीरण' एवं 'कुसुम'—तीनों का मानवीकरण है। पत्रों की सिहरन, समीरण का सोना-जगना, कुसुम के अधर होना और उन पर हँसी का झलकना छायावाद में ही संभव हुए। प्रकृति पर मानव-व्यापारों का आरोप तत्युगीन कवियों की विशेषता थी।

(३) पंत कोमल कल्पना के कवि हैं। प्रकृति के कठोर चित्रों ने उन्हें नहीं लुभाया है। प्रस्तुत छन्द में भी उनकी कल्पना ने कोमलता का ही चयन किया है, परुषता का नहीं।

(४) अंतिम दो पंक्तियों का चित्र इतना सुन्दर है कि अर्थ करते ही बिखर जाता है। कुसुम की पंखुड़ियों को उसके अधर, ओस की पड़ी हुई बूंदों को मोती-से दाँत एवं समीरण के बहने से उनके हिलने को कुसुमों की मुसकान मानना कितना काव्यमय है।

खुले पलक ························ अपनाना।

शब्दार्थ—सुवर्ण = स्वर्ण, सोना। स्वर्णिम = सुनहरी। सुरभि = सुगन्धि। मधुबाल = भौंरे।

भावार्थ—अब प्रातः की प्रथम रश्मि ने धरती छू ली, सोता हुआ संसार चैतन्य हो गया। प्रातः होते ही तम प्रकाश में लीन हो गया, वृक्ष हर्ष-विभोर हो गए, रुका हुआ समीर बह उठा, सुमन मुस्करा दिए, मूर्छित इंद्रियाँ पुनः चैतन्य हो गई। ऐसा लगा मानो जगत की प्रत्येक वस्तु की तंद्रिल पलकें खुल गई। प्रथम किरण ने अपना रंग बिखेर दिया, जिससे चारों ओर सुनहरी रँग फैल गया। अब तक सुगंधि फूलों की पंखुड़ियों के भीतर सो रही थी, अब वह भी जग गई। जब सुगन्धि फैली तो भौंरे भी इतस्ततः दौड़ निकले। चर-अचर सब में प्रभात होते ही गतिशीलता, कंपन और नया जीवन छा गया। प्राणी रुके हुए कार्यों पर पुनः जुट गए।

विशेष—(१) जैसा अभी 'शशि' के संदर्भ में कहा पंत जी के लिंग-निर्णय के नियम अपने निजी हैं। प्रस्तुत छंद में 'पलक' को कवि ने पुंलिंग माना है।

(२) 'स्वर्ण' से पंत जी को 'सुवर्ण' अच्छा लगता है। इस संबंध में 'पल्लव' का 'प्रवेश' पठनीय है।

(३) जागने का व्यापार चेतन का होता है इसमें कवि ने सुरभि का जगना बताया है। यह 'सुरभि' का मानवीकरण एवं अमूर्त का मूर्त विधान है।

(४) जब कोई व्यक्ति बिना किसी विशेष कार्य के इधर-उधर घूमता है उसे डोलना कहते हैं। इन पंक्तियों में भौंरों के लिए डोलना शब्द का प्रयोग अत्यंत समीचीन है। उनके घूमने की भी कोई निश्चित दिशा नहीं होती, उन्हें तो जहाँ

सुगन्ध प्राप्त हो वहीं अपना दिल खो देना होता है।

प्रथम रश्मि........................गाना ?

भावार्थ—इसका अर्थ पहले ही हो चुका है। पंत जी उस विहंगम के संगीत से इतने प्रभावित हुए हैं कि उनका अचरज प्रारम्भ में ही प्राप्त होता है और अंत में भी। कविवर कीट्स की एक सुप्रसिद्ध रचना है—'ला बैले डेम संस मर्सी'; उसमें कवि ने एक शूर को अत्यंत कृशकाय देखा है। कवि प्रारम्भ में ही उससे प्रश्न करता है कि वह इतना दुखी क्यों है, और कुछ दूसरे छंद में फिर पूछता है कि आखिर कारण क्या है? आश्चर्य की पराकाष्ठा कई प्रकार के समान शब्दों में व्यक्त होती है। अच्छे विद्यार्थी की सफलता हम दो बार पूछते हैं—"क्या वह फेल हो गया? क्या पास नहीं हुआ?' जब रावण को यह संदेश दिया गया कि राम ने समुद्र पर पुल बाँध लिया तो वह एकदम 'चकपका' गया था। उस समय समुद्र के लिए उसने दस नामों का प्रयोग किया था—क्या क्या जलनिधि बँध गया? क्या नीरनिधि बँध गया? आदि। पंत भी उस पखेरू के गीत से अत्यधिक प्रभावित हुए और उससे उसके गुरु का नाम पूछने लगे। बहुत-सी अन्य बातें करने के उपरांत उन्हें फिर उसका संगीत याद हो आया और वही प्रश्न पूछने लगे जो उन्होंने प्रारम्भ में ही एकदम पूछा था।

१४—नीरव तार (१६२६, गुंजन)

नीरव तार......................अरुणोदय में।

शब्दार्थ—नीरव=आवाज़ रहित, खामोश। मंजुल=सुंदर। लय=स्वर, स्वर के आरोह। अनिल=हवा। पुलक=रोमांच। अरुणोदय=सूर्योदय।

भावार्थ—प्रातः की मोहक बेला में कवि के हृदय में जो भावना उठी, वही इन पंक्तियों में वर्णित है—

रजनी का घना अंधकार अब समाप्त हो गया है, उषा ने अपने घूँघट को थोड़ा सा ऊपर उठा लिया है। रात भर का सोया हुआ समीर भी शीतलता एवं सुगंधि को लेकर मंदगति से बह निकला। प्रभात के समीर के संस्पर्श से कवि का शरीर रोमांचित हो उठता है। उसके हृदय में आनंद की अनुभूति हो रही है। कवि कहता है कि उस समय वह मधुर भावनाओं से इतना आह्लादित है कि हृदय रूपी वीणा के तार आप से झंकृत हो उठे हैं पर वे तार शब्दहीन हैं। अतः हृदय के उल्लास का गीत अनुभूति की ही वस्तु है, किसी अन्य पुरुष को सुनाने की नहीं।

विशेष—(१) प्रभात में मरे से मरा रोगी भी उल्लास का अनुभव करता है, फिर कवि तो कवि ठहरा। उसे तो साधारण प्राणियों से स्वभावतः अधिक आनंद की अनुभूति होगी।

(२) हृदय को वीणा मानना कवियों की फैशन में आ गया है पर जहां वीणा

के तारों का स्वर अन्य पुरुष को सुनाया जा सकता है वहाँ हृदय की वीणा के तार का नहीं अर्थात् सुख-दुख, हर्ष-पुलक की अनुभूति ही हो सकती है, प्रदर्शिनी नहीं। पंत जी ने हृदय के तार को इसलिए 'नीरव तार' कहा है।

चरण कमल ....आशय में।

शब्दार्थ--रज रंजित=धूल से रंगा हुआ, सना हुआ, धूल-धूसरित। मधु-रस मज्जित=मकरंद में डूबा हुआ आनंद मे निमग्न। चरणामृत=वह जल जो चरण धोने के उपरांत बच रहता है। आशय=आश्रय, रहने की जगह।

भावार्थ--प्रभात की पुण्य बेला में कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है--

हे भगवन्! आप मुझे ऐसी सद्बुद्धि दीजिए कि अपने चंचल मन को आपके चरण रूपी कमल में पूर्णतया लगा सकूँ। जगत के किसी भी प्रलोभन की ओर वह न डिगे। मैं यह भी चाहता हूँ कि अपने शरीर को भस्म से लिपेट लूँ। जब तक मुझ पर आपकी कृपा न होगी मेरा मन संसार की चटक-मटक में लगा रहेगा, त्याग से घृणा करता रहेग।। ऐसी कृपा करो कि मैं अपने जीवन को वीतरागी साधु-संतों की भाँति त्यागमय बना सकूँ। हे प्रभु! मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरा जीवन आनन्दमय हो जाय और आपके चरणामृत-सरोवर में अहर्निश डूबा रहे। मुझे विषय-वासनाओं से दूर ही रक्खो। यह सब तभी संभव है जब आपका अनुग्रह हो।

विशेष--पंत जी यहाँ सूरदास की भांति भगवान् के चरणकमल की वंदना कर रहे हैं। उन्नीस वर्ष का युवक अपने शरीर पर भस्म मलना चाहता है! अनुभूति का कैसा खोखलापन है। ऐसी रचनाओं से यह भी लगता है कि उनकी प्रगतिवादी रचनाएँ भी अनुभूति से शून्य होंगी!

नित्य कर्म-पथ......................संचय में।

शब्दार्थ--निर्मल=विकारहीन, ईर्ष्या, मोह, छल से आदि रहित। अन्तर= हृदय। पर-सेवा=दूसरे की सेवा, स्वार्थ का लोप। मधुसंचय=अमृत का भण्डार अर्थात् पुण्य कार्य।

भावार्थ--इस रचना के प्रथम दो छन्दों में कवि प्रफुल्लित है एवं ईश्वर से अनुरोध करता है कि वह कवि के मन को अपने चरणों में लगा ले। अंतिम छन्द में भी दूसरे छन्द की ही भावना है।

हे भगवान! मेरी आंतरिक इच्छा है कि मैं कभी भी अपने कर्तव्य से च्युत न होऊँ। कठिन से कठिन कर्म को हँसी-खुशी से पूरा कर सकूँ। मुझे इस योग्य बना दो कि मेरे हृदय में कालुष्य का चिह्न भी न रह जाय। मुझे ऐसी सद्बुद्धि दो, प्रभु! कि मैं दूसरों की सेवा करने से कभी न हिचकूँ और भ्रमर की भाँति पुष्पों के संचय में दुःखियों की सेवा का पराग भरता रहूँ, अर्थात् जिस प्रकार भौंरा पराग एकत्र करता रहता है उसी प्रकार मैं भी दूसरों की सेवा का फल संचित करता रहूँ।

विशेष--(१) यह देखा गया है कि प्रातःकाल में हमेशा अच्छी भावनाएँ ही उठा करती हैं। पंत जी भी इसका अपवाद नहीं हैं। उनमें भी बड़ी सुन्दर एवं उच्च भावनाएँ उठी हैं।

(२) पंत जी ने इस रचना के शीर्षक में दो विरोधी शब्दों को देखकर चमत्कार उत्पन्न कर दिया। छायावादी कवियों के बाँटे ही ऐसे तार आए जिनसे कोई ध्वनि निस्सरित नहीं होती थी। वास्तव में हृदय ऐसी बहुत सी बातों का अनुभव करता है जो शब्दों में नहीं बाँधी जा सकती।

(३) इस रचना के तीनों छंद तीन प्रकार के हैं।

५--स्नेह (सितम्बर १९२२, पल्लव)

दीप के बचे·························उर में।

शब्दार्थ--दीप = दीपक; जीवन। विकास = दीपक के बुझ जाने पर बचा-खुचा तेल; मृत्यु के उपरांत स्मृति के रूप में रहने वाला। स्नेह = तेल, प्रीति। उर = दीपक, हृदय।

भावार्थ--प्रस्तुत रचना में पंत जी ने प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन किया है। धरती मिट जाय पर प्रेम नहीं मिट सकता--

इन पंक्तियों में पंतजी ने स्नेह के लिए 'दीप के बचे विकास' प्रयुक्त किया है। जिस प्रकार यदि दीपक बुझ भी जाय तब भी उसके आस-पास चारों ओर तेल का चिह्न रह जाता है उसी प्रकार मनुष्य की ऐहिक लीला समाप्त हो जाने पर भी लोग उसके स्नेह को नहीं भूल पाते। शरीर चाहे विनष्ट हो जाय पर स्नेह अमर है। दीपक जलना भले ही बंद कर दे पर उसकी चिकनाई का कुछ न कुछ अंश तो अवश्य बचा रह जायगा। संसार का भीतरी से भीतरी कोई कोना ऐसा नहीं है जहाँ पवन की गति न हो। प्रेम की भी यही दशा है। मनुष्य चाहे प्रसन्न यो, चाहे दुःखी उसके मूल में स्नेह की ही उपस्थिति होती है। जिस प्रकर प्रत्येक चेतन प्राणी के हृदय में साँस रहती है उसी प्रकार, पंत जी के अनुसार, स्नेह रहता है।

विशेष--(१) पंतजी ने इन पंक्तियों में स्नेह को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। शरीर को दीपक एवं तेल को उन्होंने स्नेह माना है।

(२) कोई प्राणी बिना साँस के जीवित नहीं रह सकता। प्रेम भी साँस के ही समान है जिसकी अनुपस्थिति मरण का संकेत है। जिस दिन धरा से प्रीति उठ जायगी, प्रलय का गान गोचर हो निकलेगा। यह बात कवि ने उपमाओं के प्रयोग से समझाई है।

यही तो·························निःश्वास।

शब्दार्थ--हास = हँसी-खुशी। खिले यौवन = पूर्ण जवानी, मदमस्त यौवन। मधुप = अर्थात् आनन्दमय, प्रसन्नतायुक्त। विलास = आनन्द। प्रौढ़ता = तीस और पचास के बीच की अवस्था। विकास = बुद्धि। जरा = बढ़ापा।

अन्तर्नयन=आंतरिक, हृदय का। प्रकाश=बुद्धि। हुलास=आनन्द, प्रसन्नता। दीर्घ=गहरा। निःश्वास=साँस।

भावार्थ—कवि के अनुसार प्रत्येक अवस्था के प्रत्येक महान् कार्य के पीछे प्रेम की ही शक्ति होती है। यहाँ वह कहता है—

बाल्यावस्था में बालक हर समय प्रसन्न रहता है उसकी यह हँसी-खुशी प्रेम ही है। किसी भी शिशु को प्रसन्न मुख देखकर उससे स्नेह हो जाना स्वाभाविक है। चढ़ती जवानी में मनुष्य शृंगारिकता में तन्मय हो जाता है। जिस प्रकार भौंरा मधु-पान करते समय संसार की प्रत्येक वस्तु से बेखबर हो जाता है उसी प्रकार दो प्रेमी अपने-अपने अस्तित्वों को एक दूसरे के अस्तित्व में खोने के लिए उतावले रहते हैं। यह सब प्रेम के ही कारण होते हैं। मनुष्य प्रौणावस्था में विवेक और ज्ञान का आगार हो जाता है वह भी प्रेम के कारण! उसमें ज्ञान प्राप्त करने की ललक उठती है; फलतः वह तद्विषयक ग्रंथों का परायण करता है। ललक की इस कमी से उसे ज्ञानप्राप्ति नहीं हो सकती। वृद्धावस्था में मनुष्य कुछ का कुछ बन जाता है। न उसमें शैशव का हास रहता है और न यौवन की खुमारी। दुनिया में अहर्निश लिपटा हुआ जीव कम से कम वृद्धावस्था में अंतर्मुखी हो जाता है। यह भी स्नेह के कारण होता है। दुनिया की माया में अात्यधिक लिपटा हुआ मनुष्य ही समय आने पर विरक्त होता है। बालक के जन्म-दिवस पर कितनी खुशियाँ मनाई जाती हैं। इसका कारण भी स्नेह ही है। और जब किसी प्रेमी की मृत्यु होती है तब हृदय गल-गलकर नयनों से बह निकलता है। इसका कारण भी तो स्नेह ही है। सारांश यह है कि जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक महान कार्य के पीछे स्नेह का ही हाथ रहता है।

विशेष—(१) जन्म से मृत्यु तक हँसी-खुशी, हास-विलास, बुद्धि-विकास, निःश्वास ही प्रमुख कार्य है। पंत जी ने इन सबके पीछे स्नेह की ही उपस्थिति को स्वीकार किया है।

(२) जब कोई अपरचित व्यक्ति संसार से उठ जाता है तब हमें उतना क्लेश नहीं होता जितना उस समय होता है जब हम अपने किसी स्नेही के प्रयाण के विषय में सुनते हैं। पंत जी ने इसीलिए स्नेह को 'मृत्यु का दीर्घ निःश्वास' कहा है।

है यह..............................श्रवण।

शब्दार्थ—यह=स्नेह। वैदिक वाद=स्नेह का सिद्धान्त जिसकी प्रतिष्ठा-जन-साहित्य में ही नहीं, वेदों तक में है। उन्माद=पागलपन। नाद=स्वर, ध्वनि। गिरा=वाणी। सनयन=आँख सहित। नीरव=शांत। श्रवण=कान, सुनना।

भावार्थ—पंत जी के अनुसार स्नेह प्रलयोपरांत भी समाप्त नहीं हो सकता है। जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक महान् कार्य में स्नेह का ही हाथ रहता है। कवि का यह भी विश्वास है कि स्नेह की सत्ता उसी दिन से है जिस दिन वेदों का निर्माण हुआ था।

पारस्परिक स्नेह कोई आज की ईजाद नहीं है, इसका महत्त्व वेदों के काल से ही है। सुख और दुख का अतिरेक स्नेह के ही कारण होता है। जिस प्रकार दुख की चरम सीमा मनुष्य को पागल बना देती है उसी प्रकार सुख की पराकाष्ठा भी उसे पागल बना देती है। अकेला स्नेह ही ऐसा है जो जड़-जड़ में, चेतन-चेतन में एवं जड़-चेतन में एकता बनाए रखता है। इतना ही क्यों, चेतन के विभिन्न अंगों को भी यही बाँधे रखता है। कैसी अचरज की बात है कि एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का काम कर निकलती है। यह चिरंतन सत्य है कि वाणी कुछ कह ही सकती है, देख नहीं सकती। इसी प्रकार नेत्रों का कार्य देखना है, वे बेचारे कह तो कुछ भी नहीं सकते। पर स्नेह के प्रभाव में आकर वे एक दूसरे का काम कर निकलती है अर्थात् वाणी देखती है एवं नयन बोलते हैं। अर्थ यह है कि प्रेमी अपनी वाणी से अपने उनका वर्णन इस ख़ूबी से करता है कि सुनने वाले को लगता है मानो वाणी ने उसे स्वयं देखा हो। उसी प्रकार प्रेम में जिस समय व्यक्ति निमग्न हो जाता है, उसकी आँखों से ही मन के भाव पढ़े जा सकते हैं। जिह्वा को हिलाने की आवश्यकता नहीं। स्नेह का प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि अंदर रहने वाला मन भी कान तक आ जाता है और स्वयं बात सुन निकलता है। अर्थ यह है कि मनुष्य अपने प्रेमी के ध्यान में इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी बात बिना किसी के कहे-सुने ही समझ लेता है।

विशेष—(१) 'है यह वैदिकवाद' बड़ी कमज़ोर पंक्ति है। पर दो पंक्तियाँ बड़ी सुंदर है। तुलसीदास जी ने 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कहा पर प्रेम में सब कुछ संभव है—वाणी देख निकलती है, नेत्र बोल उठते है।

(२) कविश्रेष्ठ बिहारी के प्रेमी-प्रेमिका पंत जी के कथन की साक्षी भरते हैं। घर में चहल-पहल मची हुई है, स्त्री-पुरुषों की भीड़ की भीड़ है। ऐसे में उन्हें बोलने का अवसर कैसे मिले। तो क्या वे बात ही न करें? नहीं, उनके भी नयन वाणीमय हो जाते हैं, वे उन्हीं से वार्तालाप कर लेते हैं, कोई भी नहीं जान पाता—

"भरे भौन में करत हैं नैननि ही सौं बात।"

अश्रुओं में.............................श्वास।

शब्दार्थ—भास=आभास, चमक, प्रतिबिंब। उच्छ्वास=ऊपर खींची या छोड़ी जाने वाली साँस, आह भरना।

भावार्थ—स्नेह में व्यक्ति की दशा कैसी हो जाती है—उसीका प्रस्तुत पंक्तियों में दिग्दर्शन कराने का प्रयास है।

प्रेम में मनुष्य पागल जैसा हो जाता है। जब किसी व्यक्ति से उसका प्रिय बहुत दिनों उपरान्त मिलता है तो उसके नयनों में प्रेमाश्रु छलक आते हैं। इसी प्रकार जब प्रेमी जाता है तब भी उसकी आँखें गीली हो जाती हैं। इस प्रकार हास्य और रुदन के बीच अधिक मोटी लकीर नहीं रह जाती। अतिशय प्रसन्नता में विरह की स्मृति आँखों में मोती ला देती है। जब प्रेमी से विछोह होता

है तो उससे स्नेह रखने वाले हँसते है—ताकि उसकी यात्रा मंगलमय हो पर वास्तव में उनका हृदय हूकता है पर भविष्य की मिलनाशा कुछ धैर्य बँधाती है। इस प्रकार व्यक्ति रोते हुए भी हँसता है और हँसते हुए भी रोने का उपक्रम रचता है। यह सब स्नेह की ही महिमा है।

विशेष—बिछुड़े हुए मीत का मिलन आँखों में आँसू ले आता है। तब क्या मनुष्य रोता है? नहीं, स्नेह के कारण उसके आँसू टपक निकलते हैं। इसीको पंत ने 'हास में अश्रुकणों का भास' कहा है। दूसरी ओर जब प्रेमी कहीं दूर जाता है तो इस भय से कि गमन-वेला में किसी के सामने अश्रु बहाकर अनिष्ठ नहीं करना चाहिए, मनुष्य हास्य की भूमिका बनाता है। उस समय देखने पर वह हॅसता हुआ लगता है पर उसके हृदय की हूक वही समझ सकता है।

बँधे हैं·····························हाहाकार।

शब्दार्थ—जीवन-तार = जीवन रूपी तार। झंकार = स्नेह रूपी झंकार। दारुण = उग्र, घोर, तीव्र, कँपा देने वाला।

भावार्थ—स्नेह के ही कारण जगत जगत है। संसार के प्राणियों को जोड़ने वाला सूत्र यही स्नेह है। हरेक में स्नेह की ही झंकार व्याप्त है। इसके बिना संसार विशृंखल हो जाता। संसार का चक्र ही सच पूछा जय तो स्नेह से घूम रहा है। यह जगत घोर दुख का आगार है, जो कुछ रंगीनी है वह सब स्नेह के ही कारण है। यदि इसका भी अस्तित्व न होता तो क्लेश, दुःख, शोक, नैराश्य का ही साम्राज्य होता।

विशेष—पंत जी ने स्नेह का स्थान सर्वप्रमुख माना है। दुनिया वास्तव में दुःखमय है। जीवन की विस्तृत मरुभूमि में स्नेह ही कुछ हरीतिमा ला देता है। रोते व्यक्ति के आँसू स्नेही ही पौंछने आता है।

मुरली के-से·························चमकीलें।

शब्दार्थ—छिद्र = छेद, दोष।

भावार्थ—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि स्नेह की तुलना मुरली के छिद्रों से करता है—

वंशी में यद्यपि इतने छिद्र हैं कि अनजान व्यक्ति उन्हें निरर्थक बताएगा, पर सुंदर से सुंदर ध्वनि उनमें से निकाली जा सकती है। इसी प्रकार स्नेह में भी यद्यपि कभी-कभी दोष आ जाते हैं, पर उनकी भी अपनी महत्ता है। प्रेमी स्नेहातिरेक में न जाने कितनी भूलें करता है, अपने प्रिय से मिलन के लिए न जाने कितने ऐसे काम करता है जो उसे न करना चाहिए पर उनमें भी ऐसा आकर्षण है जैसा सितारों का।

विशेष—(१) यह पंक्तियाँ छायावाद की शैली में विरचित हैं। प्रेम अमूर्त है, मुरली के छिद्र मूर्त! अमूर्त वस्तु का मूर्त उपमान छायावाद में ही संभव हुआ। उपमालंकार भी है। वैसे पंक्तियों में कोई विशेष सौंदर्य नहीं है।

याद में आंसू बहाता रहा, रूठता-मनता रहा, पर उसके मन की व्यथा के बारे में किसी ने भी तो नहीं पूछा। बालिका कवि के रग-रग में व्याप्त हो गई। पर यह दुःख भी इतना अधिक हो गया कि स्वयमेव दवा बन गया। अब उसे विरह में ही आनंद आ निकला—दूसरा चारा ही क्या था ?

विरह है .... अनजान।

शब्दार्थ—कसकती = टीस मारती, कचोटती, रह रहकर दर्द उत्पन्न करती। सुरीले = मधुर लययुक्त। अवसान = अंत, परिसमाप्ति। पहिला कवि = आदि कवि, वह व्यक्ति जिसने सर्वप्रथम कविता रची होगी, वाल्मीकि। आह = वेदना। अनजान = बिना जाने ही, अपने आप ही।

भावार्थ—बालिका से कवि का विछोह हो गया। उसकी स्मृति में वह समय काटने लगा। विरह भी इतना बढ़ गया कि उसे अब उसी में आनन्द आने लगा।

विरह की ओर इशारा करते हुए पंत जी कहते हैं कि यह विरह वास्तव में दुःख देने आया है अथवा छिपा हुआ वरदान है ? मेरी कल्पना में टीस है, पीड़ा है, कचोट है तथा आँसुओं में सिसकता हुआ संगीत है। विरह के कारण जो आहें निकलती हैं वे ही मधुर छंद हैं। क्या मैं उस बाला का ध्यान करना कभी छोड़ दूंगा ? क्या मेरी आहें मुझे कभी छोड़ जाएँगीं ? नहीं, ऐसा तो कभी नहीं हो सकता। जब मेरी आहें निरन्तर निकला करेंगी तो यह संगीत भी कभी समाप्त नहीं होगा। यह तो आहों के अंचल से ही बँधा है न ?

वियोग प्रेमी को कल्पनामय एवं भावमय बना देता है। मेरा विश्वास है कि धरती पर का प्रथम कवि भी मेरी ही भाँति कोई विरही होगा। उसके हृदय में भी कभी आग लगी होगी जो आहों के रूप में बाहर निकली होगी। वेदना की टीस ने उसके पलकों को भी गीला करके बह जाने के लिए मजबूर कर दिया होगा। इन आँसुओं एवं आहों के संयोग से अपने आप, अनजाने में ही उस विरही से कविता रच गई होगी और वह बिना सूचित हुए ही प्रथम कवि के आसन पर बैठ गया होगा।

विशेष—(१) प्रेमी को सबसे बड़ा वरदान यही हो सकता है कि उसका प्रेम-पात्र उसके सामने बना रहे। कवि के समक्ष उसकी बाला नहीं पर उसकी स्मृति तो है ही। कवि इसीलिए विरह को भी वरदान मानता है। उर्दू वाले भी कहते हैं—'दर्द का हद से गुजर जाना है दवा हो जाना।' कविवर शैली ने भी प्रकारांतर से अपने प्रसिद्ध गीत 'स्टैंजाज़ रिटिन इन डिजैक्शन' में यही बात कही है। पंत जी का भी विरह अब वरदान में परिणत हो गया है।

(२) कल्पना में जितनी ही कसकती हुई वेदना होगी, गीत उतना ही मधुर होगा। प्रसिद्ध वेदनाशील कविवर शैली ने यही बात बहुत पूर्व कही थी।

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thoughts.

कारण कि विरह में संयोग के स्वार्थ का कालुष्य जल जाता है। दुखांत नाटक की इसीलिए इतनी महत्ता है; इससे भावनाओं का "**पवित्रीकरण**" हो जाता है।

(३) 'पहिला कवि' से पंत जी का आशय आदि कवि बाल्मीकि से है। ऋषि ने देखा कि स्वच्छन्द विहार करते हुए क्रौंच-क्रौंची के पुरुष को एक व्याध ने अपना निशाना बना दिया। क्रौंची आठ-आठ आँसू बहा निकली, ऋषि का हृदय पिघल गया, श्लोक बह गया—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधी काम मोहितम्॥

(४) कविता लिखी नहीं जाती, लिख जाती है। इसके लिए 'बहना' शब्द कितना उपयुक्त है।

(५) यह पंक्तियाँ बहु उद्धरित (Oft-quoted) हैं।

हाय..................................**हार।**

शब्दार्थ—भार=टीस। उपहार=भेंट, सौगात।

भावार्थ—कवि अपनी बालिका के विरह में दुखी है। वह रो उठता है जिससे उसके हृदय का भार कुछ हलका हो जाता है। पर सब नहीं।

कवि एकाकी है, विरह के कारण उसका हृदय हूक उठा। उसने चारों ओर निहारा पर उसे कोई तो नहीं दीखता। उससे सहानुभूति प्रदर्शित करने वाला कोई नहीं। उसकी अपूरणीय क्षति हुई है। वह अत्यंत दुःखी होकर पूछता है कि मैं अपने हृदय की वेदना किसके हृदय में उतारूँ? मेरी हृदय की नगरी वेदना से भरी हुई है, नयनों से बरसात हो रही है। मेरे आँसुओं के मोतियों का हार कौन स्वीकार करेगा? काश! कि कोई इस समय मेरे समीप होता! अपना दुखड़ा किसी से कहकर कुछ तो शांति मिलती।

विशेष—(१) कवि के हृदय में वेदनाओं के घन घुमड़ रहे हैं जो आँखों की राह बाहर निकल रहे हैं। कवि अपने दुखड़े को किसी आत्मीय से कहना चाहता है। यह रोज़ की बात है कि यदि कोई दुःखी व्यक्ति किसी से अपना दुःख कह दे तो उसे कुछ संतोष मिलता है। कविवर शैली भी पंत की ही भाँति अकेला था। उसने भी उपर्युक्त गीत में हो कहा—काश! कि कोई मेरी भावनाओं को सुनने वाला होता—

Did any heart now share in my emotion!

(२) वियोग कितना महान है—इसे सहृदय ही समझ सकते हैं।

मेरा..................................**असहाय।**

शब्दार्थ—मानस=मानसरोवर। कूजते=चिल्लाते, गाते। विहगों से=

पक्षियों के समान।

भावार्थ—कवि अपनी प्रिया के वियोग में अत्यधिक दुखी है। वह साहाय्य की आशा से अपने पलक उठाता है पर वहाँ तो उससे कोई सहानुभूति के दो शब्द तक कहने वाला नहीं।

विरह के कारण मेरे नयन हर समय बरसते रहते हैं। मेरा समूचा जीवन ही अब तो वर्षा ऋतु के समान लगता है। जैसे बरसात में मानसरोवर किनारों तक लबालब भर जाता है, उसी प्रकार मेरा हृदय दुःख से भरा हुआ है। बरसात में आकाश में भाँति-भाँति के वर्णों के, साँवले, गोरे, धुंधले मेघ छा जाते हैं मेरी आँखों की भी यही दशा है। वे भी हर समय किसी न किसी स्मृति में डबडबाई रहती हैं।

बरसात में भाँति-भाँति के पक्षी चहकना प्रारंभ कर देते हैं। मेरे हृदय में भी न जाने कितनी भावनाएँ उठती हैं। रह-रह कर मुझे स्मृतियाँ कचोट निकलती हैं, जिससे मेरे हृदय के घाव कभी पूरी तरह भर ही नहीं पाते। यह इसी प्रकार होता है जिस प्रकार पावस ऋतु में अरुण रंग की कलिकाएँ चटख जाती है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों मे पंत ने अपने जीवन की तुलना उपमालंकार द्वारा पावस ऋतु से की है। विरह में नेत्र हर समय बरसते रहते हैं, जिस प्रकार बादल न जाने कितने-कितने रंगों के होते हैं, उसी प्रकार पुरानी न जाने कितनी स्मृतियाँ आती हैं। विरहावस्था में पावस ऋतु अत्यंत ही दुखदायी होती है। सूर की गोपियों के नयनों से भी कृष्ण-वियोग में हर समय वर्षा होती रहती थी—

निस-दिन बरसत नैन हमारे।

(२) नयनों में आकाश की समस्त क्रियाओं को होते दिखलाना असीम को ससीम में सीमित कर देना है।

(३) उपमाएँ वैसे तो सभी सुघड़ हैं पर अंतिम पंक्तियों में अपूर्व है। यद्यपि उसमें लिंग संबंधी विपर्यय है—'कली' स्त्रीलिंग है जिसके लिए 'खुल पड़ते हैं' पुल्लिग क्रिया है—पर कोमल भावनाओं की उपमा खिलती हुई अरुण कलियों से देना अत्यंत ही प्रसन्नकारक है।

इन्द्रधनु-सा.........................निदान।

शब्दार्थ—सेतु=पुल। अनिल=समीर। अछोर=जिसका कहीं छोर ही न हो, अनन्त। धूमिल=धुँधली। भावी=होने वाला, भविष्य। तड़ित=बिजली। प्रभा=प्रकाश। गूढ़े=छिपा कर। अधीर=धैर्य खो देना। निदान=आदि कारण, अंत में।

भावार्थ—कवि अपनी प्रिया के विरह में अत्यधिक दुखी है। उसके समीप भी कोई नहीं है जिससे वह अपना दुखड़ा भी कह दे। उसका जीवन पावस ऋतु-सा हो जाता है—नयन अहर्निश बरसते हैं।

वर्षा ऋतु में कभी-कभी आकाश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक इन्द्रधनुष

अटका रहता है जो पुल की आकृति बना देता है। इसी प्रकार मेरे हृदय में भी यदा-कदा आशा का उदय हो जाता है। पर जिस प्रकार इन्द्रधनुष का कोई ओर-छोर नहीं होता और न कोई आधार होता है इसी प्रकार मेरी आशाएँ भी यूँ ही आधार-विहीन होती हैं तथा यह भी पता नहीं लगता कि वे कब पूर्ण होंगी—अछोर होती हैं। इस रंगीनी के साथ-साथ दूसरी दशा भी होती है। बरसात में जिस प्रकार अचानक काला, धूल-सा, भयंकर कोहरा चारों ओर छा जाता है, उसी भाँति कभी-कभी मेरी कल्पना का इन्द्रधनुष समाप्त हो जाता है और उसके स्थान पर नैराश्य छा जाता है। मुझे तब अपना भविष्य अंधकार में खोया-खोया प्रतिभासित होता है और तब जीवन मेरे लिए दुर्वह हो जाता है।

पर वर्षा ऋतु के अंधकार में भी तो बिजली चमक उठती है जिससे वह अंधकार मिट जाता है—चाहे थोड़ी देर के लिए ही सही। इसी प्रकार जब कभी मुझे तुम्हारा स्मरण हो आता है तो नैराश्य कुछ क्षणों के लिए मिट जाता है। जिस तरह बिजली मेघ के हृदय को चीरकर पलक मारती हुई उसके अन्दर प्रविष्ट हो जाती है, उसी तरह तुम्हारी मूर्ति मेरे हृदय में समा जाती है। वह अधीर हो जाता है। मेरे प्राण तुम्हारे दर्शन की इच्छा में विकल हो जाते हैं और धैर्य बिसार कर तुम्हें उसी प्रकार खोजने के प्रयास में छटपटा निकलते हैं जिस प्रकार कि पावस में जुगनू किसी को खोजते हैं।

विशेष—(१) आशा की तुलना इन्द्रधनुष से करना कितना उचित है। धनु के समान वह भी अत्यंत रंगीन होती है, पर उसके स्थायित्व का क्या ठिकाना ? किसी भी क्षण वह तिरोहित हो सकता है, उसका आधार हवा होता है न ! यही हाल आशा का है।

(२) 'सुमुखि' सम्बोधन साभिप्राय है। कवि उसके मुख को बिजली के समान मानता है अतः उसे यही विशेषण देता है।

४ **धधकती**·····························**विशाल**।

शब्दार्थ—धुधकती=ग़लत छपा है, धधकती, जलाती। जलद=बादल जो तृषित संसार को जल देते हैं। नीलम=नीली मणि, एक मूल्यवान् पत्थर। प्रवाल=लाल मणि। व्योम=आकाश। जंतुगृह=लाख का बना हुआ घर। वामन=भगवान का एक अवतार जिसमें उन्होंने राजा बलि से तीन पग भूमि माँगी और एक-एक पग में ही धरती, आकाश नाप लिया। तमिस्र=अंधकार।

भावार्थ—विरही कवि वर्षा ऋतु में अपने दैन्य का वर्णन करता है।

शाम के समय बादल लाल हो गए हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि वे अब जल-युक्त नहीं अपितु उनमें अग्नि भरी हुई है। संयोग में यही संध्याकालीन आकाश स्वर्णमय लगता था पर आज मुझ विरही को तो यह भी ऐसा लग रहा है मानो लाख का घर आग की बड़ी-बड़ी लपटों से जल रहा हो। नीलम का पूरा का पूरा

आकाश मूँगे-सा लाल बन गया है ।

अब रजनी होती जा रही है । जिस प्रकार भगवान वामन ने राजा बलि को पाताल पटक दिया था, उसी भाँति इस अंधकार रूपी वामन ने सूर्य रूपी बलि को नीचे पटक दिया है । उसका अब एकछत्र साम्राज्य हो गया है। लगता है सारे संसार में आग लग गई है ।

विशेष—(१) 'जलद' साभिप्राय शब्द है । इसका अर्थ है जल देने वाला। पर विरही पंत के लिए वह अग्निद बन गया है ।

(२) लाख के गृह में अग्नि अत्यन्त सरलता एवं शीघ्रता से लग जाती है। कौरवों ने पाण्डवों को ठहराने के लिए लाक्षागृह ही बनवाया था ताकि उन्हें भस्म किया जा सके । संध्याकाल पंत जी को इतना लाल दीख रहा था जितना कि लाख का जलता हुआ गृह।

(३) बलि को छलने के लिए भगवान ने वामन रूप धारण किया था जो देखने में अत्यंत लघु था । अनन्तर उन्होंने एक ही पग में सारी धरती नाँप दी और दूसरे में आकाश । आरंभ में अंधकार भी बहुत छोटा लगता है, बाद में वह सारे प्रकाश को ढँक लेता है ।

(४) उपमा, मानवीकरण की छटा व्याप्त है । प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन है । मनोविज्ञान का यह साधारण-सा नियम है कि प्रसन्नता में हर वस्तु प्रसन्न एवं दुःख में प्रत्येक वस्तु अश्रु बहाती गोचर होती है ।

४ **चिनगियों-से.........................व्याल ।**

शब्दार्थ—चिनगियों से = चिनगारियों के समान । लहकता है = चमकता है, झकझकाता है । मणि-जाल = मणियों की राशि । व्याल = सर्प ।

भावार्थ—कवि का बालिका से बिछोह हो गया है। वर्षा ऋतु में उसका विरह और भी बढ़ जाता है ।

संध्या प्रारंभ में तो वामनावतार की भाँति लघुकाय दिखाई पड़ती थी पर बाद में उसने आकाश-पृथ्वी को ढँक लिया। चंद्रमा उदय हो गया, तारे छिटक गए । विरही कवि को ऐसा लगा जैसे चंद्रमा लाल अँगारा है एवं खिले हुए तारे उस अँगारे से बिखरे हुए स्फुलिंग । कभी ऐसा भी लगता है कि अंधकार रूपी काला साँप अपने फन की मणियों को झकझकाता हुआ समूचे संसार को ही निगल जाने के लिए घर से निकला है ।

विशेष—(१) प्रकृति विरही को फूंके देती है । अब उसे प्रत्येक सुरम्य वस्तु में भयानकता लगती है। इसमें रीतिकालीन कवियों की गंध स्पष्ट आ रही है। उनकी नायिकाओं को भी विरह में चन्द्रमा आग बरसाता हुआ वह्नि-गोलक लगता था । ऐसा ही पन्त जी को लगा है। उद्दीपन रूप में ऐसा चित्रण पन्त जी में कम ही है ।

(२) 'लहकता' शब्द इतना मूल्यवान है कि इसके स्थान पर दूसरा शब्द रख देने से अर्थ-प्राप्ति में व्याघात होता है।

(३) प्रसाद जी भी तारों को मणि-जाल कहते हैं—

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल
देख बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।"

—(कामायनी—आशा, पृष्ठ ४०)

पूर्व .... मूक।

शब्दार्थ—सहसा=एकाएक, बिना याद किए। सुखकर=सुख देनेवाले, आनंद-प्रद। दुहराती हैं=याद हो आती है। अगन=अग्नि। पुलकित=हर्षित, रोमांचित। सरस=रस से भरे हुए, मधुर। आह्वान=बुलावा, पुकार। गिरा=वाणी। श्रुति=श्रवणेन्द्रिय, कान। मौन=नीरव, मूक।

भावार्थ—पावस ऋतु में कवि को बालिका का विछोह सता रहा है। प्रकृति का प्रत्येक रम्य व्यापार उसके लिए मानो व्याल बनकर आता है। चन्द्रमा तो मानो अग्नि का बहुत बड़ा गोला है जिसकी चिनगारियाँ तारों के रूप में छिटक गई हैं।

मैं बड़ा दु खी हो जाता हूँ। चन्द्र मुझे जलाने आता है। ऐसे क्षण में तुम्हारी पिछली बातें मेरे सामने घूम जाती हैं। वह भी जमाना था जब मैं तुम्हारी मधुर बातों को पिया करता था। तब तुम्हारी वाणी इतनी ही आकर्षक, तुतली एवं सुघर थी जितनी कि किसी तोते की। जब मुझे वे बातें याद हो आती हैं तो सुमुखि! मेरे प्राण पुलकित हो उठते हैं, तुम्हारी स्मृति में जल उठते हैं और हज़ारों स्वरों में तुम्हें पुकारने लगते हैं। उस क्षण मैं, मैं नहीं रह जाता। मेरी चेतना मुझसे कहीं दूर चली जाती है—न कुछ सुनाई ही पड़ता है और न दिखाई। ये दोनों इन्द्रियाँ अपने-अपने गुणों को भूल बैठती हैं।

विशेष—(१) शुक को जो बात एक बार रटा दी जाती है, वह उसे ज्यों का त्यों दुहरा देता है। स्मृति को पंत जी ने तोते के समान ही बतलाया है। याद में भी तो जीवन के विगत पन्ने एक-एक करके खुल निकलते हैं।

(२) अँग्रेजी में कहा जाता है कि जब हृदय भरा होता है तब वाणी मौन हो जाती है। हर्ष या विषाद—दोनों के आधिक्य में मानव मौन हो जाता है। कवि भी वियोग में इतना प्लावित है कि उसकी रसना एक शब्द भी तो नहीं बोल सकती। कान की नाईं खामोश हो जाती है। विषाद की पराकाष्ठा है यह!

देखता हूँ .... पग अज्ञात।

शब्दार्थ—उपवन=उद्यान। मधुकर=भौंरा। नवोढ़ा=नव विवाहिता

स्त्री, युवती, लज्जा और भय के मारे नायक के पास जाने में सकुचाने वाली नायिका। उपकूल = किनारा। सत्वर = शीघ्र। आकुलता = व्याकुलता। आघात = चोट। कृश = कमजोर। पग अज्ञात = अनजान दिशा की ओर बढ़ने वाले क़दम।

भावार्थ—बाला के बिछोह में कवि का जीवन दुर्वह हो चला। फिर आई बरसात। कवि के लिए प्रत्येक वस्तु, जो पहले सुखद थी, बैरिन हो गई। उसे लगा चंद्रमा जैसे आग का गोला है एवं सितारे उससे छिटकी हुई चिनगारियाँ।

वर्षा ऋतु में प्रकृति की प्रत्येक वस्तु आनंद में निमग्न है। मैं देखता हूँ कि उपवन अपने यौवन के रस को फूलों के प्याले में भर-भर कर भ्रमर को पिलाता है तब मुझे तुम्हारी याद व्याकुल कर देती है और मेरे प्राण तड़पने लगते हैं। उधर जब मैं निहारता हूँ कि छोटी-सी लहर, लज्जा के साथ, तनिक रुक कर, तट के प्रसूनों को चूमकर आगे बढ़ जाती है तब तुम्हारी स्मृति मुझे कचोट निकलती है, मेरा दुर्बल शरीर प्रकंपित हो जाता है और मेरे क़दम सहसा रुक जाते हैं। मुझे भान भी नहीं होता है कि वे रुक गए हैं।

विशेष—(१) प्रकृति आनंद में निमग्न है। पावस ऋतु के कारण उस पर मस्ती छा गई है, पर कवि तो विरही ठहरा, उसे तो यह मस्ती उलटे और जलाती है। मधुकर द्वारा उपवन के लूटते हुए यौवन एवं बाल लहर द्वारा कुसुम-चुंबन कवि को अधीर बना देते हैं।

(२) बाल-लहर के लिए 'नवोढ़ा' शब्द कैसा उपयुक्त है! नवोढ़ा नव विवाहिता युवती होती है जो बड़े संकोच के साथ, रुक-रुक कर अपने नायक के पास जाती है। लहर भी ऐसी ही है जो रुक-रुक कर न जाने कितने प्रसूनों को छू-छू कर आगे बढ़ जाती है।

देखता हूँ .... आदान।

शब्दार्थ—इन्द्रधनुषी = इन्द्रधनुष जैसा, रंगीन। कुमुद-कला = चाँदनी। अन्तर्धान = अन्तर्मुखी, लीन। आदान = पुरस्कार, बदला।

भावार्थ—विरही कवि को प्रकृति का प्रत्येक मधु व्यापार झुलसाता हुआ प्रतीत होता है।

जब मैं देखता हूँ कि चन्द्रकला हलके बादल का रेशमी घूंघट उठाती है, मुझे तुम्हारे मुख का ध्यान आ जाता है और मेरी वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। प्रकृति के रंगीन व्यापारों को निहारकर तुम्हारा स्मरण हो आता है और मैं तुम्हारे ही ध्यान में निमग्न हो जाता हूँ। पता नहीं उस क्षण मेरे प्राण तुमसे न जाने किस वस्तु का कामना कर निकलते हैं।

विशेष—(१) चन्द्रकिरण का बादल की हलकी पर्त से छनकर आना कवि ने कितने मोहक शब्दों में चित्रित किया है!

(२) 'अन्तर्धान' शब्द का प्रयोग बड़ा अजीब है। इसका अर्थ होता है निगाह से ओझल हो जाना। पंत जी ने यहाँ इसका अर्थ लिया है ध्यानमग्न होना।

बादलों के·························गिरि पर।

शब्दार्थ—छायामय मेल=छाया के समान मिलन अथवा मिलते समय एक दूसरे पर छाया डालते हुए मिलना। अवनि औ' अंबर=पृथ्वी और आकाश। शैल=पर्वत। जलद=पहाड़। शिखर=चोटी। मरुत-रखवाल=वायु रूपी चरवाहा। वेणु=बाँस, वंशी। मेमनों=बकरी, भेड़ के बच्चे। कुदकते थे= उछलते थे, कूदते थे। प्रमुदित=प्रसन्न होकर।

भावार्थ—विरही कवि द्वारा प्रकृति का वर्णन है।

बादल एक दूसरे से मिल रहे हैं। उनकी परछाहीं एक दूसरे पर पड़ रही है। यह दृश्य मेरी आँखों से ओझल नहीं हो पाता, भुलाए नहीं भूलता। आकाश और धरती के इन खेलों में नैरन्तर्य है। कभी बादल पर्वत-शिखर पर खेल करते हैं, कभी पर्वत-शिखर स्वयं को बादलों में छिपा लेते हैं। पर्वत पर गड़रिए भेड़ें चराया करते हैं। जब वह वंशी में स्वर फूंकता है तो मेमने उछल निकलते हैं। इधर वर्षा में जब लहराता हुआ पवन बहता है तो बाँसों से ध्वनि निकलने लगती है और मेघ-खण्ड इधर-उधर, मेमनों की भांति, दौड़ निकलते हैं।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शैल और मेध की क्रियाओं में मानव-व्यापार का आरोप किया है। उसने कभी बादल को पर्वत के वक्ष पर क्रीड़ा करते दिखाया है कभी पर्वत को बादल के अंचल में मुँह छुपाते। रसिकों के लिए इंगित ही अलम् है।

(२) मेघ-खण्ड निश्चय ही मेमनों जैसे होते हैं। 'कुदकना' क्रिया कितनी उपयुक्त है!

द्विरद·····························गजवर।

शब्दार्थ—द्विरद दन्तों से=हाथी के दाँतों के समान। कर-सीकर=सूंड से छोड़े हुए जल-कण। भूति=सम्पत्ति, वैभय। कीट=कमर। परिकर=फेंटा। गजवर=श्रेष्ठ हाथी।

भावार्थ—कवि पर्वत पर खेलते हुए मेघों का वर्णन करता है।

बादल पर्वतों पर उठते थे जिन्हें देखकर हाथी के दाँतों का विभ्रम होता था। वर्षा में मेघ बहुधा श्वेत रंग के हो जाते हैं जिन्हें शैल-शिखरों पर उठता देख कर ऐसा भान होता है जैसे हाथी के दाँत हों। दूसरे ही क्षण उनका आकार ऐसा हो जाता है मानो हाथी सूँड़ से जल छिटका रहा हो। कभी-कभी वे बिखर जाते हैं जिससे लगता है किसी का यश बिखरा हो। पर दूसरे ही क्षण ऐसा लगता है मानो वे कमर से बाँधने के फेंटे हों। इस प्रकार वे बादल अपना रूप पल-पल बदल रहे थे जिससे वह पर्वत हाथी के समान लगता था।

विशेष—कवि ने बादलों के रंग एवं आकार के अनुसार उन्हें हाथी के दाँत, कर-सीकर, भूति परिकर की उपमा दी है।

इन्द्रधनु .... मेघासार।

शब्दार्थ—टंकार=घोर स्वर। उचक=एड़ियाँ ऊँची उठाकर। चपला= बिजली। विशिखों की धार=जल रूपी तीर। मरुत=अनिल वायु। द्रुत= शीघ्र। चुमकार=पुचकार कर। मेघासार=मेघों का आक्रमण, मूसलाधार वृष्टि मेघों द्वारा शत्रु का घिराव (देखिए ज्ञानमण्डल काशी का 'वृहत हिन्दी कोश' द्वि० सं० पृ० १५६)

भावार्थ—विरही कवि वर्षा का वर्णन कर रहा है। बादल विभिन्न प्रकार के रूपों को धारण करके पर्वत को हाथी का आकार देते हैं।

बिजली चमक कर पर्वत के उस ओर वेग से दौड़ जाती है। फिर वर्षा की बौछारें पड़ने लगती हैं एवं समीर बहने लगता है। कवि को यह दृश्य ऐसा लगता है मानो बिजली के चंचल बालक इन्द्रधनुष का भारी स्वर सुनकर डर के मारे पर्वत के पीछे छुपने के लिए भागते हैं जल की धार रूपी वाण-वर्षा उनका पीछा किए जाती है। यह देखकर पवन को मानो दया आ जाती है, वह सहायता के लिए दौड़ निकलता है एवं मेंह की वाण-वर्षा को रोक देता है। बिजली के नन्हें बालक आश्वस्त हो ठहर जाते हैं।

विशेष—कल्पना अतीव सुंदर है इतने कम शब्दों में कितना सुंदर चित्र प्रस्तुत किया गया है। लगता है जैसे धनुष की टंकार से हिरण के बच्चे भाग लिकले हों पर किसी महान् व्यक्ति की पुचकार पाकर रुक गए हों। यहाँ चपला मानों हिरण के बच्चे, जल की धाराएँ मानो तीर, मेघ मानो व्याध एवं समीर मानो उन मेघ-नालों का संरक्षक है।

अचल के .... अम्बर।

शब्दार्थ—अचल=पर्वत। विमल=पवित्र। अवनि=पृथ्वी। व्यापकता =विस्तार। अविकार=एक रूप, न बदलने वाला, शांत भाव से। सत्वर= शीघ्र। विहंगम=पक्षी।

भावार्थ—प्रकृति का चित्रण जारी है। प्रस्तुत पंक्तियों में बादलों का वर्णन है।

बादल पर्वत से उठ-उठकर आकाश में उड़ जाते थे और विशाल आकाश में शीघ्र ही बिला जाते थे। बादलों के ऊपर चले जाने के कारण एवं पर्वत के ऊपर का भाग निरभ्र हो जाने से वह भाग नीला दिखाई दे निकलता था। लगता है वे बादल बादल नहीं अपितु पर्वत के पावन विचार थे जो धरती से उठकर आकाश में विलीन हो जाते थे। बिना बादलो का वह नीला आकाश ऐसा लगता था मानो सुडौल पक्षी था जो पर्वत-शिखर पर विराजमान था।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियां भी चित्र उपस्थित करती हैं। लगता है जैसे

कोई व्यक्ति ध्यान-मग्न बैठा हो जिससे शुभ विचार ऊपर उठते हों एवं जिसके सर पर नीला वस्त्र (अम्बर) सुशोभित हो रहा हो।

(२) 'अचल' का मानवीकरण किया गया है जिससे विचार उठते हैं।

पपीहों की·························प्रश्नोत्तर।

शब्दार्थ—पीन=तीखी। घहर=घहराहट, बहुत भारी आवाज़। दादुर= मेंढक। शैल=पर्वत। पावस=वर्षा ऋतु।

भावार्थ—पंत जी का वर्षा ऋतु-वर्णन जारी है। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से पर्वत और बरसात के प्रश्नोत्तरों को अपनी भाषा में कहा है।

बरसात में विरही व्यक्तियों का जीवन कितनी कठिनता से व्यतीत होता है। प्रकृति में सम्मिलन है। वर्षा में वहाँ कानाफूँसी चलती रहती है। पर्वत पपीहों के व्याज से मानों कुछ पूछ रहा था जिसका उत्तर वर्षा ऋतु मेघों की भारी आवाज़ में दे रहा था परबस झरनों के झर-झर स्वर से प्रश्न करता था जिसका उत्तर बरसात रिमझिम-रिमझिम बरसा कर देती थी। कभी-कभी लगता था जैसे झींगुरों की झनकार पर्वत का प्रश्न है और मेंढकों का टर्र-टर्र स्वर वर्षा का उत्तर। इस प्रकार पर्वत के प्रश्न एवं बरखा के उत्तर सुन-सुनकर मन और का और हुआ जाता था।

विशेष—(१) वर्षा में नायक-नायिकाएँ विविध प्रकार से अठखेलियाँ करते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने पर्वत को नायक एवं पावस को नायिका के रूप में चित्रित किया है। उनके प्रश्नोत्तर वस्तुतः अत्यधिक मोहक बन पड़े हैं। कवि ने इन दोनों का मानवीकरण किया है। इन दोनों के प्रश्नोत्तर सुन-सुनकर कवि को अपनी बिछुड़ी बाला की स्मृति कितने डंक मार निकली होगी! इन दो प्रेमी-प्रेमिकाओं के बरखा-मिलन से कवि के बिछुड़े हृदय पर कैसी बीती होगी—इसका अनुमान कोई सहृदय ही लगा सकता है।

(२) शब्द चयन इतना कौशलयुक्त है कि उनके उच्चारण मात्र से कवि की अभीप्सित ध्वनि पाठक तक पहुँच जाती है। 'पीन पुकार', 'झर्‌झर्', 'झीनी झनकार', 'गंभीर घहर', 'छनकार' एवं 'दुहरे स्वर' ऐसे शब्द है जो अपना अफ़साना बिना पूछे ही सुना रहे हैं। ये शब्द अपने आप में कविता है। ध्वनिमात्र से अर्थ-बोध कराने वाले शब्दों का जितना ज्ञान पंत जी को है उतना हिन्दी के किसी भी अन्य कवि को नहीं। प्रस्तुत छंद श्रेष्ठतम उदाहरणों में से है।

खंच ऐंचीला·························साकार।

शब्दार्थ—ऐंचीला=तना हुआ। भ्रू-सुर चाप=भौंह रूपी इन्द्रधनुष। बारम्बार=बारबार। सुदुकूल=सुन्दर वस्त्र। झलमल=झिलमिलाता हुआ, हलके प्रकाश में चमकता हुआ। जलद-पट=बादल रूपी घूंघट। चपला=बिजली। भग्न=टूटा हुआ।

भावार्थ--पंत जी से उनकी बाला का बिछोह हो गया है, उधर पावस ऋतु आ गई। अब तो कवि का हृदय व्यथा से सराबोर हो गया। प्रकृति की प्रत्येक शीतल वस्तु उसे जला निकली, प्रत्येक मिलन उसे अतीत में खींच ले गया। रह-रहकर उसे बाला याद आ निकली।

पर्वत के विविध दृश्यों से मुझे बाला का स्मरण हो आता है। मुझे ऐसा लगता है मानो स्मरण साकार रूप धरकर मेरे हृदय पर आ पड़ता है। मेरे दुःखी होने का कारण यह है कि पार्वत्य व्यापारों से मुझे बाला का स्मरण हो आता है। जिस समय इन्द्रधनुष तना हुआ होता है, मुझे अपनी प्रिया की वक्र भौंहों का स्मरण हो आता है। वर्षाऋतु में पर्वत पर की हरीतिमा जिस समय हिलती है, लगता है तेरी साड़ी का अंचल उड़ रहा है। गिरते हुए झरने मुझे तेरे झिलमिलाते हार की स्मृति दिखाते हैं। पर्वत के शिखर पर जिस समय चंद्रकिरण बादलों को चीरकर बाहर आता है, मेरा हृदय सँभाले नहीं सँभलता। मुझे तो उस क्षण ऐसा लगता है कि हे सुमुखि! तू ही अपना घूँघट उठाकर अपना मुख दिखा रही है! प्रत्येक क्षण जो चपला चमक जाती है वह तेरे पलकों का ही तो उत्थान-पतन है। पर्वत की यह समस्त वस्तुएँ मुझे बरबस तेरी याद दिला जाती हैं और मेरे हृदय पर व्यथा का दुर्वह भार रख जाता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों में पंत जी ने प्रकृति की वस्तुओं में अपनी बाला की वस्तुओं को आरोपित किया है। उपमानों को निहारकर उपमेय की याद हो ही आती है। इसमें कोई नवीनता नहीं है। उपमान पुराने ही हैं। रामचन्द्रिकाकार ने इन्हीं उपमानों को प्रयुक्त किया है। वर्षा-ऋतु में ऐसी वस्तुएँ हो सकती हैं जो पंत जी को अपनी प्रिया की याद दिला निकलती है, उधर 'रामचंद्रिका' के राम इसीलिए दुःखी हैं कि वर्षा ने उनसे वे वस्तुएँ छीन लीं जिन्हें देखकर वे अपनी प्रिया का स्मरण कर निकले थे—

"कल-हंस, कलानिधि, खंजन, कंज, कछू, दिन केसव देखि जिए।
गति, आनन, लोचन, पायन के अनुरूपक से मन मानि लिए॥
यहि काल कराल तें शोधि सबै हठिकै बरषा मिस दूरि किए।
अब धौं बिन प्रान प्रिया रहि हैं कहि कौन हितू अवलंबि हिए॥"

दोनों का वैपरीत्य द्रष्टव्य है।

(२) 'ऐंचीला' एवं 'झरनों का झलमल हार' आदि ध्वन्यर्थक शब्द हैं जो पंत जी का वैशेष्य है।

(३) इसमें एक बड़े मज़े की बात यह है कि पर्वत का मानवीकरण है पर उस पर स्त्रियों के व्यापार आरोपित किए गए हैं जबकि पूर्व के छंद में शैल को कवि ने पुल्लिग माना है। शायद 'शैल की सुधि' कहकर वह अपना दोष छिपाना चाहता है।

१०–ग्रंथि से

प्रस्तुत पंक्तियां कवि की 'ग्रंथि' नामक रचना से ली गई हैं। यह शायद कवि की ही प्रीति की एक घटना है। इस खण्ड-काव्य की घटना अत्यंत ही लघु है। वसंत ऋतु की एक सुहावनी संध्या थी, कोयल कूक रही थी तथा कुसुमों पर यौवन छाया हुआ था। कवि नौका-विहार में निमग्न था कि एकाएक उसकी नौका डूब गई। जब कवि ने मूर्छा के अनंतर नयन खोले तो अपने सर को एक अमित सौंदर्यशाली बाला के जंघों पर रखा पाया। उसकी निगाह बाला के मुख एवं आकाश के चन्द्र पर साथ-साथ पड़ी। कवि को आकाश का चंद्र बालिका के मुख से मंदा लगा। कवि ने उससे प्रणय-याचना की, वह लज्जित हो गई। कवि ने उसकी खामोशी का अर्थ कुछ और ही लगाया। दोनों अपने-अपने घर गए—अपने-अपने हृदयों में स्मृति की अग्नि दुबका कर। बाला कवि के ध्यान में खोई-खोई रहने लगी। सखियाँ उसे ताने देने लगीं। उधर कवि की दशा भी सर्वथा बदल गई। वह उसी के ध्यान में निमग्न रहने लगा। पर ध्यान से होता ही क्या है ? चाह से लाभ ही क्या ? कवि के सामने ही उस बाला का हाथ किसी अन्य के हाथ में सौंप दिया गया। वह इस अनचाहे ग्रंथि-बंधन से आकुल हो उठा, अहर्निश आँसुओं को बहाता रहा, पर व्यर्थ। इस प्रकार वह एक भँवर से निकल कर दूसरे भँवर में—पहले भँवर से अधिक भयानक भँवर में—गिर पड़ा।

इन्दु..............................काव्य में।

शब्दार्थ—इन्दु = चंद्रमा। इन्दु मुख = चंद्रमा रूपी मुख। रक्तिम = लाल। पूर्व को पूर्व था = पहला चन्द्रमा (आकाश का) पूर्व दिशा में था। द्वितीय = दूसरा चन्द्रमा अर्थात् बाला का मुख। अपूर्व = अनोखा। बाल-रजनी = रात्रि का बालापन, जो रात अधिक अंधकारमय न हुई हो। अलक = लट, केश। बदन = चेहरा। रेखांकित = किसी के नीचे रेखा खींच देना। सुछवि = सौंदर्य।

भावार्थ—ज्योंही मेरी मूर्छा भंग हुई मेरी निगाह एक साथ आकाश के चंद्रमा एवं बाला के चन्द्रमुख पर पड़ी। दोनों चंद्र लाल हो रहे थे—प्रथम तो उदय के कारण लाल था एवं द्वितीय लज्जा के कारण। आकाश का चंद्रमा पूर्व दिशा में चमक रहा था, पर बाला का मुख तो अद्वितीय था। उसका सौंदर्य अतुल, एवं निरुपम था। आकाश के चन्द्रमा के चारों ओर रजनी का रेशमी तम बिखरा हुआ था, इधर धरती का चाँद काली लटों से वेष्टित था। एक कोमल लट बाला के चेहरे के नीचे समीर के झोंके से हिल रही थी, पर ज्योंही वह बन्द हो जाती लट भी स्थिर हो जाती थी। उस समय ऐसा लगता था मानों सौंदर्य के काव्य में सुंदरताएँ तो और भी बहुत थीं, पर बाला का मुख सुंदरता की पराकाष्ठा पर था जिसके नीचे बालों की वह लट रेखा खींच रही थी।

विशेष—(१) अतुकान्त छंद में लिखी गई यह पंक्तियाँ अत्यंत ही सुघर हैं।

मुख को चन्द्रमा की उपमा देना बड़ा पुराना खेल है। बाद में कवि ने बाला के मुख को आकाश के पथिक से विशिष्टतर दिखलाया है। उपमेय में उपमान से अधिक वैशिष्ठ्य दिखाना व्यतिरेक अलंकार है। इसके अतिरिक्त रूपक, सहोक्ति, मानवीकरण, श्लेष, आदि भी द्रष्टव्य हैं।

(२) यह सार्वभौमिक नियम है कि जो पंक्तियां अर्थ अथवा किसी भी अन्य दृष्टि से शेष पंक्तियों से अधिक महत्वपूर्ण होती हैं उनके नीचे रेखांकन (Underline) कर दिया जाता है। इसका अर्थ है और सब पढ़ा तो जाय पर उन पर विशेष ध्यान दिया जाय। बाला के मुख के नीचे लट पड़ी हुई थी। पंत जी उत्प्रेक्षा करते हैं मानो वह लट उस मुँह को रेखांकित कर रही थी। अर्थात् उसका वैसे तो समूचा शरीर ही लुनाईयुक्त था पर मुखविशेष दर्शनीय था। काव्य की बात को किस स्थान पर प्रयुक्त किया है। यह भाव पंत जी के उन भावों में से है जो मुझे अत्यंत प्रिय हैं।

एक पल............................सौंदर्य के।

शब्दार्थ—सहज = अनायास। चपलता = चंचलता। विकंपित = काँपते हुए। पुलक = रोमांच। प्रणय—प्रेम। मादक सुरा = ऐसी शराब जो नशा ला दे। सस्मित = मुस्कान सहित। आवर्त = भँवर। तरुण = जवान।

भावार्थ—जब कवि मूर्छा से जागा, उसकी निगाह एकदम आकाश के चंद्र एवं बाला के मुख पर पड़ी। उसने देखा कि बाला का मुख आकाश के चंद्र से विशेष सुन्दर था।

एक क्षण के लिए मेरे और बाला के नयन ऊपर उठे पर लज्जा के कारण वे अनायास ही नीचे झुक गए। बाला की इस चेष्टा से मुझे प्रणय-संबंध की सूचना मिल गई। मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि मैं ही नहीं बाला भी मेरी प्रीति की इच्छुक है। उसके शरीर में कँपकँपी बँध गई, रोमांच भी होने लगा। मुझे विश्वास हो गया कि अब हमारा यह सबंध कभी डिग नहीं सकता। उसके गालों पर लाली छा गई, लगता था जैसे मदहोश करने वाली शराब की लालिमा हो। वह मुस्करा भी दी जिससे उसके गुलाब से गालों में गड्ढे पड़ गए। वे गड्ढे बड़े छोटे थे मानों छोटे आकार की सीप हों। उसके समूचे शरीर में यौवन लहरें मार रहा था, कपोलों के गड्ढे मानो भँवर थे। भँवर में पड़कर नाव को बिना जोखिम पहुँचाए बाहर निकाल लेना अत्यंत कठिन है। इसी प्रकार बाला के उन भँवरों में प्रत्येक की आँख रूपी नाव अटक कर डूब जाती। मेरी नौका भी बाहर न निकल सकी मैं बालिका को बिना प्यार किए नहीं रह सका।

विशेष—(१) मुस्कराते समय यदि कपोलों में गड्ढे पड़ जायँ तो सौंदर्य में और भी वृद्धि हो जाती है। बाला का सौंदर्य ऐसा ही था—मुस्कराते समय उसके लाल कपोलों में भी सीप-से गड्ढे पड़ जाते थे जो किसी के भी नयनों को स्वयं में

बिना अटकाए नहीं मानते थे।

(२) जो वस्तु किसी में सीधी फँस जाती है, वह प्रयास करने पर निकल भी आती है पर जो वस्तु तिर्छी होकर अटक जाती है उसे बाहर कर लेना अत्यंत ही कठिन हो जाता है। नयनों की नाव, इसी प्रकार, बाला के सौंदर्य-सागर के आवर्तों में 'अटक' ही जाती थी। बिहारी भी, अपने मन में तीन जगह से टेढ़े कृष्ण--त्रिभंगी लाल--को स्थान देने को उद्यत थे ताकि फिर वे आसनी से बाहर न निकल सकें।

(३) प्रस्तुत पंक्तियों में उपमा एवं रूपक अलंकार पग-पग पर हैं।

जब प्रणय.........................कांति हो।

शब्दार्थ--मूकता=खामोशी। विनत=विनयपूर्ण, आदरयुक्त। सलिल-शोभे=पानी के समान तरल, स्वच्छ एवं कांतियुक्त। पतित=गिरा हुआ। आहत=घाव युक्त, चोट खाया हुआ। सदय=दयापूर्वक, कृपा करके। कंटक=काँटा। विद्ध हो=बिंध कर। सरस=रस से भरा हुआ। मलिन=मैला। तिमिर=अंधकार। अरुण कर=लाल हाथ, सूर्य की किरनें। कनक आभा=सुनहरी कांति। तम=अंधकार। प्रणय-कलिका=प्रेम की कली। कांति=आभा, चमक।

भावार्थ--कवि नौका-विहार कर रहा था। अचानक उसकी नाव डूब गई, उसे मूर्छा आ गई। जागने पर उसने अपने सर को एक बाला की गोद में रखा पाया। बाला के सौंदर्य ने उसे झकझोर डाला।

अब तक, कवि कहता है, मेरी और उस बाला की रसना से कोई बात नहीं हुई थी। हाँ, आँखों ने आँखों से अवश्य कुछ न कुछ कह दिया था। पर बालिका के मौन का अर्थ कवि ने अपने पक्ष में ले लिया। फिर वह कहता है कि मैंने उसके समीप बैठकर नम्रतापूर्वक, शान्त होकर, उस बाला से कहना प्रारंभ किया, "हे सुन्दरी! जिस गिरे हुए एवं चोट-खाए हुए भ्रमर को तुमने दया करके अपने हृदय से लगाया हैं, जिसे भँवर में डूबने से बचाया है, उसे दूसरे भँवर में डुबोना क्या समीचीन है? तुमने दया करके मुझे सरोवर में डुबने से बचाया है, अब अपने सौंदर्य के भँवरों में क्यों डूबो रही हो? प्रेम के काँटे से बिंधकर जो कुसुम वृक्ष से टूटकर अलग जा गिरा हो उसे कृपा करके अपने करुणार्द्र हृदय में स्थान दे हरा बना दोगी? सूर्य की किरणें अंधकार को चीर कर कमलों को खिला देती हैं। कितना प्रयास करने के अनन्तर वह कमल को उत्फुल्ल कर पाता है। हे प्रिये! मेरे हृदय में अंधकार की कालिख भी नहीं हैं। उसकी प्रेम-कलिका तो बस तुम्हीं खिला सकती हो। मेरे लिए तो तुम्हीं प्रभात की आभा हो।"

विशेष--(१) 'जब प्रणय' से लेकर 'यों कहा' बिल्कुल गद्य है जो पद्य के

रूप में रख दी गई है। यदि इन चार पंक्तियों को लगातार एक सीध में लिख दिया जाय तो गद्य-वाक्य बन जायगा। पिछली पंक्तियों के कवित्व का मज़ा यहाँ बिल्कुल किरकिरा हो जाता है।

(२) कवि ने 'आहत भ्रमर' तथा 'विद्ध सुमन' कहकर अपनी दयनीयता घोषित की है।

(३) सूर्य का उदाहरण देकर कवि उसे उत्तेजित करना चाहता है। जब वह तिमिर चीरकर कमल को खिलाने के लिए प्रस्तुत है तो फिर बाला को भी हो जाना चाहिए। उसे तो तिमिर बुहारने में अधिक प्रयास भी नहीं करना पड़ेगा।

(४) 'तिमिर' एवं 'अरुण करों' में मानवीकरण है।

यह विलम्ब························प्रीति से।

शब्दार्थ—बालुका=बालू। गिरि शिलाएँ=पर्वत की चट्टानें। म्लान=दुखी, मुरझाया हुआ, हलका। कलाधर=चंद्रमा। कौमुदी=चाँदनी। धवल=श्वेत। विकंपित=काँपते हुए।

भावार्थ—कवि जब पानी में डूबने के अनन्तर मूर्छा से जगा तो उसे एक बाला का दीदार हुआ। जिसे पहली ही दृष्टि में प्यार नहीं हो गया उसे कब प्यार हुआ? कवि भी प्रारंभ में ही हृदय दे बैठा उस बाला को जिसकी जंघा पर उसका सिर रखा था। उससे कृपा करने की प्रार्थना की, पर वह नहीं बोली। अब उसका धैर्य इससे छूट निकला—

हे बाले! इतनी अनुनय करने के अनन्तर भी तुम्हारे मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला मैं नहीं समझता था कि तुम इतनी कठोरहृदया हो! तुमसे अच्छी तो बालू है जो डूबते हुए की रक्षा कर लेती है। पर मुझे कठोर हृदय का बड़ा भरोसा है। पर्वत की कठोर चट्टानों से जितनी आशा की जा सकती है उतनी कोमल बालुका-कणों से नहीं। बालू की भीति की क्या साख? कठोर चट्टान का आधार ही वास्तव में आधार है।

एक बात और भी तो सुनो। चाँदनी का यश जितना अंधकार में फैलता है उतना दिनकर की प्रखर ज्योति के बीच नहीं। दिन में भी तो चंद्रमा निकलता है पर उस समय उसकी चंद्रिका का क्या महत्त्व? इसी प्रकार उसी दान की ख्याति अधिक होती है जो दीन को दिया जाता है। यदि किसी धनवान को दान दे दिया जाय तो उसकी क्या पूछ? यदि ग़रीब याचक को कोई वस्तु दी जायगी तो वह उसकी आँखों के प्रेम एवं श्रद्धा के मोतियों के रूप में प्रकट हो जायगी। मैं भी, हे मानिनी! तुम्हारे प्रेम का याचक हूँ। यदि तुम अपने रूप एवं सौंदर्य का दान मुझे न देकर किसी अयाचक को दोगी (देना तुम्हें आवश्यक है) तो वह सब अकारथ जायगा।

विशेष—(१) प्रारंभ में कवि बाला से प्रणय-दान की प्रार्थना करता है, पर

जब देखता है कि वह तो बोलती ही नहीं तब 'कठोरहृदया' तक कह देता है। अपने नन्हें से मन को कहाँ तक समझाए !

(२) अंतिम दो पंक्तियों में विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) नामक अलंकार है--पात्र दीन का विकम्पित होता है, दीनता का नहीं।

(३) वास्तव में रजनी जितनी ही अधिक सघन होगी, चंद्रिका उतनी ही भली लगेगी। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को किसी वस्तु विशेष की जितनी ही अधिक आवश्यकता होगी, उस वस्तु का उसके समीप उतना ही सम्मान होगा। भरे पेट को खिलाने से कब्जी का भय बना रहता है।

प्रिय..................................सदा।

शब्दार्थ—निराश्रित = आश्रय विहीन, निरवलंब। शिथिल = ढीली। प्रलोभन = लोभ। अल्पता = लघुता, कमी, अभाव। दयानिल = दया रूपी समीर। उपकृति = उपकार। सजल = कृतज्ञतापूर्वक। मानस = मन। क्षीण = छोटा। करुणालोक = कृपा का प्रकाश। प्रतिबिम्ब = परछाई।

भावार्थ—कवि अपनी प्राणरक्षक बाला से प्रणय-याचना करता है, वह खामोश रहती है, इस पर वह उसे एक भाषण पिला देता है।

हे प्रिये ! निराश व्यक्ति की बाँहें कोमल नहीं होतीं। तनिक से प्रलोभन के भार से वे दब नहीं सकतीं। जब तक उनकी अभिलिषित वस्तु नहीं प्राप्त हो जाती, वे उठी ही रहती हैं। यह बात सत्य है कि अभावशील व्यक्ति सदा दुःखी रहते हैं पर जब उन्हें कोई तनिक भी अपनत्व दिखाता है तो उनके नयनों में कृतज्ञता के मोती आ जाते हैं। उसे कोई यदि तनिक भी सहारा लगा देता है तो वे उसका जन्मभर अहसान मानते हैं।

दीन व्यक्तियों का हृदय अत्यंत तरल होता है। उसकी उपमा मानसरोवर से दी जा सकती है। जिस प्रकार वायु के चलने से सरोवर तरंगित हो उठता है एवं उसमें प्रतिबिंबित वस्तु कई गुनी बड़ी दिखाई पड़ निकलती है तद्वत दीन को किया गया उपकार उसके (दीन के) द्वारा कई गुना अधिक दिखाई पड़ता है। यदि उपकार मानने वाले दीन व्यक्ति पर तनिक भी दया दिखा दी जाती है तो वह इतना कृतज्ञ हो जाता है कि उसे, तरंगित मानसरोवर की ही भाँति, कई गुना अधिक बढ़ाकर संसार को बताता है।

विशेष—(१) कवि प्रारंभ में ही उसे ऐसे संबोधित करता है मानो उनकी मैत्री प्राचीन हो। 'सलिल-शोभे', 'प्रिय', 'तुम' जैसे शब्दों का प्रयोग इस बात का द्योतक है।

(२) अंतिम चार पंक्तियों में सांग रूपक एवं 'अल्पता' में मानवीकरण है।

शरद के..............................सदा।

शब्दार्थ--तिमिर = अंधकार। मादक = नशीला। मूकता = खामोशी।

अपाँग=आँख का कोना, कोर।

भावार्थ—कवि बाला से नाराज़ हो होकर खुशामद करता जाता है—शायद उसका नन्हा-सा मन अपने उर की हूक मिटा सके।

प्रिये ! मुझे तो ऐसा लगता है कि तुम कुछ न कहकर सब कुछ कहे दे रही हो। तुम्हारी अलकें मानो शरद-ऋतु का निर्मल तिमिर है, जिनके पीछे से कोई झूमता हुआ हाथ मुझे छूकर मदमस्त बना रहा है। सामने न आकर कोई तुम्हारी आँखों के पीछे से तीर चला रहा है।

प्रणय की रीति वास्तव में अत्यंत विचित्र है। प्रेमी अपने प्रेम-मात्र को पूरी आँखों से न देखकर कटाक्षों से अधिक देख लेता है। (जैसा तुम मुझे इस समय देख रही हो।) साधारणतया देखने में आता है कि पूरी आँख से अधिक दिखाई पड़ता है पर प्रेम की तो रीति ही अनोखी है—वहाँ पूरी आँख से कम और आँख की कोरों से अधिक दिखाई पड़ता है। प्रेम की विचित्रता यहीं समाप्त नहीं हो जाती। ज्यों-ज्यों प्रेमी दूर हो जाता है त्यों-त्यों वह अपने प्रेमपात्र के समीप होता जाता है। साधारणतया जो वस्तु दूर होगी वह समीप नहीं हो सकती पर प्रेम में यह भी होता है। प्रेमी आरंभ में प्रेम-संबंधी सब आनंद ले लेते हैं, तब कहीं वे एक दूसरे के विषय में जानने का प्रयत्न करते हैं। प्रीति में जात-पाँत, रंग-धर्म का कोई स्थान नहीं होता।

विशेष—(१) कवि द्वारा प्रेम की यह व्याख्या वास्तव में आश्चर्यजनक है। प्रेम की रीति सदैव से अनोखी रही है।

(२) 'पानी पीकर घर पूछना', कहावत का अत्यंत ही साहित्यिक प्रयोग हुआ है।

(३) जब प्रेमियों का संयोग होता है तब उनमें प्रेम इतना सघन नहीं होता जितना बिछुड़ने पर। कवियों ने, इसीलिए, संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग-पक्ष को विशेष प्रभावशाली माना है। उद्धव जी जब गोपियों को समझाने गए थे तब उन्होंने भी रत्नाकर जी के शब्दों में, उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया था—

"ज्यों-ज्यों बसे जात दूरि-दूरि प्रिय प्रान-मूरि।
त्यों-त्यों बसे जात मन-मुकुर हमारे में।।"

विरोधाभास की छटा सीधी-सच्ची भाषा में अत्यंत ही सुन्दर बन पड़ी है।

इन्दु की छवि में.......................दीप से।

शब्दार्थ—तिमिर=अंधकार। वीचि=लहर। स्मिति=मुस्कान। अवनि=पृथ्वी। मृगेक्षिणि=हिरन की आँखों के समान आँख वाली, मृगनयनी। स्निग्ध=चिकनी, प्रेम से युक्त।

भावार्थ—कवि ने जब मूर्च्छा के उपरांत नयन उघारे, तो अपना सर बाला की गोद में रखा पाया। उसका हृदय लुट गया। पुनः उसने बड़ी बातें कीं पर वह नहीं बोली। पर कवि ने अपना धैर्य नहीं छोड़ा। निदान उसकी विजय हुई।

कवि कहता है कि उस बालिका का उत्तर सुनने के लिए मेरा हृदय ही बेकरार न था, प्रकृति भी उत्सुक दिखाई पड़ती थी। चंद्रमा की शोभा में, अंधकार के गर्भ में; समीर की बहती हुई ध्वनि में, कुसुमों के खिलने में, लता के अधरों पर औत्सुक्य था। बेक़रारी के ऐसे क्षणों में मृगनयनी ने जमीन पर से अपनी आँखों को ऊपर उठाया। मेरे हृदय की बेचैनी स्वयंमेव चूर हो गई। अनंतर उस बाला ने स्नेह से भरी हुई श्यामल दृष्टि से मेरी आँखों को स्नेहमय कर दिया। जिस प्रकार तेल पाकर दीपक प्रज्वलित हो उठता है, उसी भाँति मैं बाला का स्नेह पाकर कृतकृत्य हो उठा।

विशेष--(१) जैसाकि पंत जी के प्रकृति-चित्रण पर विचार करते समय लिखा गया है, मानव को अपनी भावनाओं की प्रकृति ही प्रकृति मे गोचर होती है। यदि वह प्रसन्न है तो, लगता है उसके चारों ओर की प्रत्येक वस्तु उत्फुल्ल है। दूसरी ओर यदि वह दुखी है तो सम्पूर्ण प्रकृति आँसू ढुलकाती जान पड़ती है। कवि को कलिका की वाणी सुनने का औत्सुक्य था। उसे वैसा ही औत्सुक्य, इन्दु की छवि, तिमिर के गर्भ, अनिल की ध्वनि आदि मे भी दिखाई पड़ा।

(२) 'लता के अधरं' से कवि का तात्पर्य संभव है पत्तों से है।

(३) 'निज पलक' से प्रारंभ होने वाली पंक्तियों में यथासंख्य एवं सहोक्ति अलंकार है। 'स्नेह' एवं 'स्निग्ध' में श्लेष है। 'दीप सी' मे उपमालंकार है।

११—बादल (ऐप्रिल' २२ पल्लव)

सुरपति·····························जलधर।

शब्दार्थ--सुरपति=देवों के देव, इन्द्र। जगत्प्राण=पवन, जो जीवन धारण के लिए प्रथम आवश्यकता है। सहचर=साथी, मित्र। मेघदूत=कालिदास का प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ। सजल=तरल, सुन्दर, सरस। चिर=सदा। जीवनधर= जीवन-रक्षक। मुग्ध=मस्त, अत्यंत मोहित। शिखी=मोरनी। सुभग=सुदर। स्वाति=सत्ताईस नक्षत्रों में से एक। मुक्ताकार=मोतियों का आकार या समूह। गर्भ-विधायक=गर्भ धारण की प्रेरणा देने वाले। जलधर=जल धारण करने वाले, पानी बरसाने वाले बादल।

भावार्थ—वर्षाकाल में जब बादल घुमड़ते है, जन साधारण का हृदय कुछ का कुंछ हो जाता है। पर जिसे कवि-हृदय प्राप्त हुआ है उसका तो कहना ही क्या। प्रत्येक कवि ने आगे पीछे, मेघों को अपने शब्दों में बाँधा है। पंत जी भी इसके अप-वाद नहीं। पर उनके एवं अन्यों के बादलों में अंतर है। उनके बादल अपना अफ़-साना स्वयं कहते हैं।

मेघ अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि हम इन्द्र के सेवक हैं। हम सदा पवन

के साथ रहते हैं, वह हमारा मित्र है। कालिदास की कल्पना हमें निहारकर ही जागी थी जिसका फल 'मेघदूत' है। यदि हम न हों तो चातक तो कभी भी जीवित नहीं रह सकता, उसको तो सदैव से हमीं जीवन-दान देते आए हैं।

जिन्हें निहारकर मयूरी मस्त होकर नाच उठती है, वह हमी हैं। स्वाति नक्षत्र में सीपियों में गिरकर हमारी बूंद ही मोती बनती है। हमारे ही आगमन पर पक्षियों को गर्भाधान करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। किसानों की बालिकाएँ आशा बाँधे रहती है कि कब हम बरसें, कब उन्हें पानी मिले और कब उनकी खेती हरी-भरी हो।

विशेष––(१) प्रथम छन्द में प्रयुक्त उपमान महान् ही महान् हैं। 'सुरपति' का अनुचर होना साधारण बात नहीं, 'जगत्प्राण' की मैत्री बड़ी कठिनता से मिलती है, कवि-कुलगुरु कालिदास के मोहक काव्य 'मेघदूत' की कल्पना का आधार बनना बड़े गौरव की वस्तु है, इसी प्रकार किसी 'चातक' को जीवन (जल) देना परोपकार की पराकाष्ठा है। इनमें बादलों का मानवीकरण करके उनका चित्रण एक महान् व्यक्तित्व वाले पुरुष के रूप में किया गया है।

(२) दूसरे छन्द में मेघ कई कार्यों का कारण है। उन्हें निहारकर शिखी नाच उठती है, स्वाति नत्रक्ष में यदि सीप में बूँद पड़ जाय तो मोती वन जाती है, बालिका उत्फुल्ल हो उठती है, पखेरू गर्भ धारण कर लेते हैं—गर्भाधान लक्षण परिचयात् नूतमावद्धमाला:।

(३) दोनों छन्दों में प्रयुक्त अलंकार 'उल्लेख' है।

जलाशयों मे ....ऊपर।

शब्दार्थ––जलाशय = जल के आगार, तालाब। सत्वर = अविलम्ब, शीघ्र। चल = चंचल, चलायमान।

भावार्थ—बादल अपनी कहानी कवि से कह रहे हैं—

जिस प्रकार सूर्य तालाबों में कमलों को विकसित करता है उसी प्रकार वह हमें भी खिलाता है। हमारा निर्माण भी सूर्य के ताप से ही तो होता है। पर जिस प्रकार बालक वस्तुओं को तितर-बितर कर देता है, इसी भाँति समीर आकर हमें बिथुरा देती है। इतना ही नहीं जब समुद्र की छोटी-छोटी लहरें हमें बालक के समान पालने में झुलाती हैं, तब भी वही समीर आ जाती है और चील के समान झपट्टा मारकर, हमारी बाँह पकड़ कर आकाश की ओर उठा ले जाती है।

विशेष––(१) प्रथम पंक्तियों में 'दिनकर' को एक प्रौढ़ व्यवित एवं वायु को बालक के रूप में चित्रित किया है। एकत्र वस्तुओं को बिखरा देना बालक का स्वभाव होता है। वायु भी बादल को उसी भाँति बिखरा देती है। उपमा अत्यन्त स्वाभाविक है।

(२) दूसरे छन्द में सागर, बादल एवं वायु का मानवीकरण है। सागर बड़े

प्रेम के साथ बादल रूपी शिशु को झुलाता है पर चील के समान वायु आकर उसे ऊपर उठा ले जाती है। 'वही चील सा झपट', 'बाँह गह' पंक्ति में अत्यन्त क्षिप्रता है। चील भी अपना कार्य करने में देर नहीं लगाती।

भूमि-गर्भ··························निःशंक।

शब्दार्थ––रोमिल=रोंयेदार। अस्फुट=अविकसित। पंक=कीचड़। विपुल=विशाल, बड़ी। अंक=गोद। अनंत=जिसका अंत न हो, आकाश। निःशंक=शंकाहीन होकर, निर्भय होकर।

भावार्थ––बादलों का साथ बड़ों-बड़ों से है। वे बहुत से कार्यों के कारण बनते हें। वायु अपने इशारों से उन्हे नाच नचाती है। वे आगे भी कुछ कहते है।

जिस प्रकार पक्षी अपने रोएँदार पंखों को फैलाकर अपने अंडों को सेते है तथा उन्हें जीवन प्रदान करते हैं, उसी प्रकार हम भी भूमि के अंदर छिपे हुए असंख्य बीजों को नमी देकर इस योग्य बना देते है कि उनमें अंकुर फूट जावें। भूमिगत बीजों के चारों ओर कीचड़ हो जाती है। वह तब तक नही छूटती जब तक हम नहीं बरसते। हमी उनकी कीचड़ को दूर कर देते हैं एवं चेतनता प्रदान करते हे।

कल्पना की विशालता की नाँप-जोख असंभव है। फिर तीनों लोकों की कल्पनाओं का तो कहना ही क्या? हम उस कल्पना से कम नहीं। जिस प्रकार कल्पना के नाना प्रकार के रूप होते हैं उसी भाँति हम भी आकाश की गोद मे विविध प्रकार की आकृतियाँ बनाकर खेला करते हे। कभी हम दौड़ते है, कभी स्थिर हो जाते है, कभी हौले-हौले चलते हैं––जो जी में आता है वही हम कर निकलते है। हमारे कार्यो में बाधा पहुँचाने वाला कोई नहीं है। हमें भी किसी से अणुमात्र भय नहीं।

विशेष––(१) प्रारंभिक पंक्तियों में पक्षी द्वारा अण्डे सेने का चित्र प्रस्तुत किया गया है।

(२) कल्पना में मनचाहा संभव है। अरे, जब तीनों लोकों की कल्पनाएँ मिला दी जायें तब तो कहना ही क्या? बादलों की भी यही दशा है वे मनचाही आकृति, रंग, कार्य आदि ग्रहण कर सकते है।

कभी चौकड़ी··························तरते।

शब्दार्थ––धरते=रखते। मत्त मतंगज=मस्त हाथी। सजग=चौकन्ने होकर। शशक=खरगोश। कीश=बन्दर, कली का सम्पुट। नीरवता=चुप्पी, खामोशी। वृहद्=विशाल, लम्बा-चौड़ा। छद=पंख।

भावार्थ––बादलों की मैत्री बड़ों-बड़ों से है। वे महान से महान कार्यो के कारण हें। वे आकाश में निश्चिन्त, निर्भय एवं निर्द्वन्द्व होकर विचरते हे। उनके और भी बहुत-से कार्य है। उनकी ही भाषा में सुनिए––

बादल कहते है कि कभी हम आकाश में मृग का रूप धारण करके चौकड़ी भरते हैं। उस समय हम इतनी उछल-कूद मचाते है कि हमारे पैर ज़मीन पर नहीं

आते। दूसरे ही क्षण हम अपना रूप बदल लेते हैं। हम मद में मस्त हाथियों के समान झूमते हैं। पर शीघ्र ही हम खरगोश के समान चौकन्ने होकर आकाश में चरा करते हैं। हमारा यह रूप भी अधिक देर नहीं रहता। हम पवन रूपी डाल में कली के सम्पुट की भाँति शांत और मौन रहते हैं। फिर हमारा आकार गिद्ध के समान हो जाता है--उस गिद्ध के समान जो उड़ते हुए छोटे-छोटे पक्षियों के पंखों को नोच-नोचकर फेंक देता है। और फिर हम सारे आकाश में फैल जाते हैं।

विशेष--(१) चित्र अत्यंत ही मनोहर है। वन्य-प्राणी ऐसा ही तो करते हैं। मृग की चौकड़ी, मतंगज का झूमना शब्दों में पूर्णतया बाँध दिया गया है। 'सजग शशक नभ का चरते' अत्यंत ही चित्रात्मक पंक्ति है। खरगोश जब हरियाली को चरता है तो अत्यंत चौकन्ना रहता है, कान ऊपर उठा लेता है एवं तनिक-सी आहट पर दौड़ निकलता है। कवि ने प्रत्येक के स्वभाव को सही-सही उतार दिया है।

(२) बादल भी आकाश में ऐसी ही क्रियाएँ करते है जैसीकि मृग, मतंगज एवं शशक। पर 'चरते' क्या है यह पंत जी ही जानें।

(३) जब कलिकाएँ पूर्णतया खिल जाती हैं तो भौंरे अपने गुंजन द्वारा उनकी नीरवता भंग कर देते है, पर जब तक उनका पूर्ण प्रस्फुटन नहीं होता, वे शांति में निमग्न रहती है। 'नीरवता से मुँह भरते' का यही आशय है।

(४) जब कोई गिद्ध अचानक आकाश में आ जाता है तो छोटे-छोटे पखेरुओं के पंख गिर निकलते हैं। बादल भी, इसी प्रकार, जब बरस निकलते हैं तो लघुकाय पक्षी पंखविहीन हो निकलते है।

कभी अचानक······················सुकुमार।

शब्दार्थ--प्रकटा=प्रकट करके। विकट=भयानक, विचित्र। आकार=आकृति, शक्ल। सुभग=सुंदर। समुद=प्रसन्नतापूर्वक। शुचि ज्योत्स्ना—शुभ्र चाँदनी। इन्द्र=चन्द्रमा। कर=किरणें।

भावार्थ—बादल अपनी कहानी अपने आप कह रहे है। वे कभी कोमल और कभी विकट आकार धारण करते है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि हमारी शक्ल भूतों की-सी हो जाती है--भयंकर विचित्र, डरावनी। उस क्षण जब हम अपने साथियों समेत अपने दाँतों को कटकटा-कर अट्टहास करते है तो समूचा संसार दहल उठता है। पर हमारा यह रूप सदा नहीं रहता। हम शीघ्र ही भूतों जैसे आकार को त्याग देते हैं तथा परियों के बच्चों के समान आकृति वाले हो जाते है। जिस प्रकार परियों के बच्चे चन्द्रमा की किरणों को थाम-थामकर तैरना सीखते हैं उसी प्रकार हम भी प्रसन्नतापूर्वक चाँदनी में तैरते हैं।

विशेष--(१) पंत जी के बादल सदैव कोमल ही नहीं रहते भूताकार भी हो जाते हैं। एक ओर वे भूतों के समान कड़कड़ाते है, दूसरी ओर परियों के बच्चों के

समान कोमलातिकोमल भी हो जाते हैं।

(२) 'प्रकटा विकट' से 'संसार' तक की पंक्तियों का शब्द-चयन अत्यंत सुघर है। टवर्ग का प्रयोग कड़कड़ाहट उत्पन्न कर देता है।

(३) दूसरे छंद की शब्द-योजना बड़ी ही मधुर है। शरद ऋतु के मेघों का इससे सुदर वर्णन शायद ही अन्यत्र हो। परियाँ अपने बच्चों को चंद्र किरणों के सहारे तैरना सिखाती हैं--यह कल्पना कैसी मधुर, अभिराम एवं कोमल है! 'सीप के पंख' बड़ा सुदर प्रयोग है।

अनिल-विलोड़ित..................वातुल चोर।

शब्दार्थ--अनिल-विलोड़ित=हवा से मथे हुए। गगन-सिंधु=आकाशरूपी समुद्र। उपल=ओले। तिमिर घनघोर=भीषण अंधकार। तूल तोम=कपास का गुच्छा। विटप=वृक्ष। दलबलयुत=सेना के साथ, झकोरों के साथ। वातुल-चोर=वायुरूपी चोर।

भावार्थ--बादल आकाश में बड़े-बड़े भयानक कार्य करते हैं। वे अपने कारनामे अपने आप ही सुना रहे हैं।

कभी-कभी हम आकाशरूपी समुद्र में, जो भीषण वायु द्वारा मथ दिया गया होता है, प्रलय की बाढ़ के समान चारों ओर फैल जाते हैं। अनंतर हम अत्यंत भयानक रूप धारण करके संसार पर ओले बरसाते हैं तथा उसे प्रकाश से विहीन कर देते हैं। जिस प्रकार चोर अपने साथियों समेत कपास के गुच्छे को बिना किसी प्रयास के लेकर भाग जाता है, उसी प्रकार हवा रूपी चोर आकर हमें आकाश रूपी वृक्ष से एकदम लेकर भाग जाता है। उसे तनिक भी कठिनाई नहीं होती।

विशेष--(१) प्रथम छंद में प्रलयकाल का चित्र उपस्थित किया गया है। उस समय भी, सुना जाता है, सर्वत्र तूफानी जल छा जाता है और पृथ्वी को खा जाने के लिए, बढ़ता चला आता है। सूर्य पर चारों ओर से घनों का आक्रमण हो जाता है जिससे प्रकाश-किरण नहीं मिलती। मेघ भी चढ़ाई करते हैं तो ऐसी ही दशा हो जाती है। वर्षा ऋतु में कभी भी इसका अनुभव किया जा सकता है।

(२) बरसात में देखा जाता है कि हवा की गति अत्यंत तीव्र हो जाती है। जिस समय वह बहती है बादलों का झुण्ड का झुण्ड आगे-आगे ऐसे भाग निकलता है जैसे उनका कोई भी न हो। चोर भी जब कुछ लेकर भागता है तो वस्तु बेचारी की क्या बिसात कि कुछ भी कह सके। जब चोर आता है तो उसके संगी-साथी अवश्य होते हैं। झंझा, झकोर, झोंके आदि पवन के सहायक हैं।

बुद्बुद्-द्युति.........................ललाम।

शब्दार्थ--बुद्बुद्-द्युति=बुलबुलों की कांति। तारक-दल-तरलित=बहुत से तारों से युक्त। तम=अंधकार। जम्बाल=काई। जाल=समूह। अमूल=बिना जड़ के, बिना आधार के। अविराम=लगातार, निरन्तर। कुमुद-कला=चन्द्रकला।

रजतकर=चाँदी के से सफेद हाथ, किरणें। ललाम=सुन्दर।

भावार्थ—कभी-कभी हम टुकड़े-टुकड़े होकर नीले आकाश में तैर निकलते हैं। उस समय हम ऐसे लगते है जैसे बुदबुदों से भरे यमुना-जल में काली काई के टुकड़े विना जड़, लगातार तैरते रहते है। हमारी भी कोई जड़ नहीं होती।

हमारा रूप फिर परिवर्तित हो जाता है। हम पर चन्द्र की किरणें पड़ती है जिससे हमारा वर्ण स्वर्णिम हो जाता है। हम हलकी-हलकी ध्वनि भी कर निकलते है। उस समय ऐसा लगता है मानों हम नल के भेजे हुए दूत है और चाँदनी रूपी दमयन्ती से उसका संदेश कहते है।

विशेष—(१) प्रथम छंद मे आकाश को यमुना का श्याम जल एवं तारों को बुलबुले माना है। काई का मूल नहीं होता, इसी प्रकार बादल मूलविहीन होते है। पर पंत जी यह भूल जाते है कि काई ठहरे जल मे ही बहुधा पाई जाती है, बहते मे नहीं।

(२) प्रसिद्ध है कि महाराज वीरसेन के युवराज ने महाराज भीम की कन्या, दमयन्ती को अपने मन की बात हस द्वारा ही पहुँचाई थी। जब स्वर्ण रंग के बादल मधुर गर्जन करते हैं तब यही कल्पना उठती है कि वे हंस है जो नल का संदेश दमयंती (चद्रिका) को सुना रहे है।

दुहरा विद्युद्दाम·······················वायु-विहार।

शब्दार्थ—विद्युद्दाम=विजली रूपी डोरी। विकट=भयानक, विशाल। पटह=नगाड़ा। निर्घोषित हो=घोष करके, गरजकर। विशिखों=बाणों का। आसार=फैलाव। वज्रायुध=वज्र का सा कठोर शस्त्र। भूधर=पर्वत। भीमाकार=भयानक आकार वाला। मदोन्मत्त=मद से पागल। वासव=इन्द्र।

भावार्थ—मेघों के व्यापार अनगिनत है! वे कभी अत्यंत कोमल हो जाते हैं, कभी अत्यंत परुष। वे पर्वतों को तो खेल-खेल में ही परास्त कर देते है।

हम फिर भयंकर आकार धारण कर लेते है एवं जोर-शोर से गर्जन कर निकलते है। सेना के योद्धा जिस तरह धनुष पर बाण चढ़ाकर शत्रु पर वर्षा कर निकलते है उसी भाँति हम भी बिजली की दुहरी डोरी चढ़ाकर टंकार कर निकलते हैं। हमारा गर्जन, पर्वतों से युद्ध करते समय, सुनने योग्य होता है। मानव के युद्ध में बड़े से बड़े नगाड़ों से भी ऐसी ध्वनि निस्सरित न होती होगी, जैसी हमारे गर्जन से होती है। जिस प्रकार इन्द्र ने अपने भयंकर वज्र के आघात से पर्वतों को विचूर्ण कर दिया था, उसी प्रकार हम भी उन्हें चूर-चूर कर देते है एवं विजयोपरांत हवा खाते है, जश्न मनाते है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों में बादलों एवं पर्वतों के युद्ध का चित्रण है। कवि ने मेघों की विजय दिखाई है। उसकी बिजली प्रत्यंचा है। जब वह चमकती है तो दुहरी लकीर होती है वही 'दुहरा विद्युद्दाम' है, गर्जन नगाड़े हैं, मूसलाधार वर्षा

तीर हैं, मेघ इन से किसी दशा में कम नहीं।

(२) पौराणिक गाथा है कि पर्वतों के पंख हुआ करते थे जिससे वे उड़-उड़ कर किसी भी घर, ग्राम, नगर पर बैठ जाते थे एवं उनका ध्वंस कर देते थे। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई। यह निहारकर देवराज ने उनपर चढ़ाई की और अपने अमोघ वज्र से उन्हें पंखविहीन कर दिया। पर्वत तभी से अचल हो गए हैं। बादल स्वयं को वैसा ही इन्द्र समझते हैं।

व्योम-विपिन..............................बात।

शब्दार्थ—व्योम-विपिन = आकाश रूपी वन। पल्लवित—पत्तों युक्त। उदयाचल = एक पर्वत विशेष जहाँ सूर्य का उदय होता है। बाल हंस = हंस के बालक के समान अथवा हाल का उगा हुआ सूर्य। अम्बर = आकाश। अवदात = श्वेत।

भावार्थ—बादलों एवं पर्वतों के युद्ध में प्रथम पक्ष की विजय होती है। अपनी आगे की कहानी मेघ पुनः कहते हैं—

जब वसन्त ऋतु का आगमन होता है तो तमाल के सब पत्ते गिर-गिरकर नदी में बहने लगते हैं। उनके स्थान पर नव पल्लवों का आविर्भाव होता है। उसी प्रकार आकाश में जब प्रभात आता है तो अंधकार समीर के साथ भाग खड़ा होता है। फिर प्रातःकाल तनिक अरुणिमा लिए हुए सूर्य उदयाचल से आता है तो हम भी सुनहरे पंख फैलाकर वेग से उड़ने लगते हैं।

विशेष—(१) वसन्तागमन से पूर्व जीर्ण पात गिर पड़ते हैं एवं नव कोपलें निकलती हैं। कवि ने आकाश वन, प्रभात वसंत, तम तमाल एवं वायु को नदी माना है। कल्पना बड़ी सुन्दर लगती है पर जिन्होंने महाकवि मिल्टन की 'पैरेडाइज़ लास्ट' (प्रथम पुस्तक) की 'वैलम्रोजा' वाली कल्पना पढ़ी है उन्हें यह कुछ भी नहीं लगेगी।

(२) पौराणिक युग में विश्वास किया जाता था कि सूर्य उदयाचल (पर्वत) से निकला करता था। जब सूर्य निकलता है, लालिमा होती है, उससे मेघ भी सुनहरे हो जाते हैं। ऐसा लगता है मानो वे स्वर्णिम पंखों के पखेरू हैं।

संध्या का.......... ....रत्न निकाम।

शब्दार्थ—मादक = नशा लाने वाला, मदहोश करने वाला। कलिन्दो = एक पक्षी, वृक्ष; संभवतः यहाँ 'मिलिन्दों' हो जिसका अर्थ होगा भ्रमरों। विमुग्ध = मस्त होकर। वाड़व = अग्नि जो समुद्र में लगती है। सांध्य = संध्या समय के। तारावलि = तारों का झुण्ड। निकाम = बहुत,

भावार्थ—मेघों का बल अपरिमित है। वे पर्वतों को ही युद्ध में नहीं हरा देते आकाश एवं समुद्र को नाकों चने चबा देते हैं।

जिस प्रकार भौंरा कमलों का पराग पीकर संध्या काल विश्राम करता है, उसी

भाँति हम भी संध्या की लालिमा रूपी पराग का पान करके आकाश रूप कमल पर विश्राम करते हैं।

जब समुद्र मे बड़वाग्नि भड़कती है तो रत्नाकर सुलग उठता है एवं उसके रत्न बाहर बिखर पड़ते हैं। इसी भाँति हम भी संध्या के समय आकाश रूपी सिन्धु को सोख लेते हैं तथा उसमें से प्राप्त रत्नों को हम इधर-उधर बिखरा देते हैं। तारे और कुछ नहीं, अपितु, हमारे द्वारा बिखेरी गई वही रत्न-राशि है।

विशेष—बादलों को कवि ने सर्वशक्तिशाली बनाया है। वे जब, जो, जैसा चाहते हैं वैसा ही कर निकलते हैं। लगता है उन्हें सब सिद्धियाँ प्राप्त हों।

धीरे-धीरे .... ओर।

शब्दार्थ—संशय=संदेह, भ्रम, शंका। अपयश=बुराई, अपकीर्ति। अछोर=जिसका छोर न हो, सर्वत्र। भृकुटि=भौंह। घोष=आवाज़। विप्लव= संहार, क्रांति।

भावार्थ—बादल कभी भौंरे के समान पराग पीकर मस्त हो जाते हैं, कभी आकाश को तहस-नहस कर देते हैं।

जिस प्रकार मानव के हृदय में किसी के प्रति शंका बहुत धीरे-धीरे उठना प्रारंभ होती है, उसी प्रकार आकाश के हृदय में हम उठते हैं। किसी की बुराई के फैलने में समय नहीं लगता; हम भी आकाश में शीघ्र ही छा जाते हैं। फिर हम आकाश में इस प्रकार उमड़ते हैं जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में मोह। क्या मानव की लालसाओं की कभी परिसमाप्ति होती है? हम भी आकाश में लालसा की ही भाँति, रात-दिन फैले रहते हैं।

जब मानव को कोई चिंता घेरती है तो उसके पलक झुक जाते हैं। हम भी आकाश रूपी मानव की इन्द्रधनुष रूपी भौंह पर चिंता के समान खामोशी से लटक जाते हैं। फिर हम तेजी से चारों ओर ऐसे छा जाते हैं जैसे किसी क्रांति के कारण उत्पन्न हुआ भय लोगों के हृदयों में भर जाता है। हम गर्जन कर उठते हैं, संसार थर्रा उठता है।

विशेष—(१) प्रथम चार पंक्तियाँ अत्यंत ही श्रेष्ठ एवं अपूर्व हैं। आकाश का मानवीकरण है। अमूर्त से मूर्त की उपमा देना छायावाद का वैशेष्य है। संशय से धीरे और कौन सी चीज उठती है, अपयश कितना शीघ्र फैल जाता है, मोह का उमड़ना तो विख्यात ही है, और लालसा?—क्या इसका भी छोर कभी हो सकता है? इनसे सुन्दर उपमान विश्व में शायद ही कहीं हो।

(२) अंतिम चार पंक्तियाँ अत्यन्त ही चित्रात्मक हैं। लगता है कोई चिंता-मग्न मानव बैठा हो, सर्वत्र शांति व्याप्त हो पर एकाएक विप्लव उठ बैठे और वह भयाक्रांत हो उठे।

(३) 'बादल' पुल्लिंग की उपमा 'चिंता' स्त्रीलिंग से दी गई है। आकाश का

मानवीकरण इसमें भी है।

पर्वत से लघु·······················निस्सार।

शब्दार्थ—काल-चक्र=समय का क्रम। जलधर=मेघ। जलधार=पानी की धार। विभव-भूति=संसार का ऐश्वर्य।

भावार्थ—पर्वतों का बल साधारण नहीं, वे पर्वतों का गर्व भी विचूर्ण कर देते हैं। उनका रूप-परिवर्तन प्रत्येक पल होता रहता है। वे अपनी ही भाषा में कहते हैं—

कभी तो हमारा आकार पर्वत के समान विशाल हो जाता है, कभी धूल के कण के समान अत्यन्त लघु। जिस प्रकार समय के थपेड़े से प्रपीड़ित मानव कभी ऊपर उठ जाता है, कभी अवनति के गर्त में जा पड़ता है तद्वत हम भी कभी मेघ बनकर ऊपर चढ़ जाते हैं, कभी हमारा दुर्भाग्य इतना होता है कि हम जल की बूँदों के रूप में नीचे गिर पड़ते हैं।

कभी हमारा आकार महलों के समान हो जाता है, मानो हम आकाश में महल बनाते हैं, कभी हम इस छोर से उस छोर तक छा जाते हैं मानो हम आकाश के पुल हों। पर एक से दिन किसके जाते है ? कभी-कभी तो ऐसा क्षण आता है कि हमारा अस्तित्व तक विलीन हो जाता है। इस कार्य में एक क्षण भी नहीं लगता—जिस प्रकार कि महान् से महान् ऐश्वर्य के विनष्ट होने में पल भर भी नहीं लगता।

विशेष—लगता है पंत जी इन पंक्तियों द्वारा परोक्ष रूप से मानव को उपदेश दे रहे है। मान, वैभव, ऐश्वर्य मे आकर वह किसी को गिनता ही नहीं है। कवि कहता है कि पर्वतों को तो तनिक निहारो ! पर्वत का आकार भी क्षण भर में धूलि-कण बन जाता है। अंतिम पंक्ति 'विभव-भूति ही-से निस्सार' मे तो अत्यन्त स्पष्टता है।

नग्न गगन·····················हिमजल डाल।

शब्दार्थ—नग्न=नंगे, निर्मल, पत्तेरहित। पतंग=पतंगा, सूर्य। त्वरित=शीघ्र, तुरन्त। उत्ताल=ऊँचा, तीक्ष्ण। आतप=गर्मी, धूप।

भावार्थ—मेघों का आकार सदा समान नहीं रहता। वे कभी पर्वत के समान हो जाते हैं तो कभी धूल के समान। सांसारिक ऐश्वर्य की नाई कभी-कभी उनके मिटने में भी समय नहीं उगता।

जिस प्रकार सूखे, पत्र विहीन वृक्ष पर मकड़ी अपना जाला पूर देती है एवं उसमें छोटे-छोटे पतंगों को फँसा लेती है, उसी प्रकार हम शाखाविहीन आकाश में जाले के समान छा जाते हैं। जगत को झुलसा देने वाला दिनकर भी हमारे चंगुल में आकर निकल नहीं सकता।

पर हमारा हृदय कठोर ही नहीं है। हम अपने जाल में उलझाकर किसी को संताप देना ही नहीं जानते, धूप द्वारा सुखाई-सताई गई कलिकाओं पर ओस डाल

कर उन्हें हरा-भरा भी बनाते हैं । हमारा हृदय वास्तव में मोम जैसा है जो किसी के तनिक से भी दुख को देखकर पिघल जाता है ।

विशेष—(१) आकाश को 'नग्न' माना है । उस पर कोई वस्त्र नहीं होता, कोई आवरण नहीं होता, शून्य होता है । जिस वृक्ष पर कोई पत्ता आदि नहीं होता वह भी आकाश की भाँति ही शून्य होता है । हाँ, उस पर मकड़ियाँ आराम से आकर अपने-अपने जाले तान लेती हैं जिनमें छोटे-छोटे पतंगे बेचारे फँस जाते हैं ।

(२) 'पतंगा' में श्लेष है । वृक्ष के जाले के साथ इसका अर्थ 'पतंगा' है एवं आकाश के जाले (बादल) के अर्थ में 'सूर्य' ।

(३) बादल 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' ही नहीं अपितु 'वज्रादपि कठोराणि कुसुमानि मृदूरपि' भी हैं । जब वे देखते हैं कि सूर्य अपने आतप से नव कलिकाओं को संतप्त कर देता है तो वे दिनकर को अपने जाल में उलझाकर सजा देते हैं एवं कलिकाओं को पानी देकर हरा-भरा बनाते हैं । इससे बड़ा न्याय और क्या हो सकता है ?

हम सागर..........................तूल ।

शब्दार्थ—धवल = श्वेत, शुभ्र । धूम = धुआँ । वारि बसन = पानी के वस्त्र । अवनि = पृथ्वी । सलिल-भस्म = जल की राख । पावक = आग, अनल । तूल = रुई ।

भावार्थ—पंत जी के बादलों के पास आठों सिद्धियाँ मुट्ठी में है । वे चाहे कुछ कर सकते हैं । न्यायप्रियता उनकी विशेषता है ।

हम समुद्र की उन्मुक्त हँसी हैं । हमारा जन्म समुद्र से ही होता है । हम जल के धुएँ तथा आकाश की धूल हैं । हम हवा के झाग तथा उषा रूपी शाखा के पल्लव हैं । पानी के बुने हुए वस्त्र हमी हैं । हमारे ही कारण पृथ्वी पृथ्वी है, हम उसके मूल कारण हैं ।

जब हम आकाश में चारों ओर छा जाते हैं तो ऐसा भान होता है कि वहाँ पृथ्वी उठकर पहुँच गई है । इसी प्रकार हम बरसकर आकाश को धरती पर ले आते हैं । हम पानी की भस्म तथा वायु रूपी वृक्ष के फूल हैं । जल में छा जाने से हम उसे स्थल बना देते हैं, पृथ्वी को जलमय कर देते हैं; दिन में अंधकार कर देना हमारे बाएँ हाथ का खेल है । संध्या समय हमारा रंग इतना लाल हो जाता है कि लगता है हम अग्नि की रुई हैं ।

विशेष—(१) सब पंक्तियों में लक्षण-मूलक उपमाएँ हैं जो अधिकांशतः रूप-साम्य पर ही आधारित हैं ।

(२) बादलों का जन्म सागर से होता है, उधर हँसी का रंग भी श्वेत माना गया है । अतः बादल 'सागर के धवल हास' हैं ।

(३) धुएँ का रंग काला होता है, बादल का भी काला है एवं जल से

उत्पन्न होते हैं। अतः 'जल के धूम' हैं।

(४) जल का अत्यधिक तेज़ बहाव श्वेत रंग का झाग (फेन) उत्पन्न करता है। उधर कभी-कभी बादल भी श्वेत होते हैं। अतः जब वे पवन द्वारा उड़ाए जाते हैं तो लगता है 'अनिल फेन' है।

(५) नई-नई कोपलों का वर्ण लाल होता है, ऊषा काल में भी मेघखण्ड लाल हो जाते हैं, अतः वे अपने को 'ऊषा के पल्लव' कहें तो क्या बुराई ?

(६) वस्त्रों का सर्वप्रथम कार्य शरीर को छिपाए रखना होता है। बादलों को 'वारिवसन' मानने में क्या बुराई है जब वे वारि को छुपाए रखते हैं।

(७) बादलों की अनुपस्थिति में जल नहीं बरस सकता और यदि जल नहीं बरसे तो धरती पर हरीतिमा का चिह्न भी नहीं रह सकता है, अतः वे गर्व के साथ अपने को 'वसुधा के मूल' उद्घोषित करते हैं।

(८) किसी की भी भस्म श्वेत रंग की होती है। बादल भी सफेद हैं तथा पानी से विनिर्मित हैं। इसी वजह से उन्हें 'सलिल-भस्म' कहा गया है।

(९) मेघ कभी-कभी फूलों का आकार धारण कर लेते हैं। यह आकार उन्हें हवा ही देती है। अतः पंत जी उन्हें 'मारुत के फूल' मानते हैं।

व्योम-बेलि............................महान।

शब्दार्थ—तन्द्रा = हल्की-सी नींद। ज्योत्स्ना = चाँदनी। यान = सवारी, रथ। पवन-धेनु = हवा की गाय। पांशुल = धूल से भरा हुआ। विरल-वितान = झीना शामियाना, फटा हुआ तम्बू। जल-खग = जल से बने हुए पक्षी। अम्बुधि = सागर।

भावार्थ—बादल अपनी कहानी स्वयं कहते हैं। वे जल में थल और थल में जल की प्रतीति करा देते हैं। वसुधा के तो वे मूल कारण हैं—उनके बिना सर्वत्र धूल ही धूल उड़ती दिखाई पड़ेगी।

हम आकाश की लहलहाती लता हैं। जब हम चलते हैं तो लगता है तारे भी चलते हैं—हम उनकी गति हैं। पर्वत के आकार के होते हुए भी हम चलते हैं। हमारा गर्जन मानो आकाश का संगीत है। तारों पर छाकर हम उनकी ज्योति कुछ मलिन कर देते हैं, मानो हम उनकी नींद हैं। चाँदनी रातों में हम बर्फ के टुकड़ों के समान दौड़ लगाते हैं। हम निशापति के रथ हैं। जब हम चलते हैं तब वह भी चलता है अन्यथा खड़ा रहता है।

हम पवन रूपी ग्वाले की गाय हैं। वही हमें इधर से उधर हाँका करता है। जिस समय कोई व्यक्ति परिश्रम कर चुकता होता है, उसके शरीर पर गरद छा जाती है। वह उसे झाड़ता है। सूर्य भी बेचारा दिनभर एक पल भी बिना रुके श्रम करके अपने शरीर की धूल झाड़ता है। हम वही हैं। हममें पानी भी होता है, बिजली भी होती है—हम इन दोनों के झीने मण्डप हैं। हम आकाश रूपी आँख के पलक हैं, जल के पक्षी हैं एवं बहते हुए स्थल हैं। हम समुद्र की विशाल कल्पना हैं।

विशेष—(१) जब व्यक्ति अपने पलक बन्द कर लेता है तो फिर आँख नहीं दिखाई देती। बादल भी जब छा जाते हैं तो आकाश दिखना बन्द हो जाता है। वे अपने को, इसीलिए, 'व्योम-पलक' कहते हैं।

(२) जब मेघ घने हो जाते हैं तो स्थल मालूम होने लगते हैं, पर धरती स्थिर रहती है, वे बहते हुए दिखाई देते हैं; अतः 'बहते हल' है।

(३) व्यक्ति जब कल्पना में डूब जाता है, वह धरती पर नहीं रहता। बादल भी समुद्र के हृदय से उठते हैं एवं बहुत ऊँचे आकाश में उड़ते रहते हैं, अतः उन्हें सागर की महान कल्पना कहा गया है।

(४) अनुप्रास, उपमा, रूपक, परिकरांकुर अलंकारों के साथ-साथ 'चलते-अचल' में विरोधाभास है। 'व्योम', 'तारों', 'अंबुधि' आदि का मानवीकरण भी है।

(५) इन पंक्तियों में चमत्कार आ गया है, अत काव्य की बुरी तरह हत्या हुई है।

धूम-धुँआरे..........................अमर।

शब्दार्थ—बिकरारे=विकराल, भयानक। मदन राज=महाराज कामदेव। वीर=योद्धा, सिपाही। फणिधर=फन को धारण करने वाला, साँप। वशीकर=वशीकरण, एक मंत्र जिससे कोई भी वश में किया जा सकता है। विष-सीकर=जहर की बूँद। स्वर्ग-सेतु=स्वर्ग तक ले जाने वाला पुल। कामरूप=मन चाहा रूप धारण कर सकने वाले, जिनमें काम-वासना प्रबल हो। घनश्याम=काले रंग के बादल, श्रीकृष्ण।

भावार्थ—मेघ इतने बलवान होते हुए भी हवा के इंगितों पर नाचते हैं। समुद्र जैसे निम्नतम स्थल से उठकर उच्चतम स्थान तक बादल ही पहुँच पाते हैं। वे अब अपनी कहानी समाप्त करने की सोच रहे हैं—

हम धुँए के समान धूमिल एवं काजल के समान काले हैं। हमारा रूप बड़ा भयानक है। महाराज कामदेव के हम वीर योद्धा हैं, वर्षा के उड़ते हुए सर्प हैं। हमें वशीकरण मंत्र आता है। जब हम चमकते हैं एवं गर्जन करते हैं तो बड़े-बड़े योद्धा वश में हो जाते हैं। वियोगियों के लिए हम विष के फुव्वारे हैं। हमारे द्वारा धारण किए गए इन्द्रधनुष की शोभा स्वर्ग के पुल से कम नहीं होती। हम अपना रूप अपनी इच्छानुसार धारण कर लेते हैं। हम घनश्याम हैं।

विशेष—(१) वर्षा में कामदेव अत्यधिक सताता है। मेघों को विश्वास है कि यदि वे न हों तो महाराज कामदेव मनुष्यों के हृदयों को न जीत सकें। वे वास्तव में 'मदन-राज के वीर-बहादुर' हैं।

(२) जब वर्षा-ऋतु आती है तो वियोगी जन और भी दुःखी हो जाते हैं। उन्हें बादल 'उड़ते फणिधर' एवं 'विष-सीकर' से अधिक कुछ नहीं लगते।

(३) बादलों में कामोद्दीपक शक्ति प्रचुर मात्रा में होती है—यह वे अपनी कहानी के अंत में स्वयंमेव बताते हैं।

(४) शब्द-चयन दोनों छन्दों का अतीव सुन्दर है। प्रथम छन्द में नाद-सौंदर्य के लिए 'ल' का 'र' बना दिया गया है। पहली पंक्ति पढ़ने से ही भारी-भरकम, काले-कलूटे बादलों का चित्र सामने आ जाता है। दूसरे छन्द की प्रथम पंक्ति अपने सौंदर्य में अनुपम है।

१२—मुसकान (अगस्त १९२२, पल्लव)

कहेंगे ································ मुस्कान।

शब्दार्थ—ध्यान=गौर, ख्याल, सोच, विचार।

भावार्थ—प्रस्तुत रचना में कवि ने अपने को मुग्धा नायिका माना है। उसकी सहज सरल, सीधी, सच्ची मुस्कान का वर्णन ही उसका प्रतिपाद्य विषय है।

प्रेमिका अपनी सखी से कहती है कि प्रियतम का तनिक-सा भी संकेत पाकर मैं हँस पड़ती हूँ। मुझे याद ही नहीं रहता कि मैं कहाँ बैठी हूँ, मेरे आस-पास कौन-कौन हैं ? फिर मुझे एकाएक ध्यान आता है कि हाय ! मेरी इस निर्लज्ज मुस्कान को देखकर अनजान व्यक्ति क्या कहेंगे ! यह सोचकर मैं अपनी हँसी रोकने का प्रयत्न करती हूँ, पर सखी ! तुझसे क्या कहूँ ? वह तो रुकती ही नहीं।

विशेष—प्रस्तुत पंक्तियों में नैसर्गिक मुस्कान का चित्रण है। नायिका मुग्धा है। प्रियतम को निहारकर वह भला अपने हृदय की प्रफुल्लता पर कैसे ताला लगा दे ?

विपिन ································ निदान।

शब्दार्थ—विपिन=जंगल, वन। दुराव=छिपाव। नादान=छलविहीन, भोले-भाले। निदान=अंत में, आखिरकार।

भावार्थ—नायिका चाहती है कि वह न हँसे पर उससे बिना हँसे नहीं रहा जाता।

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में जुगनू वन में टिमटिमाते रहते हैं उसी प्रकार मेरे हृदय में सैकड़ों भाव, जो बड़े कोमल होते हैं, उठते रहते हैं। जिस प्रकार उन अनगिनत खद्योतों को छुपाना असंभव है उसी प्रकार मेरे हृदय के कोमल भावों को दबा रखना, ओठों पर न आने देना, दुष्कर है। कल्पना के उन भावों को सोचकर मुझे बरबस हँसी आ जाती है। सखी ! क्या करूँ ? ख़ामोश रहने का अथक प्रयास करती हूँ, पर अंत में विजय कल्पना के इन भोले-भाले शिशुओं की ही होती है।

विशेष—देखा जाता है कि बहुत सी बातों को कल्पना में ही सोच-सोचकर हँसी आ जाती है, क्रोध आ जाता है, नयन छलक उठते हैं। नायिका की हँसी भी

रुक नहीं पाती। दूसरे भोले-भाले बालक की कभी-कभी ऐसी क्रियाएँ होती हैं कि दर्शक कितनी ही गंभीर मुद्रा में क्यों न हो हँस ही पड़ता है। युवती की कल्पनाएँ भी उसी भोले बाल के व्यापार के समान हैं जो न चाहते हुए भी हँसी दिला जाता है।

तारकों··························मुसकान।

शब्दार्थ—तारकों = तारों। नव-नव = नए-नए। हिमजल = ओस, आँसू। अपनाव = आत्मीयता।

भावार्थ—युवती की मुस्कान रुक ही नहीं पाती। एक न एक ऐसा कारण बन जाता है कि उसकी मुसकान अपरिहार्य हो जाती है।

रजनी में जब सोने का उपक्रम रचती हूँ तो तारों से मेरे मन को नए-नए भाव मिलते हैं। यह भाव मेरी पलकों पर छा जाते हैं और मेरी नींद छीन लेते हैं। कभी कभी यह भाव बरबस ही मेरी आँखों में आँसू की बूँद उत्पन्न कर जाते हैं। यह भाव तब मुझसे और भी अधिक आत्मीयता जताते हैं, इतनी कि मेरे तन, मन, प्राण में गुदगुदी पैदा कर निकलते हैं। अब सखि! तू ही बता मैं अपनी मुसकान कैसे रोकूँ? मैं हँस ही पड़ती हूँ।

विशेष—नायिका को तो कुछ लज्जा-सी आती भी है पर जब कोई उसे गुद-गुदाए तो फिर वह क्या करे? गुदगुदी से तो पत्थर भी मुसकरा पड़ेगा। इस शब्द का प्रयोग अत्यंत ही उचित हुआ है।

कभी उड़ते······················मुसकान।

शब्दार्थ—सुकुमार = प्रियतम, वह। अनजान = बिना जाने ही, एकाएक।

भावार्थ—नायिका के भाव उसे गुदगुदा देते हैं, फलतः उसकी हँसी रुक ही नहीं पाती। उधर प्रकृति के व्यापार भी उसे हँस जाने के लिए मजबूर कर देते हैं।

सूखे पत्ते समीर के साथ उड़ निकलते हैं। मुझे तो तब ऐसा लगता है कि मेरा प्रियतम मुझे मिल गया है। कभी मुझे ऐसा भान होता है कि मेरा प्रियतम जल की लहरों के व्याज से अपना हाथ मेरी ओर बढ़ाकर मुझे उस पार आने का निमन्त्रण देता है। उस समय मैं कुछ की कुछ हो जाती हूँ, मुझे अपनी सुधि ही नहीं रहती। बहुत रोकती हूँ, पर मेरी प्यारी सखी! हँसी आ ही जाती है क्या करूँ?

विशेष—(१) 'उस पार' कहकर कवि ने प्रस्तुत रचना में रहस्यवाद ला दिया है। पिछले छंद तक मुग्धा की मानसिक दशा का बड़ा सरस चित्रण था, पर यहीं आकर मज़ा किरकिरा हो गया। आचार्य शुक्ल इसी 'इस पार', 'उस पार' के अत्य-धिक विरोधी थे—इससे निसर्गता विनष्ट हो जाती है।

(२) यह छन्द हमें पंत जी की श्रेष्ठ रचना 'मौन-निमंत्रण' के लिए बुलावा दे जाता है। इसमें तो कवि को अपने 'सुकुमार' लहरों में ही दीखते थे, उस कविता में

तो वे न जाने कहाँ-कहाँ होकर कवि तक आए हैं।

(३) रहस्यवाद का पुट आ जाने से आत्मा नायिका के रूप में है जो अपने प्रियतम, ब्रह्म, से मधुर से मधुर सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। प्रकृति के व्यापारों में उसे चैतन्य सत्ता की अनुभूति होती है जो आत्मा को अपनी ओर बुलाती है। आत्मा को भी अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होती है।

१३—मौन-निमंत्रण (नवम्बर '२३, पल्लव)

स्तब्ध ज्योत्स्ना..........................मौन।

शब्दार्थ—ज्योत्स्ना=चाँदनी। अनजान=भोले-भाले।

भावार्थ—'मौन-निमंत्रण' उत्कृष्टतम गीतों में से है। इसकी कल्पना अतीव सुंदर एवं कोमल है। रहस्यवाद का प्रथम सोपान कौतूहल है। साधक को प्रकृति जब अपने व्यापार नियमित रूप से करती दिखाई देती है तो उसमें उसके रहस्य जानने की सहज जिज्ञासा उठ खड़ी होती है। प्रस्तुत गीत में भी प्रकृति के विभिन्न व्यापारों से कोई शक्ति प्रेमिका को सतत बुलाया करती है—पर वह शक्ति है कौन? यह अब तक रहस्य बना हुआ है।

प्रियतमा कहती है कि जब रजनी आती है, चाँदनी छिटक जाती है, सारा संसार छोटे बालक के समान निद्रा में निमग्न हो जाता है तो उसे इतनी गहरी नींद आ जाती है कि तरह-तरह के स्वप्न दीखने लगते हैं। इतने पर भी आकाश के नक्षत्र नहीं सोते। प्रहरी के समान वे तो जागते ही रहते हैं। मेरी निगाह एकाएक उन नक्षत्रों पर पड़ जाती है। मुझे लगता है कि कोई उनमें बैठा हुआ मुझे अपने पास आने के लिए चुपचाप निमंत्रण देता है। पर वह कौन है? कैसा है? मुझे क्यों बुलाता है? इसे नहीं जानती।

विशेष—(१) छंद से ऐसा भान होता है जैसे दो प्रेमी हैं। दिन में तो वे कुछ कर नहीं सकते जब चंद्रिका युक्त रजनी आती है तब प्रेमी अपनी प्रियतमा को इशारों से ही बुलाता है, मौन-निमंत्रण देता है।

(२) लगता है प्रियतमा अभी बालिका ही है। यौवन का अंकुर अभी उसमें फूटा भी नहीं है। प्रेम की आग तो उसमें अवश्य लगी है, अन्यथा जब सारा संसार सो जाता है, तब जगती कैसे? पर अभी इतनी नादान है कि समझ ही नहीं पाती कि उसके 'उन' के अतिरिक्त और कौन इशारे करेगा? वह भी चकित हो जाती होगी।

सघन मेघों..........................मौन।

शब्दार्थ—सघन=घने, बहुत बड़े परिमाण में। भीमाकाश=भयंकर आकाश। तमसाकार=अंधकार से युक्त। दीर्घ=लम्बी, दुखपूर्ण। निःश्वास=

साँस। प्रखर = तेज़। तपक = चमक कर। तड़ित = बिजली। इंगित = इशारे, संकेत।

भावार्थ--जब चंद्रिका छिटकी होती है, बाला को कोई नक्षत्रों में से इशारे कर करके बुलाता है। इतना ही नहीं जब श्राकाश मेघाच्छन्न होता है तब भी उसका प्रियतम निष्क्रिय नहीं बैठा रहता।

जब घने बादल श्राकाश में बुरी तरह छा जाते हैं एवं गरज-गरज कर श्रंधकार फैलाते हैं, पवन वेग से बह निकलता है, साँय-साँय का शब्द हो निकलता है, जल बिना रुके बरस निकलता है तब थोड़ी देर के लिए बिजली चमकती है—मुझे उसी समय कोई इशारा करके बुलाता है।

विशेष—मेघों के घुमड़ने एवं बिजली के चमकने से वियोगियों के हृदयों में कसक हो उठती है। जब रात का समय हो श्रौर वर्षा भी हो निकले तब तो कहना ही क्या! बाला को बिजली चमकते समय ही लगता है—शायद यह उसी के लिए संकेत हो!

देख वसुधा······················भेजता मौन।

शब्दार्थ--वसु = रत्नादि धारण करने वाली, पृथ्वी। मधुमास = वसंत। विधुर = वियोगी, दुःखी। सोच्छ्वास = उच्छ्वास सहित। सौरभ = सुगंधि। मिस = बहाने।

भावार्थ--युवती को ज्योत्स्ना से भी इशारा मिलता है श्रौर तड़ित से भी। धरती के व्यापार भी उसे किसी न किसी के इशारे लगते हैं।

सुन्दरी कहती है कि धरती को यौवन-भार से नत देखकर बसंत उससे मिलने के लिए उतर श्राता है। इस मिलन से वसुधा श्रतीव प्रसन्न होती है। जिस प्रकार वियोगी हृदय के उद्गार बाहर फूट पड़ते हैं, इसी प्रकार मधुमास में फूल खिल जाते हैं। उस समय के कुसुमों की सुगंधि मुझे भी श्राकर्षित करती है। मैं न चाहते हुए भी उधर उन्मुख हो जाती हूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि इस सुगंधि के व्याज से मेरा प्रियतम चुपचाप मेरे लिए संदेश भेजता है।

विशेष—(१) 'वसन्त' एवं 'वसुधा' का मानवीकरण है, 'विधुर उर के-से' में उपमा एवं 'मिस' श्रा जाने से श्रपह्नुति श्रलंकार है।

(२) मधुमास में जब सर्वत्र यौवन छा जाता है, भ्रमरों का गुंजन श्रहर्निश चलता है, तब वियोगियों की दशा श्रत्यंत शोचनीय हो जाती है।

(३) वसन्त ऋतु में धरती फूलों से ढँक जाती है, कवि ने इस श्रवस्था को उसका 'यौवन' माना है।

क्षुब्ध, जल-शिखरों··············बुलाता मौन।

शब्दार्थ—क्षुब्ध = लहरों युक्त। जल-शिखरों = जल की चोटियों, श्रत्युच्च तरंगों। वात = हवा। विथुरा देती = बिखेर देती। कर = हाथ, हाथों के श्राकार

की लहरें।

भावार्थ--नायिका को लगता है कि लहरों में से कोई निमंत्रण दे रहा है।

जब झंझायुक्त समीर समुद्र को विक्षुब्ध करके ऊँची-ऊँची लहरों से युक्त कर देता है, उन तरंगों को आलोड़ित-विलोड़ित करके झाग भर देता है, अनन्त अगणित बुलबुलों का निर्माण करके उन्हें अचानक ही विनष्ट कर देता है तब मुझे न जाने कौन लहरों में से अपना नन्हा हाथ उठाकर बुलावा देता है।

विशेष--'सिंधु' और 'वात' का मानवीकरण है। लगता है समुद्र प्रेमी है एवं समीर प्रेमिका। प्रेमिका आकर प्रेमी को गुदगुदाती है, उसमें प्रेम-तरंगें उठ बैठती हैं, आलोड़न-विलोड़न हो जाता है। झाग एवं बुलबुलों के रूप में प्रेमी का हृदय उफन उठता है। जब जोश ठण्डा हो जाता है तो प्रेमी अपनी प्रेमिका को छोटी-लहरों के बहाने बुला निकलता है।

स्वर्ण-सुख........................मेरे मौन।

शब्दार्थ--स्वर्ण-सुख=धन का आनंद अथवा धन एवं अन्य आनन्द। श्री=शोभा। सौरभ=सुगंध। भोर=प्रभात। बोर=सराबोर करना, पूर्णतया डुबो देना। कल कण्ठ हिलोर=सुदर गले का सुघड़ संगीत। अलस=आलस्ययुक्त, अलसाए हुए।

भावार्थ--युवती को ऐसा लगता है कि उसका प्रियतम उसे हजार बहानों से बुलाया करता है।

प्रभात आती है। समूचा जगत सुनहरी कांति, आनन्द, सुख, सौंदर्य से भर जाता है। चारों ओर सुगंधि दौड़ निकलती है। चिड़ियों की 'टी-वी-टी-टुट्-टुट्' बड़ी मधुर लगती है। वह चारों ओर सुनाई पड़ती है, लगता है वह आकाश और धरती का मिलन करा रही है। ऐसे शराबी क्षणों में मेरे तंद्रिल पलकों को, चुपके से आकर, न जाने कौन खोल जाता है।

विशेष--(१) इन पंक्तियों में प्रभात का चित्रण है। सूर्य की लालिमा से प्रत्येक वस्तु स्वर्ण के रंग की दिखाई पड़ती है। स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ, सर्वत्र छा ही जाता है।

(२) प्रातःकाल सर्वत्र आनंद ही आनंद छा जाता है। दुःखी व्यक्ति भी कम-से-कम प्रातःकाल तो प्रसन्न हो ही जाता है। अर्थात् स्वर्ग (नभ) और धरती (भू) में, प्रातःकाल के समय, कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसे ही पंत जी ने 'भू नभ का छोर, मिलाना कहा है। उनकी कल्पना के विषय में भी यही पंक्ति उद्धृत कर दी जाती है।

(३) इससे एक ध्वनि यह भी निकलती है कि चिड़ियों का सुन्दर गान आकाश और धरती का संयोग करा देता है। नायिका सोती रहती है। उसका अज्ञात प्रेमी तड़प उठता है और उसे चुपके से जगा कर कहता है--सारी रात यूँ ही बिता दी,

कम से कम अब तो मिल लो !.

तुमुल तम...........................मौन ।

शब्दार्थ—तुमुल तम=सघन तम, सूचीभेद्य अन्धकार। एकाकार=एक कर देने की क्रिया, एक सी आकृति वाला। भीरु=भयभीत, डरपोक। तन्द्रा= आलस्य। खद्योत=जुगनू।

भावार्थ—प्रभात के समय ओस के रजत कणों में भी प्रियतमा के लिए आमंत्रण है।

रजनी में कभी-कभी अंधकार अत्यन्त ही प्रगाढ़ हो जाता है। समस्त संसार ही अंधकारमय हो जाता है। प्रत्येक वस्तु ऊँघ निकलती है। उस मौन वातावरण को, जगत् के उस स्वप्न को, झींगुर की झनकार भंग कर देती है। झींगुरों की दबी आवाज़ सुनकर सहज अनुमान होता है कि वे किसी के भय से आक्रांत हैं। उस समय जुगनू जगमगाते रहते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रियतम से मिलने जाने के लिए मुझे कोई राह दिखाता है।

विशेष—(१) झींगुरों का स्वर प्रथम तो तब सुनाई पड़ता है जब सारा संसार नींद में डूब जाता है, दूसरे, उस समय भी, उनका स्वर दबा-दबा सा होता है। कवि को लगता है कि उन्हें निश्चय ही किसी का भय है जिससे उनका बोलना तक बंद है।

(२) इन पंक्तियों में ऐसी नायिका का वर्णन है जो रात्रि के समय अपने प्रियतम से मिलने जा रही है। समस्त संसार सो रहा है, शांति छाई हुई है, कभी-कभी जुगनुओं की टिमटिमाहट भर गोचर हो जाती है।

कनक-छाया...........................दृग मौन ।

शब्दार्थ—कनक छाया=प्रभात जो कनक, स्वर्ण के समान काँतिवाला होता है। सकाल=समयोचित, ठीक समय पर, तड़के। सुरभि-पीड़ित=सुगंध से मस्त। मधुपों के बाल=नन्हें-नन्हें भौंरे।

भावार्थ—युवती को लगता है उसे नक्षत्र, झंझा, लहर आदि से कोई मौन निमंत्रण देता है। ओस में भी उसे अपने प्रियतम के इशारे दिखाई पड़ते हैं।

प्रातःकाल होते ही कलिकाएँ अपने हृदय के झरोखे खोल देती हैं, नन्हें-नन्हें भौंरे सुगंधि में मस्त होकर कलिका का रस-पान करने के लिए तड़प उठते हैं, और अपनी इस तड़प को अपनी गुंजार के रूप में व्यक्त कर देते हैं। भौरों के इस प्रेम को निहार कर कलिका भी ओस के रूप में अपने स्नेह के आँसू ढुलका देती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि उस ओस के रूप में कोई अनजाना भी ढुलक पड़ता है और मेरा ध्यान बँटाकर मुझे अपनी ओर आकर्षित करता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत छन्द का शब्द-चयन अतीव ही कोमल एवं मोहक है। 'तड़प' 'गुंजार' एवं 'ढुलक' शब्दों का अर्थ उनमें स्वयं छुपा है।

(२) लगता है कलिका कोई ऐसी युवती है, जिस पर अभी-अभी यौवन आया है। नए-नए भौंरों का अपने प्रति प्रेम देखकर वह भी द्रवित हुए बिना नहीं रह सकती। अपने प्रेम की साक्षी के लिए वह अपने हृदय को चीर कर अपने प्रेमियों को दिखा देती है।

बिछा कार्यों का······················मौन।

शब्दार्थ—गुरुतर भार=भारी बोझ। अवसान=अंत। सुवर्ण अवसान=दिन का सोने के समान, अंत, संध्या। श्रमित=थके हुए। जुड़ाती=शीतल करती। छाया जग=छायाओं का संसार, स्वप्न-लोक।

भावार्थ—प्रियतमा को किसी अज्ञात की छवि प्रकृति के लगभग प्रत्येक व्यापार में गोचर होती है। रात को भी वह चैन से नहीं सो पाती।

दिन भर मैं कठिन प्रयास करती हूँ और जब दिन का पर्यवसान सुनहली संध्या में हो जाता है तब मैं थकी हुई शांत मुद्रा में शय्या पर सो जाती हूँ। पर न जाने वह कौन है जो मुझे निद्रा में भी चैन नहीं लेने देता। उस समय भी कोई स्वप्नों के छाया-जगत् में मुझे घुमाता रहता है।

विशेष—स्वप्नों का संसार तत्त्वविहीन होता है। विशाल से विशाल वस्तुओं का भी आँख खुलने पर अस्तित्व नहीं रहता। पंत जी इसीलिए उसे 'छाया-जग' कहते हैं। उस जगत में वास्तविकता कहाँ? वह तो छाया के समान अवास्तविक होता है।

न जाने कौन·················तुम हो कौन।

शब्दार्थ—छबिमान=सौंदर्यशाली। अबोध=सीधी-सच्ची, सरल, छल-विहीन। छिद्रों में=रोम-रोम में। सहचर=साथी, कॉमरेड।

भावार्थ—प्रियतमा को उसका अज्ञात प्रियतम प्रकृति के विविध व्यापारों से संकेत दे-देकर बुलाता है। वह बहुत सोचती है कि आखिर वह है कौन? पर उसे बताने वाला कोई नहीं।

मैं यह तो नहीं जानती कि तुम कौन हो पर इतना निश्चित है कि तुम अत्यंत सुन्दर हो। तुमने मुझे बिल्कुल भोली, अबोध एवं अज्ञान समझ लिया है अतः अब तक मुझे ऐसी राह दिखाते आ रहे हो जिससे मैं अब तक अपरिचित हूँ। तुम मेरे रोम-रोम को गीतमय कर देते हो, मुझ में नव-जीवन का संचार हो जाता है। चाहे मैं सुख में होऊँ, चाहे दुःख में, तुम मेरा साथ नहीं छोड़ते। पर तनिक यह तो बताओ कि तुम हो कौन?

विशेष—(१) ईश्वर शक्ति, शील, सौंदर्य का आगार है, अतः पंत जी उसे 'छविमान' विशेषण देते हैं। कुरान के अनुसार भी अल्लाह असीम सौंदर्यशाली है।

(२) समूचा गीत अत्यन्त ही मधुर एवं सुन्दर है। 'जिज्ञासा वृत्ति' रहस्यवाद का प्रथम सोपान है। प्रकृति के पीछे कोई चिरंतन शक्ति है जो प्राणियों में चेतनता

१६—नित्य जग (अप्रल १९२४, पल्लव)

पिछली दो रचनाओं में कवि ने जगत की नश्वरता पर अश्रु ढुलकाए हैं। प्राणियों के करुण दृश्य एवं परिवर्तन की उनके प्रति उदासीनता कवि को खिन्न कर देती हैं। उसे संसार में कहीं भी सुख-शांति नहीं दिखाई पड़ती। संसार उसके लिए सृजन, सिंचन, संहार मात्र रह गया। पर अनवरत चिंतन के अनंतर उसे अनित्यता के पीछे नित्यता के दर्शन होते हैं, अस्थिरता में स्थिरता का भान होता है, नश्वरता अनश्वरता में पर्यवसित दिखाई देती है।

नित्य का.......................अज्ञात।

शब्दार्थ—नर्तन=प्रदर्शन, खेल। विवर्तन=किसी वस्तु का अन्य आकार में परिवर्तित हो जाना। व्यावर्तन=परिवर्तन, परिवर्तित वस्तु का पुनः पूर्व रूप धारण कर लेना। चिर=शाश्वत, नित्य। अन्वेषण=खोज। तत्वपूर्ण=तत्व से भरा हुआ, सारभूत। सैकत=रेत। अतिवात=तेज़ हवा।

भावार्थ—कवि नश्वर जगत एवं अनश्वर सत्ता में संबंध जोड़ते हुए कहता है—

नित्य वस्तु का यह अनित्य प्रदर्शन लगा ही रहता है। संसार का परिवर्तन होता रहता है और वह परिवर्तन पुनः हो जाता है, अतः वस्तु प्रारंभिक स्वरूप ही धारण कर लेती है। इस प्रकार सिवाय स्वरूप के वस्तु का कुछ भी तो नहीं बदलता। अतः संसार का तत्वपूर्ण दर्शन यही है कि हम नश्वर वस्तुओं के पीछे छिपे अनश्वर तत्त्व की खोज करें।

जिस प्रकार समुद्र के गर्भ से बुलबुले उठा करते हैं एवं थोड़ी देर पश्चात् वे पुनः जल में परिवर्तित हो जाते हैं उसी प्रकार उस अज्ञात सत्ता से सृष्टि का आविर्भाव होता है। पर युगों के पश्चात् सृष्टि, बुलबुलों की ही भाँति, अपने उसी मूल-तत्त्व में विलीन हो जाती है। और देखिए आँधी के आने से स्थान-स्थान पर रेत के टीले बन जाते हैं पर दूसरी बार आकर, वही आँधी, उन टीलों को पुनः रेत में ही परिवर्तित कर जाती है। संसार का निर्माण भी इसी भाँति, कुशल खिलाड़ी द्वारा हुआ है। जब वह चाहता है जगत के इस स्तूप को विनष्ट कर देता है।

विशेष—(१) कवि ने जो विवर्तन की बात कही है वह श्रीमद्भगवद्गीता में प्राप्य है। भगवान श्री कृष्ण के अनुसार समस्त लोक पुनरावर्ती हैं—

आब्रह्मा भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तितोऽर्जुन।

उसी अज्ञात सत्ता द्वारा जग की वस्तुओं का निर्माण होता रहता है, उसी के द्वारा उनके स्वरूप में परिवर्तन आता रहता है।

(२) दूसरे छंद में सांग रूपक है।

(३) 'विकार' एवं 'विवर्तन' में अंतर है। दूध जब दही में परिवर्तित हो जाता है तब वह विकार कहलाता है पर जब रस्सी साँप में बदल जाती है तब वह विवर्त कहलाती है, विकार नहीं, क्योंकि रस्सी साँप में वास्तव में नहीं बदली, केवल भान

हुआ। संसार भी, इसी प्रकार, चिर का विवर्त है। पंत जी यही कहना चाहते हैं। अब क्योंकि ब्रह्म अनित्य, शाश्वत, चिर है; अतः इस 'अचिर' में उसी 'चिर' का अन्वेषन तत्वपूर्ण दर्शन है।

एक छवि के........................संहार।

शब्दार्थ--असंख्य=अनगिनत। उडगन=तारों का समूह। स्पंदन=कंपन। विभात=प्रभात। लोल=चंचल। उभय=दोनों। त्रिगुण=तीन गुण--सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण।

भावार्थ--कवि को अब संसार की प्रत्येक वस्तु के पीछे उसी सत्ता का भान होता है। तारों को देखो--वे कितनी बड़ी संख्या में हैं। सब अलग-अलग हैं पर गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि सब में एक सी ही कांति है, एक-सा ही स्पंदन है, सब एक ही प्रभात के प्रकाश में विलीन हो जाते हैं तथा एक ही नियंता के अधीन हैं; फलतः सबके सब एक से ही नियमों में आबद्ध हैं।

सुख और दुःख निहारिए। सभी प्रकार से वे दोनों भिन्न लगते हैं पर वे दोनों उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार किसी लहर के दो किनारे अथवा दिन और रात। यह तीन गुणों से युक्त संसार सुख-दुःख से भरा हुआ है। इसमें निरा दुःख ही दुःख मानना भूल है। संसार का निर्माण और विनाश चलता ही रहता है। जो वस्तु अस्तित्व में आती है उसका विनाश अवश्यम्भावी है। उससे हमें निराश नहीं होना चाहिए।

विशेष--(१) कवि के पास कोई नवीन दर्शन देने के लिए नहीं है। यह पंक्तियाँ उपनिषद्, गीता की पंक्तियों की झूठन-सी लगती है।

(२) प्रकृति के सत्व, रज एवं तम तीन गुण माने गए हैं। जब इनका सम्मिलन होता है तभी संसार उत्पन्न होता है।

(३) निशि दुःख एवं भोर सुख का प्रतीक है अतः 'सुख-दुःख', 'भोर-निशि' होना चाहिए था, पर इससे तुक कहाँ मिलती ? अतः इसमे क्रमभंग दोष आ गया है, कवि ने शायद क्रमालंकार की सोची होगी--'बलि चाह्यो आकाश को' वाली बात स्मरण हो आती है।

(४) नैयायिकों के अनुसार जो वस्तु उत्पन्न होती है वह ध्वंस को अवश्य प्राप्त होगी--यद्-यद् जन्यं तद्-तद् ध्वंसि। इस सिद्धांत के अनुसार यदि दुःख आ गया तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह कभी जायगा ही नहीं, जैसा कि कवि 'अनित्य जग' एवं निष्ठुर 'परिवर्तन' में कह गया था। अब उसकी विचारधारा में दृशीक मोड़ आ गई है।

मूँदती नयन..................आदान प्रदान।

शब्दार्थ--सर्व प्रलयकर=सब कुछ विनष्ट कर देने वाली। वात=समीर।

म्लान = मुरझाए हुए। अम्लान = बिना मुरझाई, ताज़ा। आदान-प्रदान = लेना-देना।

भावार्थ—पहले कवि को संहार ही संहार दिखाई पड़ता था, अब उसे सृजन और संहार दोनों साथ-साथ नृत्य करते गोचर होते हैं—

जो वस्तु नष्ट हुई है उसका, अन्य आकार में, जन्म अवश्यंभावी है। एक ओर यदि मृत्यु की रात आती है तो दूसरी ओर जीवन का प्रभात भी आता है, यह नहीं कि निरी मृत्यु ही मृत्यु हो, एक मात्र विनाश ही विनाश हो। शिशिर ऋतु की वायु को देखिए। कितनी विनष्टकारी होती है, वृक्षों के लघु से लघु वसन का वह हरण कर ले जाती है पर तनिक ध्यान से तो देखिए। वसंत की नूतन कोपलों के फूटने का कारण भी तो वही है। कुसुम देखिए, कैसे मुस्काते हैं, कितने प्रसन्न होते हैं। पर वे भी मुरझा जाते हैं। देखकर बड़ा दुःख होता है। पर नहीं, वे भी किसी वस्तु का सृजन करते हैं—और वह यह है कि फूल के मुरझाने के बाद ही फल लगता है। आत्म-बलिदान निस्सन्देह महान् वस्तु है, संहार वस्तुतः सुखद है। यदि मृत्यु न हो तो नवीन वस्तुओं का आविर्भाव असंभव है। प्राचीन जीवन दे देना और फिर नव जीवन ग्रहण कर लेना ही संसार का चिर नियम है, सनातन धर्म है।

विशेष—(१) पिछली बात को ही कवि ने इन पंक्तियों में दर्शाया है। आगे भी शायद वह यही कहे। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार भी मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को दूर फेंककर नवीन वस्त्र धारण कर लेता है। इसी भाँति आत्मा भी जीर्ण शरीर को त्याग कर नूतन शरीर में प्रवेश कर लेती है। अतः कवि को अब मृत्यु से दुःख नहीं होता, संहार से क्लेश नहीं होता, परिवर्तन में निठुराई ही नहीं दिखाई देती।

(२) 'अनित्य जग' में कवि ने लिखा :—

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।

अर्थात् जन्म की प्रसन्नता नहीं होनी चाहिए। अब लिखता है:—

मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात।

अर्थात् मृत्यु का दुःख नहीं होना चाहिए।

(३) 'मृत्यु', 'रात' एवं 'कुसुम' का मानवीकरण है। दो-तीन जगह अनुप्रास भी है।

एक ही तो .... झंकार।

शब्दार्थ—उल्लास = आनन्द। विविधाभास = अनेक प्रकार की द्युति, छाया, सादृश्य, प्रतीति। हरित = हरे रंग की। विलास = शोभा। लास = कोमल नृत्य। मर्म = रहस्य।

भावार्थ—कवि का प्रथम कहा गया कथन जारी है कि सबके पीछे, सबका कारण एक ही चैतन्य, चिर एवं अज्ञात सत्ता है।

चिरंतन सत्ता एक ही है जो संसार की विभिन्न वस्तुओं में विभिन्न प्रकार से प्रतिभासित होती है। तरल समुद्र का हरा रंग वही है, शान्त आकाश की मधुर नीलिमा उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। प्राणियों के हृदयों में वही चिरंतन आनंद प्रेम का उच्छ्वास बन जाता है। काव्य में आकर वह नवरस का रूप धारण कर लेता है, फूलों में सुगंधि, नक्षत्रों में ज्योतिमयी हँसी एवं चंचल लहरों का कोमल नृत्य उसी के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार एक ही रहस्यमय अज्ञात सत्ता विभिन्न वस्तुओं में अपने विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।

विशेष—(१) पिछले छन्दों की भाँति प्रस्तुत छंद में भी प्रतिबिंबवाद है।

(२) विचार कुछ भी नवीन नहीं है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीतानुसार भी भगवान कहते हैं कि विभूतिवान्, बलवान् एवं सुंदर पदार्थों में मैं ही प्रकट होता हूँ।

वही प्रज्ञा .... बेड़ी का भार।

शब्दार्थ—प्रज्ञा = ज्ञान, बुद्धि। प्रणय = प्रेम। लावण्य = सौन्दर्य। शिव = भलाई। स्वीय = अपने ही। गुण = निपुणता, विशेषता एवं रस्सी।

भावार्थ—ब्रह्म का अस्तित्व सब में है। ज्ञान का सत्य स्वरूप संसार में विद्यमान है। ज्ञान का वही तत्त्व हृदय में पहुँचकर प्रेम बन जाता है, नेत्रों में सौंदर्य का रूप ग्रहण कर लेता है, परोपकार में कल्याण की भावना कहलाने लगता है। इनमें अन्तर देखना अवास्तविकता है। इतना ही नहीं संगीत में लहराने वाले प्रेम के उद्‌गार उसी सत्य के रूप हैं। दिव्य सौंदर्य, साक्षात् प्रेम एवं भावनामय जगत उसके अतिरिक्त और है ही क्या ?

जगत की यह एकरूपता फिर विविध रुपता क्यों लगती है ? कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही एक ही गुण को विभिन्न स्वरूपों में परिणत होते हुए देखता है। धागा एक ही है पर किसी के लिए वह आनंद की राखी बन जाता है, किसी के लिए दुखद हथकड़ी। इसी प्रकार एक ही सत्य मानव के कर्मो के अनुसार सत्व, तम, रज में परिणत हो सुखद अथवा दुखद बन जाता है।

विशेष—(१) प्रथम चार पंक्तियाँ साहित्य में पग-पग पर उद्धरित होती हैं। सत्यं, शिवं एवं सुंदरम् का सामंजस्य कवि ने बड़े अनूठे ढंग से किया है।

(२) अपने कर्मों का भोग अवश्य करना पड़ता है—यह भारत का चिर विश्वास है—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। मनुष्य के अपने कर्म ही उसके सुख-दुख के निर्माता हैं। कोई अन्य सत्ता (ऐजंसी) उसे शोक, आनंद नहीं प्रदान करती। अच्छी-बुरी योनि भी कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होती है।

(३) 'गुण' में श्लेष है—विशेषता और रस्सी। अंतिम दो पंक्तियाँ बड़ी मोहक बन पड़ी हैं। पंक्तियों की लम्बाई घटा-बढ़ा देने से एकरूपता (मोनोटनी)

का दोष नहीं आ पाया है।

कामनाओं के..................स्वर्ण हुलास।

शब्दार्थ—छेड़=छेड़कर, प्रेरित करके। जगती के=जगत के प्राणियों के। पुलिन=तट। स्वर्ण-हुलास=स्वर्ण की कांति, सुनहलापन।

भावार्थ—अब कवि को क्लेश; कष्ट, संहार बुरे नहीं लगते।

मनुष्य भाँति-भाँति की कामनाएँ किया करता हैं। जब वह असफलता प्राप्त करता है तो वह और भी वेग से कार्य करता है। उसकी स्फूर्ति में अभिवृद्धि हो जाती है। यदि असफलता न मिलती तो उसका जीवन निश्चय ही निष्क्रिय बन जाता। ज्ञान रूपी अमृत की धारा के सुख और दुःख दो किनारे हैं। केवल सुख ही सुख चाहना अनुचित है, दुःख-मात्र की कामना करना जीवन की विडम्बना है। सुख और दुःख दोनों का अनुभव मानव-ज्ञान वृद्धि करता है। ओठों की हँसी एवं नयनों के जल में कोई अन्तर नहीं। एक ही वस्तु के दो रूप हैं। आँसू भी, कष्ट भी मंगलमय हैं। इतना ही नहीं सच तो यह है कि दुःख की अग्नि में ही पड़कर मनुष्य में सोने-सा निखार आता है, अधिक पिसाई होने पर ही मेंहदी के असली रंग का पता लगता है, ठोकरें ही आदमी का मूल्य लिख जाती हैं।

विशेष—(१) इन पंक्तियों में कवि कष्ट, संघर्ष, दुर्भाग्य, असफलता आदि की वकालत करता है। पहले वह परिवर्तन का सबल विरोधी था, अब उसका उतना ही हिमायती है। अब तो उसे आँसू भी वरदान लगते हैं।

(२) खरे और खराब सोने को जानने के लिए उसे अग्नि में दे दिया जाता है। यदि वह वास्तव में शुद्ध होता है तब तो उसका रंग और भी चमक उठता है अन्यथा उस पर कालिमा आ जाती है। मनुष्य भी स्वर्ण है। जब तक उस पर कठिनाइयाँ नहीं पड़तीं उसकी परख नहीं हो सकती। मुश्किलें ही उसके खरेपन की कसौटी हैं। इतना ही क्यों दुःख के आगमन पर वह अपने कार्यों में और भी वेग से लग जाता है। सुख के दिनों में तो वह निष्क्रिय पड़ा रहता है। अंतिम दो पंक्तियों में यही कहा गया है।

तरसते हैं.........................मोल।

शब्दार्थ—आठों याम=हर समय। प्रकाम=जिसकी इच्छा की जाय। अभिराम=सुंदर। अलभ=अप्राप्य। इष्ट=इच्छित वस्तु।

भावार्थ—यदि कोई वस्तु बिना परिश्रम के ही प्राप्त हो जाय तो उसका अधिक महत्त्व नहीं रहता। जो वस्तु जितनी कठिनता से मिलती है उसी अनुपात से उसका मूल्य आँका जाता है।

सुख हमें इसलिए अच्छा लगता है कि हम उसी के लिए प्रत्येक क्षण लहकते रहते हैं। यदि सुख की प्राप्ति हमें बिना तरसे बिना प्रतीक्षा किए हो जाती तो हमें उसका महत्त्व ही कुछ न लगता। यहि हाल सफलता का है। यदि वह भी मारी-

मारी डोलती तो बेचारी को कोई नहीं पूछता। सतत संघर्ष के अनन्तर वह प्राप्त होती है इसीलिए वह हमें इतनी सुंदर लगती है। सारांश यह है कि सुख और सफलता स्वयं सुन्दर नहीं हैं, उनकी प्राप्ति की अनेक कथाएँ ही उन्हें ऐसा बना देती हैं। जिस वस्तु की हमें चाह होती है वह दुर्लभ होती है, अतः जीवन की सार्थकता साधना में ही है, प्राप्ति में नहीं। कार्य करते जाओ, फल की चिन्ता मत करो।

विशेष--(१) अँग्रेजी के प्रख्यात निबंधकार श्री स्टीवेंसन ने अपने एक निबंध में लिखा है कि चलते रहने में जो आनंद है वह मंजिल पर अपने ऐल डोरेडो पर, पहुँचने में नहीं। पंत जी का भी कुछ-कुछ ऐसा ही आशय है।

(२) यह दैनिक सत्य है कि जिस वस्तु की प्राप्ति में जितनी अधिक कठिनाइयां होंगी, उसका उतना ही अधिक महत्त्व होगा; क्योंकि सुख प्राप्त करना सहज-सरल नहीं, इसीलिए वह इतना कमनीय है।

बिना दुख..............................प्यार।

शब्दार्थ--निस्सार=सारहीन, व्यर्थ।

भावार्थ--दुख को लाने वाले परिवर्तन को पानी पी-पीकर कोसने वाला कवि अब उसे जीवन में अनिवार्य समझता है।

सुख में आनंद तभी आता है जब पहले दुख भोग लिया हो। जिसने दुख के दर्शन नहीं किए उसके लिए सुख सारहीन है। यदि जीवन में दुख के आँसू न होते तो जीवन भार बन जाता, समस्त माधुर्य विनष्ट हो जाता, जीवन की एकरस परिस्थिति उसकी कमर ही तोड़ देती। दया, प्यार, क्षमा आदि गुणों को ही देखो। इनका इतना सम्मान क्यों है? संसार क्यों इनकी आवश्यकता समझता है? केवल इसीलिए कि संसार दीन है, बलहीन है, दया का पात्र है। यदि संसार के सभी प्राणी सबल एवं समर्थ होते तो इन गुणों को कोई कौड़ी के मूल्य भी नहीं पूछता।

विशेष—प्रस्तुत रचना कवि की विचारधारा में निस्सन्देह एक बड़ा मोड़ लाती है। दुख को दूर से ही सलाम झुकाने वाला कवि अब उसकी अनिवार्यता कहता है। रस विचारधारा का चरमशिखर 'गुजन' में है जिसमें सुख और दुख दोनों के मधुर-मिलन से कवि जीवन की परिपूर्णता कहता है।

आज का दुख......................का ह्रास।

शब्दार्थ--आह्लाद=प्रसन्नता। विषाद=दुःख। स्वप्न-गूढ़=स्वप्न की भाँति समझ में न आने वाला। ह्रास=अवनति।

भावार्थ--पंत जी का विश्वास है कि दुख एक न एक दिन सुख में अवश्य परिवर्तित हो जावेगा।

आज हम कितना ही दुख भोग रहे हों, यह सुनिश्चित है कि वही दुख भविष्य के सुख का मूल कारण है। इसी भाँति अतीत का दुख आज सुख में बदल जाता है। अतः सुख में हर्ष और दुख में विषाद करने से लाभ ही क्या? संसार तो स्वप्न की

भाँति ही कठिनता से समझ में आता है जिसकी पूर्ति इस जगत में तो कभी नहीं हो सकती, वह तो उस पार ही संभव है। सांसारिक जीवन का अर्थ है विकास करना। इस क्रम का ह्रास हुआ कि बस मृत्यु आ धमकी। जीवन और मरण का यह क्रम तो चलता ही रहता है।

विशेष--'उस पार' शब्द से आचार्य शुक्ल बड़ा चौंकते थे। वे छायावादी छोकरों द्वारा जहाँ इसका प्रयोग देखते, वहीं अपना दुधारा उठा लेते। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की भी यही दशा थी।

हमारे काम..........................स्वरूप।

शब्दार्थ--अपरूप = कुरूप, भद्दा, अपूर्व, अवरूप, पतित।

भावार्थ--कवि का विश्वास है कि कुछ खोकर ही पाया जा सकता है। जिन कर्मों को हम अपना बताकर गर्व करते हैं यह सरासर झूठ है। हम तो उन कर्मों के निमित्त मात्र हैं, उनका कर्त्ता तो कोई और ही है। सच्ची बात तो यह है कि जिस रूप में हम अपने को जानते हैं इस रूप में हम 'हम' नहीं। हमारा चिरंतन रूप तो कुछ और ही है जिसकी इस संसार में हम छायामात्र हैं। पर क्या छाया में वास्तविकता होती है? इसके दो उत्तर तो नहीं हो सकते। पर प्रश्नउठता है—क्या हम अपने शुद्ध रूप को नहीं जान सकते? कवि कहता है जानने की कौन कहे, हम तो उसे प्राप्त कर सकते हैं। पर कब? अपने को मिटाकर, अपने 'अहं' में आग लगाकर।

विशेष--(१) प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने उपनिषद् के वाक्यों को वाणी देने का प्रयास किया है। नदियाँ समुद्र में मिलकर समुद्र बन जाती हैं, इसी प्रकार प्राणी ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्ममय बन जाता है। तुलसी के अनुसार भी—'जानत तुमहिं तुमहिं हुइ जाई।' कबीर के अनुसार भी जब कुंभ फूट जाता है तो जल जल में समा जाता है, प्राणी ब्रह्म बन जाता है।

(२) मनुष्य जब अपने कामों को अपने काम नहीं समझता, 'अहं' को पूर्णतया मिटा देता तभी उसे सच्चिदानन्द के दर्शन होते है। मनुष्य का 'अहं' उसे अपना सच्चा, विशुद्ध रूप नहीं जानने देता। मानव को प्रत्येक काम ईश्वर का काम समझ कर करना चाहिए। यदि उसमें कर्त्तापन का गर्व आ गया तो ब्रह्म से एकाकारिता असंभव है।

(३) 'परिवर्तन' रचना क्या भाव क्या शैली—प्रत्येक दृष्टि से पंत-काव्य में शीर्ष स्थान घेरे हैं। कविवर निराला ने इसीलिए तो कहा था कि "**यह किसी भी बड़े कवि की कविता से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।**"

१७—मछुए का गीत

यह गीत सांगरूपक है। इसमें दो चित्र हैं—एक मछुए और मछली का, दूसरा नायक एवं मुग्धा नायिका का। अंतिम पंक्ति "**लिए डोर वह अग, जग की**

कर, हरता तन, मन, प्राण" आ जाने से रहस्यवाद सरक आया है। अतः मछली जीवात्मा एवं मछुआ ब्रह्म का प्रतीक बन गए हैं।

प्रेम की बंसी.................. रूप का मान।

शब्दार्थ—प्राण = मछली, जीवात्मा। जीवन = जल, जिन्दगी। प्रखर = तीव्र। गेह = घर। फेनिल = झागयुक्त।

भावार्थ—मछुआ कहता है कि ओ मछली! अभी तुम्हें प्रेम की वंशी नहीं लगी, तूने अभी ईश्वरीय प्रेम को नहीं जाना। तू इस जीवन के भीतर छिपी रहती है। अपने ही सौंदर्य पर मोहित रहने वाली तू कौन है? माना कि तू अत्यंत चंचल है, सहज ही नहीं बींधी जा सकेगी पर प्रेम का बाण भी ऐसा-वैसा नहीं है, वह अत्यंत तीखा है। अब तो तू बड़ी हो गई है, क्या यह तुझे शोभा देता है कि अब भी माता-पिता के घर में बास करें? इस झागयुक्त लहरों के घर को अब तो छोड़ दे। तू कभी डुबकी लगाती है, कभी ऊपर आ जाती है, यह अभिमान व्यर्थ है। (ओ जीवात्मा!) अपने यथार्थ का भी तो स्मरण कर। संसार में इतनी आसक्ति दिखाना, अपने क्षणिक रूप पर इतराना, व्यर्थ है।

विशेष—(१) इस रचना के तीन अर्थ चलते हैं—मछली के प्रति, जीवात्मा के प्रति एवं किसी नवयौवना के प्रति। मछली और युवती का अर्थ तो बिल्कुल ही स्पष्ट है, जीवात्मा का सांकेतिक है। कविता की अंतिम पंक्ति ने ही यह समस्या उत्पन्न कर दी है अन्यथा आत्मा-परमात्मा का तो कोई पचड़ा ही नहीं था।

(२) प्रथम छंद के 'जीवन' में श्लेष है। जीव के पक्ष में इसका अर्थ जिन्दगी है एवं मछली के पक्ष में जल। जीवात्मा शरीर के पर्दे के भीतर रहती है, मछली पानी के अन्दर।

(३) प्रेमिका अन्दर छिपी है पर प्रेमी को उसके बिना चैन कहाँ? मछली पानी में दुबकी है पर मछुआ तो उसे किसी भी प्रकार पकड़ेगा ही। जीवात्मा सांसारिक प्रपंचों में निमग्न है, ईश्वर अपनी ओर से ही उसे आकर्षित करता है, उसके हृदय में आवाज़ लगाता है पर वह तो माया के जल में डूबी रहती है, दुख-सुख में डूबती उतराती रहती है।

आए नव घन..................... तन मन प्राण।

भावार्थ—मछुए ने मछली को संबोधित करते हुए कहा कि उसे अब फेनिल लहरों के मोह में नहीं पड़ना चाहिए, अपनी ओर से ही बाहर आ जाना चाहिए। उससे फिर यही कहता है कि यदि वह स्वयं अपने गेह से नाता नहीं तोड़ेगी तो बलपूर्वक उससे गेह छुड़वा लिया जायगा।

मछुए का कथन जारी है—ओ मछली! नाना प्रकार के वेश धारण करके मेघ आ गए हैं, पावस न जाने कितने कीड़े-मकोड़ों, जानवरों के रूप में गुंजार कर रहा है, ऐसी ऋतु में तू सदैव पानी में नहीं छिपी रह सकती। तू कितना ही

वरुण आदि सब घूम रहे हैं,
किसके शासन में अम्लान ?"

इत्यादि-इत्यादि।

(२) कवि का संदेश है कि प्रत्येक को कभी-न-कभी प्रेम के जाल में फँसना पड़ता है। उसे खबर भी नहीं हो पाती है और वह बाण-बिद्ध हो जाता है। उस समय उसे अपनी तनिक भी खबर नहीं रहती है। प्रेम का रंग, साहित्य में, लाल माना गया है, अतः कवि उसके जाल को 'स्वर्ण जाल' कहता है।

(३) समूचा गीत कोमल, सरल, सरस एवं संगीतमय है। रूपक का निर्वाह कवि कौशल का परिचायक हैं।

१८—प्रार्थना (जून १९३०, गुंजन)

जग के..............................सुख यौवन।

शब्दार्थ—उर्वर=उपजाऊ। ज्योतिर्मय=तेजोमय। चिर=सदा। अव्यय=कभी खर्च न होने वाले, न घटने वाले, सदा एक से रहने वाले। प्रणय=प्रेम। स्मित=मुसकान।

भावार्थ—ईश्वर की प्रार्थना बादलों के रूप में कवि करता है—

हे भगवान्! संसार के उर्वर आँगन में जीवन की वर्षा करो। तुम तो चिर अव्यय हो, तुम्हें अपने कोष के रिक्त होने का भय क्या ? अतः संसार की प्रत्येक वस्तु—छोटे-से-छोटे तिनके से बड़े-से-बड़े वृक्ष तक—पर कृपा करो। फलों में तुम मधु बनकर बरसो, हृदय में अमर प्रेम बन जाओ, प्रत्येक के ओंठ पर मुस्कराहट बिखेर दो, प्रत्येक अंग में चिर यौवन भर दो। किसी का भी हृदय स्नेह-सरिता के बिना सूखा न रहे, कोई भी दुखी न रहे; संसार का प्रत्येक प्राणी सुख और प्रसन्नता से सदैव मुस्कराता रहे, उसे वृद्धत्व के क्लेश न व्यापें, सदैव युवक बना रहे।

विशेष—(१) कल्पना लोक से उतर कर अब कवि अपने साथियों की दशा भी देख निकला है। उसका यह परिवर्तन स्तुत्य है। आगे चलकर वह बिल्कुल ही धरती पर उतर आया है।

(२) यदि मेघ अनुर्वर भूमि पर पड़े, ऊसर पर बरसे, तो वह व्यर्थ जाता है। उसकी उपादेयता तो तभी है जब उसकी बूँद उपजाऊ भूमि पर पड़े। पंत जी ईश्वर को विश्वास दिलाते हैं कि उनकी कृपा अकारथ नहीं जायगी—संसार उपजाऊ है, ऊसर नहीं।

(३) प्रस्तुत पंक्तियों की अंतिम दो पंक्तियों में क्रमालंकार, 'लघु-लघु' में वीप्सा एवं 'तृण तरु', 'स्मित स्वप्न' में अनुप्रासालंकार है।

छू छू..............................संसृति के सावन।

शब्दार्थ—मृन्मरण=मिट्टी रूपी मृत्यु। सुखमा=सौंदर्य। संसृति=सृष्टि। सावन=सावन की भाँति उपयोगी।

भावार्थ—कवि बादल के रूप में ईश्वर की प्रार्थना करते हुए संसार में बरसने का आग्रह करता है।

हे ईश्वर ! मिट्टी में पड़े हुए निश्चेष्ट धूलि कणों को छूकर उन्हें प्राणान्वित कर दो। यदि तुम कृपा कर दो तो क्षुद्र व्यक्ति भी महान बन सकते हैं। हे भगवन् ! तुम मिट्टी रूपी मौत को बाँध दो, विनष्ट कर दो। मिट्टी की निष्प्राणता दूर कर चेतनता भर दो। जड़-चेतन सब सुखी रहें, सभी प्राणवान् रहें—कवि की यही कामना है। हे ईश्वर ! सुख और सौंदर्य बनकर विश्व में बरसो। प्रत्येक क्षण, प्रत्येक स्थान पर लगातार बरसो ताकि अचेतनों में हर समय चेतनता भरी रहे। तुम सृष्टि रूपी वृक्ष के लिए सावन के समान हो।

विशेष—(१) समूचा गीत द्वि-अर्थक है। एक अर्थ मेघ का लगता है, दूसरा ईश्वर का। निर्वाह अंत तक हुआ है।

(२) संगीत एवं भावना का सुंदर सगुंफन इस गीत का वैशेष्य है। शब्द चयन सरस, सरल एवं प्रांजल है।

(३) सावन मास प्रकृति के लिए अत्यंत लाभदायक सिद्ध होता है। नन्हीं-नन्हीं फुहारें पेड़-पौधों को अत्यंत हरा-भरा बना देती हैं। कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है कि इसी भाँति तुम भी सृष्टि को हरा-भरा बना दो।

(४) प्रयुक्त अलंकारों में वीप्सा, रूपक, अनुप्रास मुख्य हैं।

१६—सांध्य वंदना

जीवन का........................विचरो हे।

शब्दार्थ—श्रम=थकावट। ताप=तपन, दुख। सुषमा=सौंदर्य। श्रांत=थके-माँदे। मर्मर=पत्ते या पेड़ से होने वाला स्वर। करुणानत=करुणा से झुका हुआ। कर पल्लव=हाथ रूपी पत्ते। नीड़=घोंसला। प्रच्छाय=सघन छाँह। नत नयन=नीची निगाह किए हुए। तन्द्रिल=थोड़ी-थोड़ी नींद से भरी हुई।

भावार्थ—दिन भर पेट भरने के लिए अपने यौवन-जरा को गलाकर मनुष्य संध्या को अपने घर आता है। संध्या उसकी थकावट दूर कर देती है। कवि और भी प्रार्थना करता है—

हे संध्या रानी ! तुम दिन भर की थकावट दूर करने वाली हो, सुख और सौंदर्य की स्वर्णिम वर्षा से व्यक्तियों के घर भर दो ! दिन भर के काम से चूर सब प्राणी, पशु, पक्षी अपने-अपने घरों को लौट आए हैं। दिन भर का प्रकृति का कोलाहल भी अब शांत हो गया है। पवन अब बहुत हल्का पड़ गया है जिससे पत्तों से खड़खड़ ध्वनि न निकल कर मर्मर संगीत निकल रहा है। तुम भी पल्लव जैसे कोमल हाथों से संसार रूपी नीड़ पर सघन छाया कर दो ताकि प्राणियों को शीतलता, निर्भयता एवं शांति मिले।

सूर्य का तेज कम हो गया है, संध्या बिखर गई है, शुक्र तारे का उदय हो गया

है, हवा का चलना भी अब बंद है, कमलों के नेत्रों में नींद भर आई है, वे झुक गए हैं। सब ने जान लिया है कि अब सोने की बेला आ गई है, अतः सबने अपनी-अपनी आँखें मूँद ली हैं। हे शशि ! तुम दिन भर के श्रम से थके हुए तन्द्रिल प्राणियों की पलकों में मधुर स्वप्न भर दो, ऐसा काम करो कि उन्हें आनंद की नींद आ जाए।

विशेष—(१) पंत जी के छोटे गीत सभी अच्छे बन पड़े हैं। यह भी उनमें से एक है।

(२) मधुर स्वप्न तभी आते हैं जब व्यक्ति की नींद में कोई विघ्न न पड़े। तो कवि रात के मुसाफिर चन्दा से यही प्रार्थना करता है कि वह उन श्रमिकों की नींद तक किसी विघ्न को न आने दे ताकि वे बेचारे सो तो अच्छी तरह सकें। उन्हें प्रातः उठकर फिर भी तो श्रम के जुए में जुतना है। अब कवि समष्टिवादी हो गया है, उसे अपनी नहीं, श्रमिकों की विशेष चिन्ता है।

(३) 'चराचर' शब्द का प्रयोग गलत है। जो 'अचर' है, स्थिर है, जंगम है कहाँ तो काम करने जायगा और कहाँ लौटेगा ?

(४) 'सुख सुषमा', 'नत नयन', 'सुखद स्वप्न' में अनुप्रास, 'विश्व नीड़' मे रूपक, एवं 'मर्मर', 'स्तब्ध' में ध्वनि-चित्रण अलंकार हैं। शब्द-चयन सरल एवं सहज है।

२०—लहरों का गीत

अपने ही··························नव दल।

शब्दार्थ—फेनिल=फेन से भरा हुआ, झागयुक्त। मलयानिल=मलय समीर। पुलकाकुल=रोमांच से परिपूर्ण।

भावार्थ—लहरों की थिरकन बड़ी मोहक होती है। वे अपनी कहानी स्वयं कहती हैं।

हम अपने उल्लास से प्रतिक्षण चंचल रहती हैं। पानी पर मोती के सदृश हर समय झाग उठते रहते हैं, हम उन मोतियों को अपनी हथेली पर रखे रहती हैं। हम उन्हें खिलाती है, उनसे स्वयं खेलती हैं। मलय-समीर हमें हर समय छू-छू कर, रोमांचित करता रहता है। जल रूपी लता में इच्छा के नए-नए पत्ते उग आते हैं।

विशेष—(१) लहरों के अर्थ के साथ-साथ ही युवतियों का भी चित्र खिचता चलता है। पवन जब लहरों को स्पर्श कर देता है तो उनके बीच-बीच में हलकी सी मोड़ें आ जाती हैं, कम्पन उठ जाते हैं, वे ही मानो पत्ते हैं। उधर नायक के स्पर्श से युवतियाँ रोमांचित हो उठती हैं, उनमें नई-नई इच्छाएँ उठ खड़ी होती हैं।

(२) 'चिर चंचल' आदि में अनुप्रास, 'ले ले' आदि में वीप्सा अलंकार हैं। 'जीवन' और 'लतिका' तथा 'इच्छा' और 'नव दल' के बीच में 'की' और 'के' सरक आने से रूपक खंडित हो गया है। 'टलमल' 'लहलह' शब्द अपनी कहानी खुद कह रहे हैं।

सुन मधुर··························ओझल।

शब्दार्थ—मरुत=समीर। गृह-पुलिन=घर रूपी किनारा। हुलस=प्रसन्नतापूर्वक।

भावार्थ—लहरें कहती हैं कि वे अपनी ही मस्ती में डूबी हुई फेनिल जल-कणों को उछालती रहती हैं, मलय पवन से रोमांचित होती रहती हैं। उनका कथन जारी है—

जब हवा रूपी वंशी बजती है इस प्रसन्नता से भर जाती हैं, हमें होश नहीं रहता, हम अपने घरों को पीछे छोड़कर बाहर निकल पड़ती हैं तथा प्रसन्नता के मारे नृत्य कर निकलती हैं। हमें होश नहीं रहता कि हमारी छाती का अंचल नीचे खिसक गया है अथवा वहीं है। हम न जाने कितनी बार समुद्र से उठा करती हैं, और न जानें कितनी बार उसी में विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार हम प्रत्येक क्षण जन्म एवं मरण के गले मिलती रहती हैं, पर इसका हमें तनिक भी दुख नहीं, हम सदैव प्रसन्न रहती हैं।

विशेष—(१) जब मुरलिका बजती थी गोपियाँ किसी की भी परवाह न कर के, घर त्याग कर, कृष्ण जी के पास चली आती थीं। पवन की सनसनाहट ही मानो मुरली की ध्वनि है, जिसे सुन सुनकर लहरें तट से बाहर आने को मचल उठती हैं। अर्थ यह है कि समीर चलने से लहरें भी तटों की ओर दौड़ने लगती हैं। लगता है उसे तोड़ ही देंगी। युवती पक्ष में प्रेमिका अपने प्रेमी का तनिक-सा संकेत पा घर परिवार छोड़ सकती है।

(२) लहर का जन्म भी समुद्र से ही होता है, एवं विलय भी उसी में। यही उसका जन्म-मरण है जो प्रतिपल होता रहता है। मानव को आवागमन, जन्म-मरण अत्यन्त अरुचिकर लगता है। वह इसीको मिटाने के लिए समूचा जीवन गला देता है, पर लहरें इस आवागमन का बड़ी प्रसन्नता से स्वागत करती हैं। उन्हें बड़ी मुसीबतें भी झेलनी पड़ती हैं पर उन्हें निराशा नहीं होती। डा० रामविलास शर्मा की 'समुद्र के किनारे' नामक रचना की एक पंक्ति देखिए—

"पीछे हटकर, सिर धुनकर भी, आगे बढ़ती है लहर-लहर।"

(३) अत्यधिक प्रसन्नता के मारे प्राणी नाच उठता है लहरें भी नाच उठती हैं, और इतनी नाचती हैं कि उनकी छाती पर से अंचल खिसक जाता है और उन्हें होश भी नहीं रहता। 'खिसकना' स्वयं एक कविता है।

(४) पंक्तियाँ छोटी-छोटी हैं एवं पढ़ने में उतनी ही क्षिप्रता होती है जितनी स्वयं लहरों के उठने-गिरने में चुलबुलापन। एक और बात, जो विशेष ध्यान देने योग्य है, वह है प्रत्येक पंक्ति में एक-एक शब्द का दो-दो बार प्रयोग करना—हिल हिल, खस खस, हँस हँस पल पल, फिर फिर उठ उठ। इससे पंक्ति, लहर की ही भाँति, बड़ी चुलबुली हो जाती है।

२१—घण्टा

नभ की··························गई रात ।

शब्दार्थ—नभ की नीली चुप्पी पर=नीले, शांत आकाश में। घड़ी-घड़ी=प्रत्येक क्षण।

भावार्थ—रात्रि के समय के घण्टे का वर्णन कवि छायावादी भाषा में करता है—

रात्रि का समय है, आकाश नीला, स्वच्छ एवं शांत है। ऐसे में एक सुंदर घण्टा टँगा है जो प्रत्येक क्षण बजता रहता है। उसका सुंदर स्वर प्रत्येक क्षण कानों में पड़ता रहता है। वे स्वर परियों के बच्चों के समान सुंदर हैं जो कानों में नीड़ बनाते रहते हैं। घण्टे के वे स्वर व्यर्थ नहीं आते, उनमें भी एक संदेश भरा है। लगता है वह सोने वालों एवं काम से जी चुराने वालों से कहता है कि अब उन्हें उठ बैठना चाहिए। रजनी समाप्त हो रही है, चारों दिशाएँ प्रकाश से भरी जा रही हैं। प्रातःकाल अब दूर नहीं। सुनहला रंग बिखर गया है। अब कुछ नया काम करना चाहिए, नई बात सोचनी चाहिए, सो-सोकर वक्त नहीं गँवाना चाहिए। रात समाप्त हो गई, प्रातः हो गया मन और शरीर को स्वच्छ बना कर काम में जुट जाना चाहिए, आलस्य भगा देना चाहिए।

विशेष—(१) आकाश नीला है एवं प्रशांत है; अतः छायावादी कवि ने उसे 'नभ की नीली चुप्पी' कहा है।

(२) रात्रि के गहन अंधकार में घण्टा ही घण्टा दिखाई पड़ता है, घण्टाघर नहीं, अतः लगता है जैसे वह अकेला आकाश में टँगा हुआ है।

(३) चिड़ियाँ जब देर तक विश्राम करेंगी तो उनके लिए घोंसला अवश्य-भावी है। घण्टे के स्वर को जब परी का बच्चा कह दिया तो कानों को घोंसला कहना अनिवार्य हो गया।

(४) इसमें द्विवेदी-युगीन उपदेशात्मकता है, अतः उपमा, वीप्सा, अनुप्रास, मानवीकरण, ध्वनि-चित्रण जैसे अलंकारों के होते हुए भी मुझे तो इसमें कोई सौंदर्य गोचर नहीं होता।

२२—वायु के प्रति (१९३०, गुंजन)

प्राण··························तरु-पात।

शब्दार्थ—निकुंज=कुंज, झाड़ी। निःसंग=निर्विकार। भ्रू-भंग=भौंहों का संकेत।

भावार्थ—कवि वायु एवं उसके कार्यों को निहार कर अत्यंत प्रभावित होता है तथा उसे संबोधित करके कह निकलता है—

ओ प्राण! तुम्हारा शरीर अत्यंत हल्का है। तुम सदैव आकाश के कुंज में

अपने को छुपाए रहते हो। तुम शांत रहती हो, शोर नहीं मचाती। तुम स्पर्श तो सबका करती हो, फिर भी नित्य नवीन एवं विकारविहीन रहा करती हो। तुम समस्त संसार के सौन्दर्य के भी सौन्दर्य हो। जिस प्रकार अप्सरा होती तो है पर उसका बोध होना असंभव है, उसका आकार बताना सहज नहीं इसी भाँति तुम व्याप्त तो सर्वत्र हो पर तुम्हारा कोई विशेष आकार नहीं जो किसी को बता दिया जा सके।

ओ समीर! तुम जिस समय चलना प्रारम्भ करती हो तुम्हारे ओठों पर अस्फुट शब्द खेल निकलता है। तुम स्वयं तो पुलकित रहती ही हो, जिस अंग को भी छू देती हो वही रोमांचित हो उठता है। जब तुम बहती हो, चंचल तरंगें तुम्हारे पाँव चूमती हैं। किसी भी सम्राट् की टेढ़ी भौहें निहार कर लोग काँप जाते हैं, तुम्हारी तिरछी निगाह से कलियाँ बेचारी चटख जाती हैं। तुम्हारे इंगित से तिनके थिरक उठते हैं, पेड़, पौधे, पत्ते आदि थरथरा जाते हैं।

विशेष—(१) 'अप्सरा' स्वयं स्त्रीलिंग है पर पंत ने उसे और भी ईकारांत कर दिया। सनक जो है। कविवर निराला ने उन्हें इसीलिए इतना धिक्कारा था।

(२) जब वायु समुद्र के ऊपर से तनिक वेग के साथ बहती है तो लहरें भी उधर ही बह निकलती हैं जिधर वह बहती है। कवि ने उत्प्रेक्षा की है मानो वे वायु के पैर पखारती हैं। वायु का मानवीकरण तो है ही।

हरित द्युति..............................अज्ञात।

शब्दार्थ—हरित-द्युति=हरी शोभा वाला ('जा तन की झाँईं परै स्याम हरित-दुति होइ') सजल छवि=तरल सौंदर्य। कंचु=कंचुकी। चूर्ण-कच= चूर्ण रूपी बाल। विश्व हृत् शतदल=संसार रूपी हृदय कमल। निभृत=निर्जन, सूना, नम्र, चुप, शांत, मंद। अहर्निश=दिन-रात। हास-विलास=हँसी-खुशी। अदृश्य=जो दिखाई न दे, अगोचर। अस्पृश्य—जो छुई न जा सके। अज्ञात= जिसके विषय में अधिक न जाना जा सके।

भावार्थ—कवि समीर की प्रशंसा में कहता है कि उसके चरण लहरें पखारती हैं, उसके इंगित से कलियाँ खिल जाती हैं, भ्रू-भंग मात्र से पेड़-पौधे हिल जाते हैं।

तुम्हारा चंचल आँचल हरे रंग का है, तुम्हारी कांति सजल है, मधुर है, तुम्हारी कंचुकी का रंग नीला है, तुम स्वयं गोरे रंग की हो। जहाँ तक तुम्हारे बालों का संबंध है, वे सदैव चूर्ण के समान बिखरे-बिखरे रहते हैं, सुगंधि से लदी हुई लहरें ही तुम्हारी साँसें हैं, प्रातः और संध्या ही तुम्हारे पंख हैं।

हे अप्सरे! तुम संसार के हृदय-कमल में निवास किया करती हो। तुम्हारे ही कारण जगत् में आमोद-प्रमोद हुआ करते हैं। इतने पर भी तुम दिखाई नहीं देतीं, तुम छुई नहीं जा सकतीं, तुम्हारे विषय में पूर्ण जानकारी नहीं है। (यदि 'अज्ञात' हो तो अर्थ होगा तुम जन्म-मरण से परे हो।)

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों में हवा को बिल्कुल अप्सरा के रूप में चित्रित किया है। चारों ओर की हरियाली ही मानो हवा का चंचल अंचल है, नीला आकाश ही मानो उसकी कंचुकी है, उड़ते हुए धूल-कण ही मानो उसके बाल हैं, प्रातः संध्या मानो उसके पर हैं। संसार के हर स्थान पर वह रहती है।

(२) यदि समीर का अस्तित्व न हो तो प्राणी एक क्षण भी नहीं जी सकता, उसके आमोद-प्रमोद का तो प्रश्न ही नहीं उठता। पंत जी उसे, इसीलिए 'जग-जीवन-ह्रास-विलास' (का कारण) बताते हैं।

(३) कतिपय आलोचकों ने इसमें रहस्यवाद खोजा है, कुछ ने कवि की महबूबा की गंध पाई है, कुछ ने इसे परमात्मा की प्रार्थना माना है। ज़रा ध्यान से सोचने पर पता चलेगा कि सीधे से वायु के वर्णन को वे कहाँ-कहाँ ले उड़े हैं। छायावाद में किसी को भी मानव के रूप में चित्रित किया जा सकता था। वायु का सीधा-सादा मानवीकरण है—कोई रहस्यवाद, परमात्मा-प्रार्थना आदि नहीं। हाँ, कवि मानवीकरण में खो अवश्य इतना गया है कि प्रस्तुत वरण्य-विषय धुँधला पड़ गया है। 'चाँदनी' का भी तो यही हाल है।

(४) छायावाद ने गीतिकाव्य को जो नई चीज़ दी, वह थी संबोधन शैली। अंग्रेज़ी में तो संबोधन गीत (ओड्) बहुत काल से थे, हिन्दी में संबोधन-गीत छायावाद से ही प्रारंभ हुए। प्रस्तुत गीत ऐसा ही है।

(५) प्रारंभिक पंक्तियों में वायु 'नभ के निकुंज में' रहती थी, इनमें 'विश्व हृत् शतदल' में।

२३—सुख-दुख (फरवरी '३२, गुंजन)

मैं नहीं चाहता......................हो घन।

शब्दार्थ—चिर=बहुत समय तक।

भावार्थ—मानव-जग की ओर निहारने पर पंत जी ने देखा कि कोई सुखी ही सुखी है, कोई अत्यधिक दुखी। इस विषमता ने उन्हें कल्पना के आकाश से नीचे उतर आने के लिए मजबूर कर दिया। उन्होंने देखा कि सुख और दुख दोनों जीवन में आवश्यक हैं—हाँ, अतिरेक दोनों का बुरा है।

कवि अपने मन की कहता है। मैं अपने जीवन में यही नहीं कि बहुत समय तक दुख नहीं चाहता, मुझे सुख से भी घृणा है। मेरी आकांक्षा तो यह है कि जीवन सुख-दुख की आँख मिचौनी खेलता हुआ आगे बढ़े। यदि इनमें से एक ही रहेगा तो जीवन नीरस हो जायगा। उसमें सरसता तो तभी आएगी जब क्रम-क्रम से दोनों आवें। यदि सदा सुख ही रहे तो क्या जीवन आनन्दमय कहा जा सकता है? इसी भाँति यदि एक बार दुख आकर न जाय तो क्या जीवन सरस कहा जा सकता है? स्पष्टतः नहीं। जीवन की पूर्णता तो इसी में है कि इसमें सुख और दुख दोनों ही

खेलते रहें। कभी जीवन में चाँदनी छिटके कभी अंधकार हो जाय, कभी सुख का प्रकाश हो, कभी दुख का तम। जब सुख-दुख की, प्रकाश अंधकार की यह आँख-मिचौनी चलती रहेगी, जीवन जीने योग्य तभी होगा, अन्यथा नहीं।

विशेष—आँख-मिचौनी में कभी एक छुपता है, कभी दूसरा। कवि को भी सुख-दुख की आँख-मिचौनी ही प्रिय है ताकि क्रम-क्रम से उसे सुख-दुख दोनों प्राप्त होते रहें। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को सुख और दुख दोनों का एक-सा स्वागत करने का उपदेश दिया है—

"सुख दुःखे समे कृत्वा"

(२) यदि सदैव दुख ही रहेगा तो व्यक्ति की कमर टूट जायगी, इसी प्रकार यदि सदैव सुख बना रहेगा तो उसका मूल्य घट जायगा। दुख में पड़कर ही सुख की महत्ता का बोध होता है, कष्ट पाकर ही आनन्द का महत्त्व जाना जाता है, अंधकार की सघनता में ही प्रकाश का मूल्य है। इसीलिए कवि चाहता है कि जीवन में दोनों आवें—तभी जीवन पूर्ण है अन्यथा एकांगी रह जायगा।

(३) प्रकाश सुख एवं अंधकार दुख का प्रतीक है। जब चंद्र चमकेगा, प्रकाश रहेगा, सुख रहेगा; इसी प्रकार जब वह घन से ओझल हो जायगा, अंधकार हो जायगा, दुख आ जायगा। कवि चाहता है कभी चंद्र चमके, कभी घन से ओझल हो जाय, कभी सुख आए, कभी उस पर दुख की काली चादर तन जाय। दृष्टांतालंकार है।

जग पीड़ित...............मानस जीवन का।

शब्दार्थ—अविरत=अत्यधिक, सदा। उत्पीड़न=दुख देने वाला। निशा-दिवा=रात-दिन।

भावार्थ—कवि को विश्वास हो चला है कि सुख-दु.ख दोनों के ही समन्वय से जीवन में परिपूर्णता आती है। यदि एक ही बना रहे तो सरसता समाप्त हो जाती है।

मैंने स्वयं देखा है कि मनुष्य निरंतर के दुःख से ही दुःखी नहीं हैं, सुख से भी उत्पीड़ित हैं। कहीं इतना दुःख है कि मनुष्य को अपना जीवन भारस्वरूप हो जाता है; एवं कहीं इतना सुख कि उसमें फिर आनंद ही नहीं रहता, उदासीनता आ जाती है, विरक्ति हो जाती है। मैं तो यह चाहता हूँ कि इस संसार में सुख-दुःख का समीकरण हो जाए। जो बहुत सुखी हैं वह अपने दुःखी भाई का दुःख बाँट लें और विनिमय में अपने सुख का कुछ अंश उसे प्रदान कर दें। इस संतुलन से दोनों का जीवन बड़ा सुन्दर बन जायगा।

यदि लगातार दुःख ही दुःख रहे तो व्यक्ति कितना दुःखी हो जायगा, इसी प्रकार यदि वह हमेशा सुख में ही डूबा रहे तो उसका जीवन एक रस हो जायगा। आनंद तो तभी है जब सुख-दुःख दिन-रात की भाँति आते-जाते रहें ताकि जग-

जीवन कभी सोकर कभी जगकर स्वस्थ बना रहे।

जिस प्रकार उषा और संध्या दोनों आते हैं इसी प्रकार जीवन में कभी मिलन का सुख होता है, कभी विरह का क्लेश। मानव-जीवन तो सदा से ही हँसी और रुदन का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है। उसे रुदन का स्वागत भी उसी प्रकार दोनों बाँहें फैलाकर करना चाहिए जिस प्रकार वह हास्य का करता है।

विशेष—(१) प्रस्तुत रचना में कवि बिल्कुल धरती की ओर उन्मुख हो गया है। आकाश में विचरण करने वाली कल्पना के अब उसमें दर्शन नहीं होते। इसी कारण इसने उनकी रचनाओं में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

(२) 'सुख-दुःख की दिवा-निशा में सोता-जगता' में क्रमालंकार है। भाषा-ऋजु सरल एवं विचार नितांत सुलझे हुए हैं।

२४—तप (जनवरी १९३२, गुंजन)

तप रे··························विधुर मन।

शब्दार्थ—विश्व-वेदना=संसार के क्लेश। अकलुष=कालुष्यहीन, निर्मल, स्वच्छ। विधुर=दुःखी, अभावग्रस्त, व्याकुल।

भावार्थ—अब कवि को दुःख में सुख का संदेश सुनाई पड़ता है। वह जानता है कि स्वर्ण का सच्चा रंग अग्नि में ही चमकता है। वह अपने मन को दुःख झेलने की प्रार्थना करता है।

हे मन! तू प्रत्येक क्षण सांसारिक पीड़ाओं की अग्नि में गलता जा। इस ज्वाला में तू इतना तप कि गल जाय। यह तुझे लाभदायक ही सिद्ध होगा। स्वर्ण तभी चमकदार बनता है जब अग्नि में तपाया जाता है। तू भी जब सांसारिक वेदना की ज्वाला में तप लेगा तो निश्चय ही कोमल, साफ और निर्मल बन जाएगा।

विशेष—नियम है कि जब कोई मनुष्य स्वयं दुःख झेल चुका होता है, तभी दूसरों के दुःखों को समझ सकता है, सहानुभूति कर सकता है, हृदय में कोमलता भी तभी आती है, अतः कोमलता, निर्मलता एवं सहानुभूति जैसे गुणों को प्राप्त करने के लिए वेदना का सहर्ष स्वागत करना चाहिए।

अपने सजल मन··················आतुर मन।

शब्दार्थ—सजल=जल-युक्त, चमकदार। आतुर=शीघ्रता करने वाला, पीड़ित, बीमार।

भावार्थ—कवि मन को संबोधित करते हुए कहता है कि उसे विश्व-ज्वाला में तपना चाहिए, और इतना तपना चाहिए कि उसका हृदय द्रवणशील हो जाय।

कवि पुनः कहता है कि ओ दुःखी मन! दुःख में तप कर जब तू अकलुष, उज्ज्वल, कोमल एवं द्रवणशील बन जायगा तभी जीवन कीपूर्ण मूर्ति बन सकेगी। सहानुभूति से शून्य हृदय क्या उच्च जीवन बना सकता है? यह अत्यंत आवश्यक है कि तू

समस्त संसार में अपनत्व स्थापित कर, समूची वसुधा को कुटुंब मान, तभी तेरा और जगत् का कल्याण है। शिवं के साँचे में ढलता चले।

विशेष—मन को कवि ने सोना माना है। जब उससे मन चाही वस्तु बनानी होती है तो पहले उसे अग्नि में डाल दिया जाता है। तपा-तपा कर वह बह उठता है। उसमें चमक आ जाती है, उसकी कालिमा जल जाती है। तब उसे साँचे में डाल दिया जाता है और इच्छित वस्तु गढ़ ली जाती है। मन भी दुःख झेल-झेलकर द्रवणशील हो जाता है, सहानुभूतिमय बन जाता है, दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझ निकलता है। इससे जीवन बड़ा सरस एवं सुखी बन जाता है।

तेरी मधुर..........................निष्ठुर मन।

शब्दार्थ—मुक्ति = छुटकारा। अरूप = जिसका कोई रूप ही न हो। स्वरूप = जिसका रूप हो।

भावार्थ—कवि अपने मन को समझाता है कि उसे निर्मल एवं कालुष्य-विहीन बनने के लिए दुखाग्नि में गलना चाहिए। जब उसे दूसरे का दुःख अपना दुःख लगने लगे तब समझ लेना चाहिए कि उसने जीवन की पूर्ण मूर्ति गढ़ दी।

सहानुभूति का गुण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। हे मन ! तू भी दूसरे के दुःख को अपना दुःख मान पराए दुर्भाग्य से बँध जा। निरा स्वार्थमय ही न रह। तेरी मुक्ति सच पूछ तो इसी बंधन में है। यदि तुझमें यह गुण नहीं आ पाता तो तू सदैव गंध-हीन ही बना रहेगा। बिना सुगंधि के कुसुम का क्या मूल्य ? बिना सहानुभूति से पूर्ण हृदय का क्या महत्त्व ? भूमि से निकले हुए स्वर्ण का क्या आकार ? गल-गल कर ही वह नए-नए आकार धारण करता है। हे मन ! तू भी सहानुभूति प्रदर्शित कर साकार बन जा। हृदय के पास सबसे मूल्यवान् वस्तु दया है, और वह इस समय तेरे पास है नहीं। अरे निष्ठुर मन ! अब तो दया करना सीख।

विशेष—(१) अंत तक मन सोना माना गया है एवं उसीके सब व्यापार उस पर घटाए गए हैं। जब स्वर्ण निकाला जाता है तो आकार विहीन होता है। गल कर ही, एवं अपने को साँचे में कैद करा के ही उसका मूल्य बढ़ता है। मन की महत्ता भी तभी है जब वह स्नेह-बंधन में जकड़ जाय। उसका 'बंधन' ही 'मधुर-मुक्ति' है।

(२) कठोर वस्तु तभी गल सकती है जब वह पिघल जाय। मन भी तभी द्रवणशील होगा, जब स्वयं कष्ट झेल चुका हो। इसके अभाव में उसमें सहानुभूति का गुण नहीं आ सकता। अतः स्वार्थ भुलाकर पर दुःख को निज दुःख मानना चाहिए।

(३) मन का धन सहानुभूति है। यदि उसके पास यह नहीं तो निश्चय ही वह 'निर्धन' है।

(४) 'तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन' में विरोधाभास है। 'बंधन' और 'मुक्ति' दोनों विरोधी वस्तुएँ हैं जिन्हें यहाँ एकाकार कर दिया है।

२५—उर की डाली (फरवरी' ३२, गुंजन)

देखूँ .... क्या दुराव।

शब्दार्थ—अकूल=अत्यधिक, व्याप्त। कलि=कली। किसलय=कोमल पत्ते। शूल=काँटे। दुराव=छिपाव।

भावार्थ—'गुंजन' की ओर कवि सौंदर्य-लोक से निकल कर यथार्थ जगत् में आगया। उसने किसी को दुःख से, किसी को सुख से 'अति पीड़ित' पाया। वह जानना चाहता है कि किसके हृदय में सुख है, किसके में दुःख।

मैं प्रत्येक व्यक्ति के हृदय की डाल देखना चाहता हूँ। संसार तो बहुत बड़ा उद्यान है। इसमें फूल, शूल, कलियाँ, पत्ते सभी प्राप्य है। मैं देखना चाहता हूँ कि इनमें से किस व्यक्ति ने क्या चुना है। क्या सबने कलियाँ पसंद की है ? क्या सबने कुंसुम ही चुने हैं ? मैं बस इतना देखना चाहता हूँ, कि किसने कैसे फूल चुने हैं। किस रूप, किस रंग, किस सुगंधि के है वे ? मै तो कवि हूँ। कवि की पहुँच तो सर्वत्र है, फिर मुझसे अपने-अपने हृदयों का छुपाव कैसा ? आगे पीछे मैं जान ही लूंगा।

विशेष—(१) इन पंक्तियों में पंत जी ने हृदय को वृक्ष की शाखा माना है। उस पर कली, कुसुम, काँटे सभी लगते हैं, हृदय में भी आशा, निराशा, आनंद, सुख, दुख सभी होते हैं। कवि यही देखना चाहता है कि कौन कैसा है। वह अपने बही-खाते में प्रत्येक नाम के सामने उसके हृदय-धन को भी लिख देना चाहता है।

(२) हिन्दी में कथन है—'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ न पहुँचे कवि।' पंत जी को 'कवि से रे किसका क्या दुराव।' लिखते समय यही पंक्ति याद हो आई होगी।

किसने ली .... भूल।

शब्दार्थ—पिक=कोयल। विरह-तान=विरह का गीत। मधुकर=भौंरा। फुल्ल=खिला हुआ। मुकुल-म्लान=मुरझाई कली।

भावार्थ—कवि प्रत्येक हृदय देखकर जानना चाहता है कि किस में सुख के कुसुम हैं एवं किसमें दुख के काँटे—

मैं यह जानना चाहता हूँ, विरह-गान की व्याकुलता किस व्यक्ति ने ली है एवं किसने मिलन-संगीत का सुख चुना है। खिला फूल किस हृदय के बाँट पड़ा है एवं कौन ऐसा व्यक्ति है जिसके पास मुरझाई कलिका मात्र है।

लो, मैंने प्रत्येक का हृदय टटोल लिया। सभी में दुख और सुख दोनों विद्यमान हैं। कोई हृदय ऐसा नहीं जिसमें सुख का फूल न हो। इसी प्रकार प्रत्येक उर में दुख के ऐसे कठिन नुकीले काँटे हैं कि दया आती है। मुझे तो कोई हृदय ऐसा नहीं दीखा जिसमें फूल ही फूल हों, अथवा शूल ही शूल। सुख और दुख सब को अनिवार्यतः मिले हैं।

विशेष—(१) कवि का निष्कर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है। कौन ऐसा व्यक्ति है

एवं ईश्वर की तुलना नाविक से भारत-भूमि में चिरकाल से होती चली आई है। आलोचक कहते हैं इस पद में कवि दार्शनिक बन गया है। उसने कोई नवीन बात नहीं कही है। यदि कुछ है भी तो यही कि प्रकृति से उसने शाश्वतता, अमरता, अक्षयता का उपदेश ग्रहण किया है। वैसे समग्रतः गीत अत्यंत सुंदर है। इसके से शब्द-चित्र जिस भाषा में हो वह अपने को धन्य मान सकती है।

(२) 'शाश्वत' का बार-बार का प्रयोग कुछ अच्छा नहीं लगता। स्वर्ण-युग में यही शब्द 'चिर' बन गया है जिसके विषय में डा० शर्मा बहुत कुछ लिख चुके हैं।

(३) 'जग-जीवन के कर्णधार' ईश्वर के लिए प्रयुक्त किया है। टेनिसन, टैगोर, ब्राउनिंग आदि बहुत पहले ही यह पदक ईश्वर को दे गए हैं।

(४) सच पूछा जाय तो पंत जी जहाँ कहीं दार्शनिक बनने का प्रयास करते हैं वहीं वे अपने से दूर चले जाते हैं। शुद्ध प्राकृतिक-चित्रण ही उनकी तूलिका से मोहक खिचते हैं। प्रस्तुत गीत की ही इस छन्द से पूर्व की पंक्तियाँ दर्शनीय हैं जो अत्यंत सुंदर बन पड़ी हैं।

२८—चाँदनी (फरवरी '३२, गुंजन)

नीले नभ························जग-जीवन।

शब्दार्थ—शतदल = कमल। शारद हासिनि = शरद ऋतु की भाँति स्वच्छ हँसी वाली, शरद की हँसती हुई चाँदनी। अनिमिष = अपलक, टकटकी लगाए। एकाकिनि = अकेली। स्वप्न-जड़ित = ख्वाबों में डूबी हुई। नत चितवन = नीची निगाह किए हुए। अग-जग = चराचर।

भावार्थ—चाँदनी छाई हुई है। प्रकृति के अनन्य भक्त से वह भला अनदेखी कैसे रह सकती है ? कोमल कवि ने इसे नारी-रूप में निहारा है।

नीले आकाश रूपी कमल पर शरद ऋतु की शुभ्र चाँदनी बैठी हुई है। अपनी कोमल हथेली पर उसने अपने चन्द्रमुख को रख लिया है। वह अकेली, शांत और अपलक बैठी हुई है। उसकी पलकें झुकी हुई हैं, स्वप्नों में डूबी हुई है एवं अपनी निगाह से चराचर को मोहित कर रही है। उसकी चंचल निगाह श्यामल और कोमल है। मनुष्य इससे अत्यधिक रोमांचित हो उठता है।

विशेष—प्रस्तुत पंक्तियों में चाँदनी का मानवीकरण अत्यन्त सुन्दर ढँग से किया है। चाँदनी नीची निगाह करके अपनी हथेली पर मुँह रखकर कैसे बैठेगी—यह पंतजी ही समझ सकते हैं। दरअसल बात यह है कि कवि को यह मुद्रा अत्यंत भली लगती है, अतः अवसर-कुअवसर वह इसका प्रयोग करता रहता है। यहाँ प्रस्तुत 'चाँदनी' का रूप अत्यंत गौण पड़ गया है एवं अप्रस्तुत 'मानवी' का रूप विशेष उभर आया है।

वह फूली.........................**उर-स्पंदन।**

शब्दार्थ—दल=पत्ता। कुड्मल=कली। दिशि-दल=दिशाओं रूपी पत्ते। सरित-पुलिन=नदी का तट। स्पन्दन=धड़कन।

भावार्थ—कवि को छिटकी हुई चाँदनी दिखाई पड़ती है। लगता है कोई सुंदर नायिका अपनी हथेली पर मुँह रखे बैठी हो।

चाँदनी खिले हुए बेला के वन के समान है। यदि उनमें कोई अंतर है तो बस यह कि इसमें डण्डी, पत्ते और कलियाँ नहीं हैं। इसमें केवल स्वच्छ प्रकाश है जिसमें समस्त दिशाओं रूपी पत्ते डूबे हुए हैं। वह नदी के तटों पर सोई हुई है। हवा बंद है, यदि थोड़ी बहुत बहती भी है वह चाँदनी की साँस है। नदी-जल में चंद्रिका में घुली हुई लहरें ही उसके हृदय की हलकी-हलकी धड़कनें हैं।

विशेष—बेला के वन में सर्वत्र श्वेतता ही श्वेतता दिखाई पड़ेगी, यही दशा चाँदनी रात की है। पर बेला का फूल पौधे पर लगता है जिसमें जड़, डाल, पत्ती आदि होते हैं, चाँदनी के बेले पर तो बस फूल ही फूल हैं, पत्ते आदि नहीं।

अपनी छाया.........................**मर-मर।**

शब्दार्थ—आभा=कांति। निभृत=एकांत।

भावार्थ—सर्वत्र छिटकी हुई चाँदनी ऐसी लगती है जैसे बिना ताल-पत्ती का बेला का श्वेत वन हो।

चाँदनी उस रमणी के समान है जो पर्वत-शिखर पर खड़ी हुई हो और जिसकी छाया नीचे के चंचल जल में पड़ रही हो। जिस प्रकार दुलहिन एकांत रात को सजधज कर पिया-मिलन को लज्जा से घूंघट डालकर जाती है उसी प्रकार दिन की प्रखर आभा रात में कोमल कांति रूपी दुलहिन बनकर रात्रि की शैया पर शयन करने आई है।

विशेष—इन पंक्तियों में भी, प्रारंभिक पंक्तियों की भाँति, अप्रस्तुत ने प्रस्तुत को दबा लिया है। श्रृंगारी कवि भूल गया है कि वह चाँदनी का वर्णन कर रहा है पर 'दुलहिन' उसका पीछा छोड़े तब न? वैसे ठीक भी है, शादी न करे तो क्या बरात भी न करे?

जग के.........................**उडगण।**

शब्दार्थ—अस्फुस्ट=धुँधले, रहस्यमय। मोती=अर्थात् ओस। मुकुल=कली।

भावार्थ—बेला के वन के समान छिटकी हुई चाँदनी नई दुलहिन-सी लगती है।

चाँदनी प्रत्येक क्षण अपने धुँधले स्वप्नों का हार गूँथा करती है। उसके हृदय में करुणा का पारावार मचलता रहता है जो उसके अंचल को भिगो देता है। उसका हृदय बड़ा कोमल है। वह कोमल कलियों को चूमकर उनके मुँह में मोती

भर देती है। उसे लहरों से भी बड़ा स्नेह है। जब वे मचलती हैं तो चाँदनी उनके हाथों में चाँदी के चंचल सितारे रख देती है।

विशेष--(१) प्रथम छंद में चाँदनी को, जैसा कि पंतजी का स्वभाव ही है, वियोगिनी माना है। जिस प्रकार वियोगिनी के पलक सदैव गीले रहते हैं, उसी तरह चाँदनी रात भी किसी के वियोग के कारण ओस रूपी आँसू ढुलका कर अपना आँचल भिगोती रहती है।

(२) ऐसा लगता है लहरें और कलियाँ चाँदनी की संतान हैं। वह कलियों को चूम उठती है एवं ओस की विरल बूँदों के मोतियों से उन्हें जड़ देती है। इसी प्रकार लहरें जब रूठ जाती हैं, चंचल हो उठती है, तभी वह उन्हें खिलौने के रूप में तारों को दे देती है। उनमे तारों का प्रतिबिब पड़ निकलता ही है—वही तारों को दे देना है। कल्पना सचमुच बड़ी मीठी है।

वह लघु..................जीवन-गुंजन कल।

शब्दार्थ—परिमल=सुगंध। अनिल=समीर। अविकल=निरंतर, विशुद्ध रूप मे। शयन-मुकुल=सोना रूपी कली, शयन (स्लीप) रूपी कलिका। द्युति-दल=कांति के पत्ते। अलि=भौरा। कल=सुदर।

भावार्थ--हृदय में करुणा भरे हुए चाँदनी छिटकी हुई है। वह कभी मुकुलों का चुम्बन लेती है कभी लहरों के हाथों पर तारे रख देती है।

चाँदनी सुगंधि का मानो बादल है जो निसर्गतः हवा में घुली रहती है। वह सुख रूपी उमड़ते हुए समुद्र सी है जिसमें हृदय रूपी तट पूर्णतया डूब जाते हैं। वह ऐसी लगती है मानो शयन रूपी कली है जो, सोते हुए स्वप्न देख रही है। यही कारण है कि उसकी दिवस रूपी पंखुड़ियाँ इस समय अपनी चमक अपने अंदर किए, बंद हैं। जिस प्रकार कली में यदा-कदा भ्रमर बंद हो जाता है उसी भाँति इस चाँदनी रूपी कली में जगत रूपी भौंरा बन्द है; अतः जीवन के प्रत्येक व्यापार का गुजन मौन है।

विशेष—(१) चाँदनी को 'परिमल के घन सी' बताकर कवि ने कैसी ऊँची बात कह दी। यदि 'सी' शब्द न होता तब उसमें और भी अधिक मार्मिकता आ जाती।

(२) अमूर्त का मूर्त और मूर्त का अमूर्त उपमान लाना छायावादी कवियों का वैशेष्य है। इस छंद में भी 'शयन' को 'मुकुल' एवं 'जीवन' को 'गुंजन' कहा गया है। अर्थ बड़ा सुदर हो गया है।

वह नभ................ ....अन्तर।

शब्दार्थ--गोपन=छिपी हुई, चुपचाप। संभाषण=वार्तालाप। संसृति=सृष्टि। असीम=सीमाहीन, अनन्त। सुखमा=सुषमा, कांति, सौंदर्य।

भावार्थ—सुगंधि से भरी हुई चाँदनी सब ओर छिटकी हुई है। लगता है वह

एक नायिका है जो मधुर स्वप्न देख रही है।

चाँदनी ऐसी प्रतीत होती है मानो आकाश के स्नेहपूर्ण वार्तालाप सुनने के लिए सदैव खुले हुए कान हे जिनमें दिशाएँ चुपके-चुपके कुछ कहा करती हे। जब उन दोनों में मूक वार्तालाप हो जाता है तभी नभ एवं दिशाएँ एक दूसरे को आत्म-समर्पण कर देते हे। सच पूछो तो आकाश रूपी विशाल हथेली पर चंद्रिका सृष्टि की एक बूंद के समान है जिसमें समस्त दिशाएँ, चराचर डूब जाते हे।

विशेष--(१) क्षितिज की ओर दिशा एवं नभ चुपके-चुपके बात करते हुए प्रतीत होते हे। वे आपस में जो कुछ कहते हे वही मानो चाँदनी है।

(२) विशाल नभ को कवि हथेली के समान मानता है, जिस पर का चन्द्रमा बूंद के समान प्रतीत होता है। चाँदनी उसी का अनंत सौन्दर्य है।

झंकार......................साश्रु-नयन क्षण।

शब्दार्थ—हौले-हौले=धीरे-धीरे। अविदित=जो न जानी जाय। शब्द मुक्त=शब्दहीन, नीरव। शुचि=सुंदर, पवित्र। आशय=मतलब, अभिप्राय! विलोचन=नेत्र। अनिमेष=अपलक। विभा=शोभा। साश्रुनयन=(स+अश्रु +नयन) आँसुओं सहित आँखों वाला।

भावार्थ---चाँदनी लगती है जैसे नभ और दिशाओं की नीरव वार्ता हो।

चाँदनी संसार की जीवन रूपी झंकार है जो धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। यह चाहे समझ मे न आवे पर शेष बची रहती है। संसार रजनी की चादर के नीचे खो जाता है बस एक चाँदनी ही शेष रह जाती है। वह शांत है, शब्द विहीन है एव पवित्र अभिप्राय वाली है। वह कभी न समाप्त होने वाली प्रतीक्षा के समान शांत, अपलक एवं नित्य है। वह किसी के छुए नहीं छुई जा सकती, प्रतीक्षा के समान वह भी अदृश्य है। वियोगी की ही भाँति वह भी प्रत्येक क्षण आँसू बहाती रहती है।

विशेष--(१) 'हौले हौले' जैसे ब्रज भाषा के शब्दों का भी पंतजी ने यत्र-तत्र प्रयोग किया है। रात को संसार के काम धीरे-धीरे बंद हो जाते हे--झंकार मध्यम पड़ती जाती है।

(२) चाँदनी को पुनः नायिका माना गया है जो नायक की प्रतीक्षा मे शांत, बिना पलक गिराए, गीली आँखें किए बैठी रहती है।

(३) 'अस्पृश्य' का अर्थ है चाँदनी को स्पर्श करके इसकी कड़ाई, लोच आदि के विषय में कुछ भी नहीं बताया जा सकता इसी प्रकार 'अदृश्य' का अर्थ है उसकी लम्बाई, चौड़ाई आदि नहीं बताई जा सकती। 'न दिखाई देना' तो निश्चय ही नहीं हो सकता क्योंकि दिखाई तो वह पड़ती ही है।

वह शशि-किरणों...................जीवाशय।

शब्दार्थ—अनिर्वच्च=अनिर्वचनीय, अवर्णनीय। अचेत=चेतनाशून्य, बेहोश।

जीवाशय=प्राणियों का घर, आश्रय; संसार।

भावार्थ—चाँदनी छिटकी हुई है जो सुगंधि का मेघ-खण्ड सी लगती है। वह बिना पलक झुकाए चुपचाप आँसू बहाते हुए किसी की प्रतीक्षा में निमग्न है।

चाँदनी चुपके से चन्द्रमा की किरणों के सहारे-सहारे उतर कर मेरे आँगन में आ गई। वह जन्मजात सुंदरी है; अतः मेरे हृदय ने उसका अपूर्व स्वागत किया। वह भी मेरे हृदय में लीन हो गई।

वह चुपके से मेरी आँखों के सामने खड़ी हो गई, पर शीघ्र ही वह मेरी आँखों से ओझल हो गई। अब मेरे हृदय में उसकी केवल अनुभूति ही रह गई है। अब मुझे शांति, पवित्रता एवं उज्ज्वलता का अनुभव हो रहा है।

चाँदनी है भी और नहीं भी है–वह अनिर्वचनीय है। उसमें समूचा जगत समाया हुआ है और जगत में वह समाई हुई है। वह साकार-चेतना के समान है जिसमें समस्त संसार संज्ञाहीन पड़ा हुआ है।

विशेष—जैसा पीछे कहा गया है यत्र-तत्र पन्तजी दार्शनिक बनने का प्रयास करते हैं और वहीं वे अस्पष्ट और दुर्बोध तो हो ही जाते हैं, हृदय पर अमिट प्रभाव भी नहीं छोड़ पाते जैसाकि वे अपनी विशुद्ध रचनाओं द्वारा छोड़ जाते हैं। इस रचना की अंतिम पंक्तियाँ भी ऐसी ही हैं जिनमें लगता है कवि अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है। ब्रह्म है अवश्य अन्यथा जगत् का निर्माण ही रुक जाय। वह नहीं भी है क्योंकि गोचर नहीं होता। चाँदनी भी है क्योंकि उसके कारण रात में कोई भी वस्तु देखी जा सकती है पर विशुद्ध रूप मेंवह कुछ भी नहीं है। वह समस्त संसार में व्याप्त एवं समस्त संसार उसी मे व्याप्त है।

२६. पतझर (फरवरी '३४, युगांत)

द्रुत झरो·································विलीन।

शब्दार्थ—द्रुत=शीघ्र। जीर्ण पत्र=पुराने पत्ते। सूस्त-ध्वस्त=नष्ट-भ्रष्ट, टूटा-फूटा। शीर्ण=सड़ा-गला, कुम्हलाया हुआ। हिम-पात-पीत=सर्दी और गर्मी के प्रभाव से पीला पड़ा हुआ। मधुवात-भीत=वासन्ती समीर से भी डरा हुआ। वीतराग=उदासीन। पुराचीन=अत्यन्त प्राचीन। विगत=प्राचीन। च्युत=गिरे हुए। अस्त-व्यस्त=जो किसी क्रम से न हो।

भावार्थ—कवि देखता है कि सड़े-गले पत्ते वृक्ष से चिपके हुए हैं। उनका कुछ भी तो उपयोग नहीं। न वे मानव के ही काम आते हैं और न वृक्ष की ही शोभा बढ़ाते हैं। कवि उन्हें ही संबोधित करके कह रहा है—

ओ संसार के पुराने पत्तो! तुम शीघ्र ही झड़ पड़ो। अब तुम टूट-फूट गए हो, सूख गए हो, नष्ट-भ्रष्ट हो गए हो। तुम गर्मी और सर्दी में बाहर ही रहने के

कारण पीले पड़ गए हो। वसंत की सुगंधि भरी समीर तक से तो तुम्हें भय है ! तुम्हारा रंग मिट गया है। अब तुममें कोई जीवन नहीं, तुम जड़ हो,—प्राचीन तो हो ही। अब तुम उस पक्षी के समान हो जो प्राणहीन हो चुका है। संसार का घोंसला अब इसीलिए तो शब्द-हीन है, अब कोई पक्षी चहकने वाला नहीं। मृतक पक्षी के पंख जिस भाँति अस्त-व्यस्त होकर बिखर जाते हैं। उसी भाँति ओ प्राचीन पत्तो ! तुम भी इस अनन्त जगत में विलीन हो जाओ, अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं।

विशेष--(१) प्रस्तुत पंक्तियों में अन्योक्ति है। 'जीर्णपत्र' कवि ने समाज की रूढ़ियों एवं 'मधुवात' नव-नवीन विचारों के लिए प्रयुक्त किया है। रूढ़ियाँ नए विचारों का कब स्वागत करती हैं ? पुराने पत्तों को भी समीर के तनिक से झोंके का भी भय बना रहता है—वह झोंका वसंत की हवा का ही क्यों न हो। कवि को भी रूढ़ियाँ अत्यंत अप्रिय हैं— समाज की, देश की, भाषा की, काव्य की, प्रत्येक की।

(२) 'जीर्ण पत्र' के विषय मे पं० शांतिप्रिय द्विवेदी लिखते हैं--"ये 'जीर्ण-पत्र' मध्य-युगों के जीवन्मय मंतव्य हैं जो नये विचारों, नये भावों, नये सौंदर्य, नये संगीत अथवा जीवन के नए वसन्त का स्थान घेरे हुए हैं। इनके झर जाने, पतझर हो जाने पर ही नई सृष्टि पल्लवित, पुष्पित, एवं उज्जीवित हो सकती है।"

कंकाल जाल························प्याली।

शब्दार्थ—कंकाल-जाल = अस्थि-पंजर, ठंठ मात्र। नवज = नवीन। मुखरित = बोलते हुए। मांसल हरियाली = अत्यधिक हरी भरी वस्तुएँ। मँजरित = मंजरी युक्त, कोपलों समेत। पिक = कोकिल। प्रणय = प्रेम।

भावार्थ—कवि को समाज, साहित्य--प्रत्येक की रूढ़ि कतई नापसंद है। वह चाहता है कि रूढ़ियों के जीर्ण पत्ते बिलकुल गिर पड़ें। पतझर के व्याज से वह यही बात कहता है।

हे जीर्ण पत्रो। मैं चाहता हूँ, कि तुम शीघ्र से शीघ्र अपना स्थान त्याग दो ताकि उन पर ठूंठों मे वसन्त छिटक जाय, नूतन कलियाँ एवं कोपलें आ जायें। पुराने पक्षी समाप्त हो जायें उनके नए पखेरू नए गीत लेकर प्रकृति की हरीतिमा में गूँज उठे।

जब वसन्त आ जायगा तो वृक्षों पर नई-नई कोपलें भी आ जायंगी, फलतः नए युग का संदेश लेकर मतवाली कोयल अपने प्रीति के गीतों से दिशाओं को भर देगी।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों में भी अन्योक्ति जारी है। पड़े पत्तों के हट जाने पर नव कोपलें आवेंगी, रूढ़ियों के मिट जाने पर उनका स्थान नए विचार ले लेंगे। पुराने पक्षियों के मर जाने पर नए पक्षी आ जावेंगे, रूढ़ियों के खतम हो जाने पर मनुष्य जाति के प्राण नए जोश से भर जाएँगे। नवीन स्फूर्ति सर्वत्र छा जाएगी, नए उत्साह से युवक नए-नए जोखिम के कार्य करना प्रारंभ कर देंगे। वही मानो मतवाली कोयल बोलेगी।

(२) जब रूढ़ियाँ बहुत गल जाती हैं तो क्रांतिकारी विचार उनका स्थान स्वयंमेव ले लेते है। कविवर टेनिसन ने भी यही बात यूं कही थी—"ओल्ड ग्रार्डर चेंजेथ, यीलि्डग प्लेस टु न्यू।"

(३) रचना छोटी है पर बड़ी सुंदर अन्योक्ति बन पड़ी है। भावों का निर्वाह अंत तक सुन्दर ढँग से हुआ है। ऐसी रचनाएँ ही पंत जी की सुधर रचनाएँ हैं। यदि यहाँ भी उन्होंने अद्वैतवाद के पाते पर उँगली छुआ दी होती तो पाठक भींकता हुआ उठ देता।

३०—वसंत (ऐप्रिल' ३५, युगांत)

चंचल पग..............................प्रवाह।

शब्दार्थ—सौरभ = सुगंधि।

भावार्थ—गत रचना में कवि ने जीर्ण पत्रों को विनष्ट हो जाने को कहा था, वे हो गए। वसंत आ गई। दीप-शिखा के चंचल पगों को रखता हुआ शुभ वसंत घर, मार्ग, वन सब में छा गया, वनों और बागों में बगर गया। इससे पूर्व फागुन का मास अत्यंत सूना-सूना था। वह सूनापन अब जल गया, समाप्त हो गया एवं सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य छा गया। समीर में अब सुगंध घुल गई है जिससे जन-जन के हृदय की प्रसुप्त वासनाएँ कुलबुलाने लगी हैं। समस्त पृथ्वी पर सौन्दर्य ही सौन्दर्य बिखर गया है, वसंत आ गई है।

विशेष—(१) वसंत-ऋतु मे सर्वत्र रंग फैल जाता है। उसके लाल कुसुमों एवं कोपलों को कवि ने दीपशिखा के चंचल पग कहा है।

(२) 'शीतल ज्वाला' एवं 'मधुर दाह' में विरोधाभास है। वसंत के आते ही मानव-मन और का और हो जाता है, पतझर की बुझी हुई कामाग्नि फिर भड़क उठती है, हृदय में प्रेमाग्नि जल उठती है पर वह मीठी लगती है; उसे दूर करने को जी नहीं चाहता।

पल्लव-पल्लव......................स्नेह प्राण।

शब्दार्थ—मांसल = स्वस्थ। अंतर = हृदय। प्रणय-गान = प्रीति का गीत।

भावार्थ—निगोड़ा पतझर अब समाप्त हो गया है एवं दिशाओं को नव-सौरभ नव-सौन्दर्य देता हुआ वसंत आ गया है।

पत्ते-पत्ते की नस में नवीन लाल रुधिर दौड़ निकला है। नीले-पीले आदि विभिन्न रंगों के कुसुम खिल पड़े हैं। पहले तो वे रंग विहीन थे। लगता है वसंत ने ही उनमें रंग भरा है। अचरज है फूलों के रूप में वसंत ने कितने दीप जला दिए हैं। वसंत के ओंठ लाल रंग के है। लगता है उसने गुलाब के गालों का चुम्बन ले लिया है अतः वे भी लाल हो गए हैं। पंखडियों को उसने और तरह के रंगों से सजा

दिया है—उन पर काले, पीले, नीले आदि धब्बे डाल दिए हैं। मानव ही नहीं प्रकृति अत्यंत उल्लासमयी है। कली अपने भ्रमर से मिलने के स्वप्न देख रही है, उधर भ्रमर भी कम नहीं है। वह भी चारों ओर प्रीत के गीत गुंजार रहा है गरज कि जड़-चेतन, चर-अचर सब प्रेम के तीर से बिद्ध हैं। बसंत ने समस्त संसार को प्रेम के बाणों से भर दिया है।

विशेष—वसंत में फूल खिल जाते हैं जिन पर भौंरे गुंजार कर निकलते हैं। कवि अपेक्षा करता है मानो वे प्रीति का गीत सुना-सुनाकर कलियों को उत्तेजित करते हैं। उधर कलियाँ भी भौंरों के मधुर-मिलन के ख्वाब में मस्त रहती हैं। पंत जी की कला नायक-नायिका की आँख-मिचौनी की ओर फौरन आकर्षित हो जाती है।

काली कोकिल.........................वसंत।

शब्दार्थ—घोषित=पुकारते हुए। दिगंत=दिशाएँ। पावक=अग्नि। निखिल=सब।

भावार्थ—विभिन्न रंगों के फूल खिलाता हुआ वसंत आ गया। चर-अचर के हृदय उत्तेजित हो उठे।

वसंत के आगमन के साथ-ही-साथ कोयल आ गई। वह अपने स्वर में वियोगियों के लिए अंगारे ले आई जिन्हें उसने चारों ओर बिखेर दिया। ओ प्रिये! वसंत में कितने प्रकार का सौंदर्य है। उधर कोयल मन में अंगारे दहका रही है। यह चारों ओर जो वसंत गोचर हो रहा है, वह सच पूछो तो प्रेम से भरे हुए हृदय की छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अर्थात् मेरे हृदय में जो प्रेमिका बैठी है, वसंत उसके शरीर की परछाई मात्र है।

विशेष—(१) प्रकृति का उद्दीपक रूप में चित्रण है। फूलों के खिलने एवं कोयल के स्वरों से वियोगी लोग सुलग उठे हैं। उनके लिए कोयल की पुकार में आनन्द नहीं, ज्वाला है। वियोगी पंतजी को भी अपनी प्रेमिका का स्मरण हो आता है।

(२) कवि का हृदय प्रेम से सराबोर है। लगता है जगत् में फैला हुआ वसंत हृदय का ही प्रतिबिंब है। कवि के हृदय में निवास करने वाली प्रेम-मूर्ति कितनी सुंदर होगी जिसकी छाया (वसंत) इतनी मनोरंजक है।

(३) 'पतझर' अन्योक्ति है। उसके बाद ही 'वसंत' है। किसी-किसी का मत है कि यह भी अन्योक्ति है। हो, हमें तो नहीं लगती।

३१—सृष्टि

मिट्टी का.......................सागर अपार।

शब्दार्थ—स्कंध-मूल=तना और जड़। वट के पादप=बरगद का वृक्ष, विशाल वृक्ष।

पंत जी देखते हैं कि एक छोटे से बीज के भीतर कितना विशाल वृक्ष छुपा रहता है।

मिट्टी के नीचे गहन अंधकार है जिसमें एक छोटा सा बीज डूबा हुआ है। इतने बड़े अंधकार में भी वह बीज न तो खोता है और न बेकार ही होकर मिट्टी बन जाता है। उसकी उपस्थिति वहाँ सदैव रहती है। उसके नन्हें से हृदय में शाखाएँ, पत्ते, तना, जड़ आदि सब छिपे हुए हैं। उसमें हरियाली का तो पूरा संसार ही बसा हुआ है। भाँति-भाँति के रूप-रंगों के फल-फूलों की भी उसमें कमी नहीं है। इतना ही नहीं, वह अपनी तनिक सी मुट्ठी में बरगद जैसे विशाल वृक्ष के आकार को भी बन्द किए है। बीज क्या है एक आश्चर्यमय संसार है, वह एक बूंद के समान है पर समुद्र है।

विशेष—एक तनिक से बीज में वट का कितना विशाल वृक्ष छुपा रहता है—यही कवि के आश्चर्य का कारण है। देखने में वह एक बूंद लगता है पर उसी बूंद में इतना बड़ा संसार प्रच्छन्न रहता है। प्रत्येक परमाणु में सृष्टि-निर्माण की क्षमता है।

बन्दी·························तुच्छ चीज़।

शब्दार्थ—सत्व=सत्ता, चैतन्यावस्था। क्षुद्र=साधारण। पोत=नाव, जहाज, स्थान।

मिट्टी के नीचे अतुल अंधकार में बीज छिपा रहता है। वह न तो मरता है और न खो ही जाता है। उसमें वह जैसा विशाल वृक्ष समाया रहता है।

उस तनिक से बीज में जीवन का अंकुर बन्दी रहता है जो प्रकृति के समस्त बंधनों को तोड़कर अपना शुद्ध रूप, मुक्ति प्राप्त करने को ललकता रहता है। वह जड़ता फेंक कर चैतन्य बनना चाहता रहता है। आश्चर्य है कि सृष्टि का यह रहस्य आज तक किसी की समझ में नहीं आ सका है। बीज होता ही कितना है पर उसमें विशाल वृक्ष का जीवन मचलता रहता है। मिट्टी के घने अँधेरे में एक नन्हा सा बीज दुबका रहता है। वह स्वयं प्रकाशित है—अंधकार में भी वह अपने प्रकाश से ही प्रकाशित रहता है, अतः अंधकार की इतनी पर्तों के बावजूद भी भयभीत नहीं होता। क्या अब भी आप उसे तुच्छ कह सकते है? वह तो अमरपुत्र है—अमर है।

विशेष—(१) न जाने कितने दार्शनिक सृष्टि के सृजन का रहस्य खोलने आए पर कोई भी दो दार्शनिक किसी एक विन्दु पर नहीं पहुँच सके।

(२) बीज में विशाल वृक्ष का रहस्य है। उसी भाँति ब्रह्म में समस्त संसार निहित है। एक बात और—जब प्रलय थी, वट के पत्ते पर भगवान बालक का रूप धारण किए लेटे हुए अँगूठा चूस रहे थे। उनके मुँह में झाँकने पर पता चलता था कि समस्त सृष्टि छिपी हुई है। उस बालक को, उस सृष्टि के बीज (कारण) को 'तुच्छ चीज़' फिर कैसे कहा जा सकता है? कवि के शब्दों में तो वह 'अमरपुत्र' है।

३२--कलरव (अक्तूबर '३५, युगांत)

बाँसों का ....सने।

शब्दार्थ--झुरमुट=पास-पास उगे हुए पेड़ या झाड़ जिनकी डालियाँ मिलकर कुंज-सा बना रही हों। झुटपुट=कुछ धुँधलापन, हलका-सा अंधेरा। श्रम-जर्जर=परिश्रम के कारण थके हुए। सने=भरे हुए। विधुर=दुखी, अभाव-ग्रस्त।

भावार्थ--सूर्य अभी-अभी डूबा है, धुँधलका सा छाया हुआ है--

दिनकर अपनी किरणों को समेट चुके हैं, हलकी सी अँधेरी की पर्त धरती पर बिछ गई है। ऐसे समय में बाँसों के झुरमुट में प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए पखेरू चहक रहे हैं। उनके सम्मिलित चहकने से न जाने कितने प्रकार के स्वर निकल रहे हैं। उधर दिन भर जी-तोड़ परिश्रम करके थके-माँदे श्रमिक अपने घर आए हुए हैं। ऐसा लगता है कि वे चिड़ियाँ अपने हृदय के प्रेम एवं वेदना से भरे हुए गीतों को सुना-सुनाकर थके हुए चराचर का क्लेश दूर कर रही हैं।

विशेष--'टी-वी-टी-टुट्-टुट्' शब्दों से चिड़ियों का बोलना प्रत्यक्ष हो उठता है। प्रारंभिक चार लकीरें अत्यंत विख्यात हैं। ऐसा ध्वनि-चित्रण कहीं-कहीं ही प्राप्त होता है।

ये नाप................ .... पला।

शब्दार्थ--ये=श्रम से चूर मजदूर। व्यजन=पंखा।

भावार्थ--संध्या हो चली है। बाँसों के झुरमुट के बीच बैठी हुई चिड़ियाँ मधुर स्वर में गा रही हैं।

ये मज़दूर दिन भर के श्रम से बड़ थक गए हैं और जैसे-तैसे अपने घर की ओर आ पा रहे हैं। उनके लिए जीवन में कोई आनन्द नहीं है। ज़िन्दगी उनके लिए भार स्वरूप बन गई है। चलने में इनके पैर तक लड़खड़ाते हैं। खगों के हृदय मानवता के दुग्ध से भरे हुए हैं; अतः वे अत्यन्त कृपा करके अपने गीतों द्वारा थके श्रमिकों के मनों को हरा कर रहे हैं। संध्या ने अपना स्वर्ण बिखेर दिया है, सुगंधित समीर बड़े हलके से बहकर उन पर पंखा झल रहा है जिससे कि उनकी थकावट दूर हो। इनके जोड़-जोड़ में दर्द है। हाँ, मंद पवन एवं संध्या-स्वर्ण इनमें अवश्य कुछ स्फूर्ति का संचार कर रहे हैं। प्रकृति एवं संसार का यह पारस्परिक मधुर संबंध सदा से चला आ रहा है। चिड़ियों का चहकना, वायु का बहना कविता से कम नहीं जो मानसिक एवं शारीरिक अवसाद को दूर करती हैं।

विशेष--कवि दिखलाना चाहता है कि मानव मानव का उत्पीड़न करता है, पर प्रकृति ऐसी हृदय विहीन नहीं। वह अपने खजाने को मानव के उपभोग के लिए दोनों हाथों से लुटा देती है। काव्य कला को भी ऐसा ही होना चाहिए। उसे मानव की प्रगति में सहायक होना चाहिए।

गा सके..............................रवि।

शब्दार्थ—मेरा कवि=पंत जी। विश्री=श्रीहीन, शोभारहित।

भावार्थ—संध्या का समय है। चिड़ियाँ चहककर दुखी श्रमिक की थकावट दूर कर रही हैं। संध्या की लालिमा एवं समीर का व्यजन भी पीछे नहीं।

कवि देखता है कि प्रकृति मानव के आँसू पोंछने में पीछे नहीं रहती। वह चाहता है कि मैं भी ऐसे गीत सुनाऊँ कि जीवन की संध्या में विषण्ण मानव मुस्करा उठे, नया प्रभात आ जाए, नया सूर्य उगे, मानव का नैराश्यांधकार विनष्ट हो जाए।

विशेष—(१) 'प्रभात' सुख एवं 'संध्या' दुख, बुढ़ापा के प्रतीक हैं।

(२) कवि की भावना अत्यंत ऊँची है। वह अपनी कविता से ऐसा युग बुलाना चाहता है जिसमें प्रभात हो, सुख हो, खुशी हो, गुलाब हो।

३३—मानव (ऐप्रिल '३५, युगांत)

सुन्दर हैं..........................रूप-रंग।

शब्दार्थ—विहग=पक्षी। वेष्ठित=घिरा हुआ। त्वच=त्वचा, खाल। प्ररोह=अंकुर।

भावार्थ—प्रकृति के अथक दर्शक पंत को अब प्राकृतिक सौंदर्य से विशेष मोह नहीं रह गया। अब उन्हें मानव अच्छा लगने लगा।

माना कि पक्षी सुंदर हैं, खिले हुए फूल सुंदर हैं पर हे मानव! तुम्हारा सौंदर्य सर्वाधिक है। संसार की समस्त सुंदर वस्तुओं का सार लेकर तुम्हारा निर्माण किया गया है। तुम्हारा उपमान कहाँ खोजा जाए? तुम्हारा शरीर यौवन की ज्वाला से मढ़ा हुआ है, त्वचा कोमल है। तुम सौंदर्य के अंकुर हो। तुम्हारे रूप-रंग छाया एवं प्रकाश की भाँति श्यामल एवं उज्ज्वल हैं। प्रकृति का समस्त सौंदर्य उन पर न्यौछावर है।

विशेष—(१) 'युगांत' में पंत जी के सौंदर्य-युग का अंत हो जाता है। अब उनकी कल्पना आकाश की ओर निहारने की अपेक्षा धरती देखना अधिक पसंद करती है।

(२) इन पंक्तियों पर विचार करते समय कवि नरेन्द्र लिखते हैं—"सृष्टि में अनेक सुंदर कृतियाँ हैं, किंतु मानव ही सौंदर्य की तिलोत्तम प्रतिमा है। इसी निष्कर्ष से पंतजी के मानववाद का श्रीगणेश होता है। मानव-जगत् का यही प्रवेश-द्वार है।" 'सबसे सुंदरतम' का व्याकरण पंत जी का अपना है।

धावित........................शोभन धावति।

शब्दार्थ—दौड़ती है, बहती है। कृश=दुबली-पतली। शिराओं=नसों।

लावण्य-लोक=सुंदरता का संसार। निसर्ग=स्वाभाविक, प्राकृतिक। पृथु=विशाल। प्रलम्ब=बड़े। पीनोरु=विशाल। स्कंध=कंधा। नख-शिख=नख से शिख तक, ऊपर से नीचे तक, पूर्ण।

भावार्थ—विहग सुमन सुदर तो हैं पर मानव उन सबसे श्रेष्ठ है। उसके सौंदर्य पर समूची प्रकृति का सौंदर्य न्यौछावर है।

कवि मानव को सम्बोधित करते हुए कह रहा है कि तुम वास्तव में महान हो। तुम्हारी पतली-पतली नीली नसों में मदिरा से भी अधिक उत्साहवर्धक रक्त दौड़ रहा है। तुम्हारी आँखें क्या हैं, सुंदरता के दो संसार हैं। तुम्हारी आवाज़ का तो कहना ही क्या—लगता है उसमें प्राकृतिक संगीत का सार भर दिया है। तुम्हारा वक्ष विशाल है, छाती मानो तालाब है जिसमें स्तन रूपी कमल खिले हुए हैं। लम्बी-लम्बी दृढ़ भुजाएँ प्रियतमा को प्रेम-पाश में बाँधने के लिए पर्याप्त हैं। तुम्हारा विशाल कंधा जीवन रूपी वृक्ष का तना है। तुम्हारे हाथ, पैर, उँगली सभी सुदर हैं। कहाँ तक कहें तुम ऊपर से नीचे तक सुंदरता की मूर्ति हो।

विशेष—इन पक्तियों में कवि ने मानव के वाह्याकार का चित्र खींचा है। इसे पढ़ कर 'कामायनी' के मनु की स्मृति अनायास ही हो आती है। चार पंक्तियाँ भूले नहीं भूलतीं :—

> **"अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ,**
> **ऊर्ज्वस्वित था वीर्य्य अपार,**
> **स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का**
> **होता था जिनमें संचार।"**

यौवन..........................स्वभाव-पूर्ति।

शब्दार्थ—मांसल=स्वस्थ, प्राणवान। नव युग्मों का=नए प्रेमी-प्रेमिका का। जीवनोत्सर्ग=जिन्दगी मिटा देना। आह्लाद=हर्ष। अजस्र=लगातार। पार्थिव=सांसारिक।

भावार्थ—पंतजी को अब प्रकृति की अपेक्षा मानव अधिक रुचिकर लगता है। उसके अंग-अंग में उन्हें सौंदर्य के दर्शन होते हैं।

ओ मानव! तुम में जवानी का अपार बल है। तुम्हारे शरीर में से मधुर सुगंध निकल रही है। तुम अपनी नवप्रिया पर प्राण लुटा सकते हो। उस लुटने में कितना हर्ष होता है, कितनी मधुरता रहती है? प्रथम मिलन के अवसर पर लगता है स्वर्ग धरती पर उतर आया है। उस समय नवीन आशाएँ उठती हैं, नई अभिलाषाएँ होती हैं, आकांक्षाएँ भी बड़ी-बड़ी ऊँची होती हैं, बिना रुके उद्यम करने की ललक रहती है और बड़े-से-बड़े विघ्न को ठोकर से मिटा देने का जोश होता है, अपने में विश्वास, सत् और असत् का ज्ञान, अडिग श्रद्धा एवं सत्य के प्रति अमित प्रेम-भावना रहती है। सच पूछो तो सहृदयता, त्याग एवं सहानुभूति भौतिक

सभ्यता के आधार हैं, स्वर्गीय संस्कृति की द्योतक एवं किसी के स्वभाव को पूर्ण बनाने वाली है—और यह तमाम गुण तुममें निसर्गतः प्राप्य हैं।

विशेष—(१) स्वस्थ शरीर से एक प्रकार की मधुर गंध निकला करती है। मनु के शरीर से भी निकलती थी जिस पर श्रद्धा अपनी हस्ती मिटाने को तैयार हो गई।

(२) जवानी की बाढ़ में जान दे देना साधारण-सी बात है। इतिहास कई साक्षियों को अपने हृदय में दुबकाए बैठा है। 'नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग' कोई विशेष बात नहीं।

मानव पर························तुम मानव।

शब्दार्थ—प्रत्यय=विश्वास। अन्वेषण=खोज।

भावार्थ—कवि को प्राकृतिक वस्तुएँ असुदर नहीं लगतीं पर मानव सुंदरतम लगता है।

मानवता का सच्चा विकास तभी संभव है जब एक व्यक्ति दूसरे पर विश्वास करे। इसकी अनुपस्थिति में इंसानियत का दम घुट जायगा, विकास रुक जायगा। मानव को सोच लेना चाहिए कि सब एक हैं, सब में एक ही चेतना शक्ति का दीप जल रहा है। ऐसा सोचकर ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में नई-नई खोजें करना चाहिए जिससे समाज लाभान्वित हो। ओ मानव! ईश्वर ने तुम्हारे लिए न जाने कितनी वस्तुओं का निर्माण किया है, तुम उनका पूरा लाभ उठाओ। इस दुनियाँ में तुम्हें कमी किस बात की है? पर हाँ तुम इंसान बने रहो।

विशेष—(१) दार्शनिक डा० राधाकृष्णन ने एक बार कहा था—"आदमी परिंदों के मानिंद हवा में उड़ सकता है, मछलियों के समान पानी में तैर सकता है पर उसने अभी आदमियों की भाँति ज़मीन पर चलना नहीं सीखा है।" श्री लुई फ़िशर ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ग्रेट चेलेंज' में यही बात कही है, अंतिम पंक्ति में पंतजी भी यही दुहराते हैं।

(२) एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य पर विश्वास करना अत्यावश्यक है। कम-से-कम आज की दुनिया में दो दुविधाएँ तो इसी अविश्वास के कारण हो गई हैं। पाकिस्तान-निर्माता मिस्टर जिन्ना का विश्वास में विश्वास नहीं था। उन्होंने १९४० के लाहौर अधिवेशन में प्रधान-पद से कहा, "मेरी समझ में बुद्धिमानी इसी में है कि कोई भी किसी दूसरे व्यक्ति का अत्यधिक विश्वास न करे।" उन्होंने ऐसा ही किया पर खेद कि अंत में उनका भी ऐसा ही हुआ।

३४—ताज (अक्तूबर '३५, युगांत)

हाय·····································ईश्वर।

शब्दार्थ—अमर=सदा चलने वाला। अपार्थिव=अलौकिक। विषण्ण=

दुखी। संग-सौध=संगमरमर का भवन। क्षुधातुर=भूख से व्याकुल। वास-विहीन=जिनके पास रहने को झोंपड़ी तक न हो। प्रेम-अर्चना=प्रेम की पूजा। कुत्सित=बुरा, घृणित। मोहांध=मोह में अंधे। अनश्वर=जिसका कभी विनाश न हो, अमर।

भावार्थ—संसार के एक महान आश्चर्य ताजमहल को निहारने के लिए संसार के कोने-कोने से व्यक्ति खिंचे आते हैं। कितनी ही कवियों की क़लमें उसे शब्दों में बाँध चुकी हैं। पंतजी पर उसकी जो प्रतिक्रिया हुई है वह प्रस्तुत गीत में है।

आज संसार का प्राणी कितना दुखी है। उसका जीवन तो जैसे लुट चुका है। ऐसे समय में भी मृत्यु की कभी समाप्त न होने वाली पूजा करना अत्यंत दुख की बात है। कैसा अचरज है कि जीवित व्यक्ति तो बेचारा नंगा, भूखा एवं घर विहीन रहे, असन-बसन-निवसन की समस्या से हर समय आक्रांत रहे और मृतक का संगमरमर के वैभव-शाली भवन में शृंगार होता रहे! हे मनुष्य! तुझे ऐसा हो क्या गया है जो जीवन से इतना उदासीन होकर प्रेत और छाया के पीछे दीवाना है? प्रेम का अर्थ यह तो कदापि नहीं कि हम जीवन के स्थान पर मृत्यु को गले लगाएँ और जीवित प्राणियों का शोषण करते-करते उन्हें कंकाल मात्र रहने दें। क्या यह उचित है कि मृत प्राणी के चित्र में तो हम विभिन्न भाँति के रंग भरते चले जायँ और जीवित मनुष्य को हम लाश में परिवर्तित कर दें, उसका जीवन बलपूर्वक छीन लें! इसी ताजमहल के समान और भी विगत युग की रूढ़ियाँ हमारे मोह से अंधकारमय हृदयों में समाई हुई हैं।

कैसा अफ़सोस है कि हमने जीवन का अमर संदेश भुला दिया जिसके अनुसार मरे हुए व्यक्तियों का सम्बन्ध तो मरे व्यक्तियों से ही है, जीवितों से नहीं। जीवित प्राणियों को तो अपना सम्बन्ध ईश्वर एवं उसकी विभूतियों से, जिनमें मानव सर्वोत्तम है, रखना चाहिए।

विशेष—(१) ताजमहल के प्रति कवि का यह प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। कवियों ने इस रोमैण्टिक प्रासाद के विषय में बड़ी-बड़ी रंगीन लकीरें खींची हैं, पर यह उन सबसे भिन्न है। ख्रुश्चेव ने भी ऐसी बात कही थी। उसने भी कला की इस भव्यता के पीछे से आती हुई कराहें सुनी थीं। इसका अर्थ यह नहीं कि कवि को ताज प्रारंभ से ही 'मृत्यु का अमर, अपार्थिव पूजन' लगता है। प्रारंभ में तो उसे यह ऐसा लगा था "मानो शिल्प कला ही गलाकर ढाल दी गई है।" पर 'युगांत' तक आते-आते तो कवि की विचार-सरिता अपने बहाव की पुरानी लीक बहुत पीछे छोड़ बैठी।

(२) ताजमहल को पंतजी रूढ़ियों का प्रतीक मानते हैं। रूढ़ि देखने में कितनी ही सुंदर हो पर रूढ़ि ही है, प्रगति में बाधक ही है।

(३) नरेन्द्र शर्मा के शब्दों में "इस रचना में पुरातन-प्रेम और मिथ्या सौंदर्य-

वाद के प्रति निर्वेद और विरोध की भावना है, मानव-कल्याण और वस्तु सत्य के प्रति अनुराग है, किंतु दृष्टि सौंदर्यवादी की ही है। कवि मानव को असुंदर परिस्थितियों और असुदर मानवताओं का शिकार बना हुआ देखता है, इसीलिए, उनके मन में ग्लानि और विक्षोभ का उद्रेकहोता है।

३५–नव दृष्टि (१९३८, युगवाणी)

खुल गए..........................ललाम।

शब्दार्थ—बंध=बंधन। प्रास=अनुप्रास। रजतपाश=रूपहला बंधन। अयास=अनायास, स्वच्छंद गति से, बिना किसी बनावट के। संघर्षण=संघर्ष, यथार्थ। ललाम=सुदर।

भावार्थ—कवि की भावनाएँ आमूल परिवर्तित हो गई हैं। इसके साथ-साथ अभिव्यक्ति का माध्यम भी बदल गया है। अब कवि की दृष्टि कविता की ओर सर्वथा नवीन हो गई है।

ज़माना बिल्कुल बदल गया है। कविता रचने के लिए जो छन्दों का बंधन था, वह अब समाप्त हो गया है। अनुप्रास लाने के लिए कवि को जो जमनास्टिक करनी पड़ती थी, उसका भी अंत हो गया है। कविता अब प्रत्येक बेड़ी से विहीन है। आज कल्पना दूर हो चली है; अतः कवि भी युग की समस्याओं का काव्यात्मक उच्चार करता है काल्पनिक स्वर्ग का वर्णन नहीं। जगत् के स्थूल पदार्थ ही अब कविता के विषय हैं। कवि को कल्पना की खुमारी नहीं, सांसारिक संघर्ष इन दिनों अच्छा लग निकला है।

विशेष—(१) प्रस्तुत, रचना कवि की अत्यंत विख्यात रचना है। पल्लवकालीन आकाश के पंत 'युगवाणी' में धरती के कवि बन गए। पहले कल्पना की खुमारी में ही वे डूबे रहते थे, अब जीवन-युद्ध में कूद पड़े, 'उस पार' की बात छोड़ कर 'इस पार' की ही बातें करने लगे।

(२) आदर्श अत्यंत मोहक होता है, यथार्थ कटु। उसमें तो पग-पग पर युद्ध है। प्रगतिवादी कवि को जीवन का अविरत 'संघर्षण' अब डरा नहीं सकता।

(३) 'प्रस के रजत पास' टूट जाने की घोषणा करते समय भी, हमें खेद है कि, पंत स्वयं उसमें बंधे हुए हैं। इन आठ पंक्तियों में भी अन्त्यानुप्रास रौब जमाए हुए हैं।

(४) वर्ड्सवर्थ ने कविता को 'शक्तिशाली भावों का स्वच्छंद प्रयास' कहा है। पंत जी उसी परिभाषा को अपनी चौथी पंक्ति में रेखांकित करते हैं।

सुंदर, शिव..........................सुन्दर।

शब्दार्थ—कल्पित बनावटी। माप-मान=कसौटी, माप दण्ड। एक प्राण= एकाकार। सुकर=सहज साध्य। असुंदर=कुरूप।

भावार्थ--युग बदल गया है। भाव एवं उसकी अभिव्यक्ति दोनों में आमूल परिवर्तन हो गए हैं। कल्पना की अपेक्षा अब यथार्थ अच्छा लगता है।

कला की अब तक की कसौटी सत्य शिव और सुन्दर थी। यह कसौटी अब बहुत पुरानी पड़ गई है। अब उनका आदर्श सूक्ष्म रूप यथार्थ स्थूल से एकाकार हो गया है। सत्य, शिव, सुंदर की परिभाषा अब बिल्कुल बदल गई है। आज उनकी गाँठ जन-जीवन से बँध गई है--जन-जीवन का सत्य ही सत्य, उसी का शिव, शिव और जन-जीवन का सौंदर्य ही आज सौंदर्य है। मानव का यथार्थ स्वभाव ही आज आदर्श है और यही आदर्श अपूर्ण को पूर्ण एवं कुरूप को सुंदर बनाने के लिए कटि-बद्ध है।

विशेष—(१) न जाने कितने वर्षों से कला की सर्वमान्य कसौटी सत्यं, शिवं, सुदरम् चली आ रही है। यह लगता तो उपनिषद-वाक्य है पर, विद्वानों के अनुसार आँग्ल-साहित्य के "दि ट्रू, दि गुड, दि ब्यूटिफुल" का अनुवाद मात्र है पर हमारे साहित्य में इतना घुलमिल गया है कि अब इसे पूर्ण नागरिकता प्राप्त हो गई है।

(२) भाव बदले, अभिव्यंजना के साधन बदले, उसी के साथ-साथ माँप-दण्ड भी बदल गया। आज साहित्य से जनता का जितना अधिक लाभ होता है, उसी अनुपात से वह श्रेष्ठ होता है। कला की सर्वोत्तम कसौटी जनहित है—जनहित। इस नाप से गिरा हुआ साहित्य निकृष्ट है, प्रतिगामी है, प्राप्ति का अवरोधक है। युग के साथ आदर्शों में परिवर्तन होना अवश्यंभावी है। बीसवीं शताब्दी में दूसरी शताब्दी के आदर्शों को लिए फिरना कहाँ तक उचित है ?

३६–जीव प्रसू (१९३८, युगवाणी)

शब्दार्थ--निःस्पंद = स्पंदन विहीन, मृत। निःस्वन = निस्स्व, दीन, दरिद्र। जीव-प्रसू = जीव उत्पन्न करने वाली, जननी। मर्मरित = मर्मर ध्वनि से पूर्ण। शाद्वल = नयी, हरी घास से युक्त। खचित = जड़ी हुई, लदी हुई।

भावार्थ--कल्पनावादी कवि 'युगवाणी' की ओर प्रगतिवाद की राह पर चल निकला। आकाश की ओर ताकते रहने से ठोस धरती अब उसे लाख गुनी अच्छी लगने लगी। पर अब भी कुछ ऐसे कवि थे जो कल्पनावाद को अच्छा समझते थे। ऐसे कवियों को ही संबोधित करते हुए पंतजी कहते हैं—

ओ कवि ! अब भी आकाश की ओर घूर रहे हो ? उसकी गहरी नीलिमा मृत्यु के समान रहस्यमयी है। अब भी उसी आकाश को क्यों देखते जा रहे हो जो अपलक, खुली आँखों वाला मृत्यु के नेत्र के समान है ? ज़रा सोचो तो उसमें न कोई स्पंदन है, न कोई गति है। उसमें कुछ भी तो नहीं है। ऐसे अभावमय आकाश को छोड़कर अपनी ठोस धरती को निहारो। देखो कितने जीवों का पालन करती है—वह माँ है। हरी भरी, पल्लवों की ध्वनि से पूर्ण, कुंजों वाली, भ्रमरों के गुंजन

से युक्त, कुसुमों से शोभायमान धरती को देखो। आकाश में तो कुछ नहीं है। पृथ्वी पर बड़ी कोमल घास है, वही मानो धरती माता का हरा अंचल है। सुमधुर ध्वनि करता हुआ इस पर जल बह रहा है। और भी तो निहारो--फूल खिले हुए हैं, सुगंधित समीर बह रहा है, पखेरू चहचहा रहे है, पशुगण अपनी विभिन्न बोलियाँ बोल रहे हैं। यही वह धरती है जिस पर मानव अपने चरण रखते हैं—वह मानव जिसकी ऋषियों एवं देवों तक ने वंदना की है। ओ कवि! स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर, परम पवित्र मानव की जननी इस दुखपूर्ण धरती को देखो। आकाश की ओर क्या ताक रहे हो जो शून्य है, जहाँ कुछ भी नहीं है।

विशेष—(१) प्रस्तुत रचना पंत जी की विचार-धारा को, प्रगतिवादी विचारधारा को, बहुत अच्छी तरह दिखाती है। एक वह दिन था जब कवि की कल्पना धरती की ओर तो भूलकर भी नहीं देखती थी, ऊपर ही ऊपर मँडराती रहती थी, एक दिन यह है जब वे स्वयं तो धरती की ओर देख ही निकले हैं, अन्य कल्पनावादी कवियों को भी प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह करते हैं, फटकार लगाते हैं।

(२) आकाश, आदर्शवाद एवं 'भू' यथार्थवाद मानी जा सकती है। निरे आदर्शवादी बनना, यथार्थ से दूर ही दूर रहना कवि को नहीं रुचता। स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि-जननी को पीछे करके निःस्पंद, निःस्वन आकाश की ओर क्या ताकना ?

३७—चींटी (१९३८, युगवाणी)

चींटी को··························**सुनागरिक।**

शब्दार्थ—विरल = पतली। पिपीलिका पाँति = चींटियोंकी कतार। सतत = सर्वदा। अरि = दुश्मन। वाल्मीकि = बिल। सौध = महल। धाम = घर। जन-पथ = मार्ग। डिंब सद्म = बच्चों का घर; 'डिंब' का अर्थ गर्भाशय अथवा कोलाहल है, इसके स्थान पर 'डिंग' होगा जिसका अर्थ है बालक।

भावार्थ--कवि ने बड़ी लगन के साथ चींटी को काम करते हुए देखा। वह दंग रह गया। शायद और किसी ने उसे न देखा हो अतः वह सबसे पूछता है—

क्या तुमने चींटी को देखा है ? वह जो पतली सी, सीधी, अंधकार के डोरे के समान हिलने वाली, धीमी गति से जाने वाली काली लकीर है, वह चींटियों की पंक्ति है। ज़रा देखो तो, वह किस तरह रात-दिन काम में जुटी रहती है। बिना साँस लिए वह रात-दिन एक-एक कण चुनती रहती है। उसके कितने काम हैं—गाय चराना, उन्हें धूप खिलाना, बच्चों की देखभाल करना, यदि कोई दुश्मन धावा बोल दे तो निडर होकर उसका सामना करना, सैना तैयार करना, घर, आँगन, मार्ग सबकी सफाई करना आदि आदि । उस सुन्दर बिल को तो तनिक निहारो।

उसके भीतर किला है, शहर है। कोई भी शिल्पी उसकी निर्माण-कला का नैपुण्य नहीं प्राप्त कर सकता। उस बिल के भीतर महल है, मार्ग हैं, आँगन, गायों के घर एवं अन्न आदि के भण्डार है। बच्चों के खेलने के लिए अलग घर हैं, सुन्दर शिविर, बहुत सी ड्यौढ़ियाँ एवं विस्तृत राजपथ हैं। चींटी सामाजिक प्राणी है, श्रम करके जीवन व्यतीत करती है, आराम उसे पसन्द नहीं, वह श्रेष्ठ नागरिक है।

विशेष—(१) प्रस्तुत पंक्तियों में चींटियों का इतिवृत्त मात्र है। कोई ऐसा कोमल भाव नहीं जो हृदय को छू सके। यह पढ़कर द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता स्मरण हो आती है।

(२) चींटी की प्रशंसा द्वारा कवि मनुष्य की निंदा कर रहा है। आगे की पंक्तियो में तो खैर वह बिल्कुल ही स्पष्ट हो गया है। चींटी सामाजिक प्राणी है, मनुष्य समाज का शत्रु है। चींटी कड़ी मिहनत करके अपनी रोटी कमाती है, मनुष्य बिना हाथ-पर हिलाए लूटना चाहता है। चींटी, अतः, अच्छी नागरिक है, मनुष्य, निश्चय ही नहीं।

(३) सिद्ध हो गया है कि चींटियों की भी अपनी गाएँ, सैना, घर आदि होते है।

देखो .... स्थाणु।

शब्दार्थ—जी=हृदय। चिनगी अक्षय=हमेशा चमकने वाली चिनगारी। सक्रिय=कार्यरत। स्थाणु=आलसी, जड़, स्थिर, ठूँठ।

भावार्थ—कवि चींटी की कतार देखकर अत्यधिक प्रभावित होता है। उसे उसके घर, ड्यौढ़ी, गाय आदि निहारकर आश्चर्य होता है। वह फिर पूछता है—

क्या तुमने चींटी को देखा? उसका हृदय भी तो देखो गजब का साहस है। वह भूरे बालों की कतरन से अधिक नहीं। वह बड़ी छोटी भी है। पर इससे क्या? वह समूची पृथ्वी पर बिना किसी के भय के अपने कार्य में अहर्निश जुटी रहती है। वह जीवन की ऐसी चिनगारी है जो मृत्युपर्यंत बुझने का नाम नहीं लेती। बिचारी की देह है—तिल से अधिक बड़ी नहीं। प्राण भी तो बड़े छोटे हैं, फिर भी वह एक एक दिन में मीलों चल लेती है, कभी नहीं थकती। काम करने से मनुष्यों की तरह जी नहीं चुराती। उसका शरीर किस धातु का बना है कि इतने श्रम के उपरांत भी वह जीवित रहती है। वह कण, अणु, नहीं नहीं परमाणु सी ही है पर वह ठूँठ के समान स्थिर नही, अकर्मण्य नहीं, सदैव किसी न किसी काम मे जुटी ही रहती है।

विशेष—(१) चींटियों की जिस पंक्ति को वे पहले 'काली रेखा' कहते हैं उसी को अब 'भूरे बालों की सी कतरनी' शायद उनके लिए काले और भूरे में कोई अंतर ही न हो। उन्हें प्रतिगामिता एवं प्रगतिवादिता में भी तो कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता।

(२) परमाणु सदैव सक्रिय रहता है, चींटी भी कभी ठाली नहीं बैठती। कवि

मनु की संतान के आलस्य की ओर इंगित कर रहा है।

हर मानव .... प्रकाम्य।

शब्दार्थ—अचिर = अस्थायी, जो सदा न रहे। नव्य = नवीन। तन्य = तन, प्रासाद, ढाँचा।

भावार्थ—चींटी के अथक श्रम को निहारकर कवि को मनुष्य याद आ जाता है जो आलस में ही अपना अमूल्य जीवन गुज़ार देता है। पहले वह मनुष्य को चींटी के समस्त कार्य दिखाता है, अनन्तर डाँट बताता है—

अरे मानव! चींटी की लघु देह निहार ली? तुम्हारे भी तो शरीर है—और इतना विशाल, पर वह किस काम का? क्या उसका महत्त्व लाश से किसी भी दशा में अधिक है? तुम्हें तो अपने शरीर की नुमाइश से ही समय नहीं मिलता—तुम काम क्या करोगे? शरीर की ही चिंता करते-करते तुम शरीर ही रह गए हो। तुममें दम कहाँ? प्राण कहाँ? उत्साह कहाँ? साहस कहाँ? तुम प्राणियों के सिरमौर हो पर तनिक अपने कार्यों की ओर भी तो दृष्टि-निपात करो। तुम्हें आहार, निद्रा, भय, मैथुन से फ़ुर्सत कहाँ? तुम्हें रात-दिन इन्हीं की चिन्ता रहती है, धूलि के शरीर पर तुम लुटते रहते हो। तुम मैथुन और आहार के यंत्र मात्र बन गए हो। तुम्हें धिक्कार है। बालू की इन दीवालों पर मानव-समाज का नव प्रासाद किसी प्रकार भी नहीं खड़ा किया जा सकता। क्या मानव में बस इतनी ही शक्ति है कि उसे पशु-पक्षियों के बराबर बिठाया जाय? क्या उन दोनों में वास्तव में कोई अन्तर नहीं? क्या प्राणि-शास्त्र के आधार पर तुम यही सिद्ध करने उत्पन्न हुए हो? पर मानव और पशु की वाह्य समानता ही क्यों की जाती है? उनकी आंतरिक समानता भी वांछनीय है। चींटी कितना काम करती है, मानव को भी करना चाहिए।

विशेष—(१) भर्तृहरि के अनुसार आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन पशुओं तथा नरों में समान है। मानव में बुद्धि अधिक है। पर आज क्या मानव इन्हीं चार में लिप्त रहता है, वह ज्ञान का प्रयोग नहीं करता। पंत इसीसे उसे धिक्कारते हैं।

(२) बालू की दीवाल पर छत कैसे टिक सकती है? मैथुन-आहार में लिप्त रहकर समाज का नव-प्रासाद किसी भाँति नहीं बनाया जा सकता।

(३) विज्ञान ने मनुष्य और पशु को एक ही धरातल पर खड़ा कर दिया है। पंत जी का तर्क है कि जब मनुष्य आहार, मैथुन में पशुओं की समानता करता है तो उनके से काम भी करे। चींटी के कार्य द्रष्टव्य हैं।

मानव को .... भीतर।

शब्दार्थ—आत्मोत्कर्ष = आत्मोन्नति। वर नायक = श्रेष्ठ लीडर। विधायक = निर्माता। पूर्णतन्त्र = स्वतंत्र। विधि = विधाता, भाग्य।

भावार्थ—कवि चींटी को प्रत्येक क्षण कार्य में रत देखकर मानव के आलस्य को बिना सोचे नहीं रह सका। उसने मैथुन और आहार के यंत्र को बुरी तरह फटकारा। उसने चेतावनी दे दी कि इस प्रकार नए समाज का निर्माण असंभव है।

मानव को अब ऐसे नवीन आदर्श चाहिएँ जो उसकी संस्कृति एवं आत्मोन्नति में सहायक बनें। वाह्य समानता व्यर्थ है, आंतरिक साम्य की आवश्यकता है अब तो। यदि मनुष्य में आंतरिक साम्य नहीं, उसकी संस्कृति एवं आत्मा विकसित नहीं तो वह निश्चय ही चींटी से भी गया बीता है। आत्मोन्नति बिना तो मनुष्य जड़ है, चींटी से भी निम्न—वह कम से कम चेतनायुक्त तो है। इतना ही नहीं चींटी जीवन की वाहिका है, मानव को राह दिखा सकती है, वह स्वतन्त्र है, अपना निर्माण स्वयं करती है। वह किसी की कृपा पर अवलंबित नहीं। पर मानव भी मामूली नहीं। वह तो साक्षात् ईश्वर है, अपने भाग्य का निर्माता है। बस उसे स्थाणु नहीं रहना चाहिए।

विशेष—(१) अँग्रेज़ी की एक प्रसिद्ध रचना है 'दि बिल्डर्स'। उसके अनुसार भी मनुष्य भाग्य का स्वयं निर्माता है, आर्कीटैक्ट है। वह जैसा करेगा, वैसा ही फल पावेगा।

(२) निस्संदेह कवि चींटी का अत्यधिक प्रशंसक है, पर उसकी मनुष्य पर भी चिर आस्था है। यदि मनुष्य नव संस्कृति गढ़ लेता है, आत्मा की उन्नति कर लेता है तो उसमें और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं। वह अपना भाग्य स्वयं बना लेगा। अंतिम पंक्ति में मानव के ईश्वरीकरण का आश्वासन है।

३८—दो लड़के (१९३८, युगवाणी)

मेरे आँगन .... सच्चे।

शब्दार्थ—गदबदे = गुदगुदे, स्वस्थ, मांसल। सहज = प्राकृतिक, अव्याज। छबीले = सुन्दर।

भावार्थ—दो गाँव के लड़के कवि के आँगन में खेलने आया करते हैं। उनका सौंदर्य प्राकृतिक है, बनावटीपन से विहीन। वे नंगे बदन हैं, फिर भी कवि के मन को अत्यंत भाते हैं। कवि प्रथम पुरुष में कहना प्रारंभ करता है—

मेरा घर टीले पर बना हुआ है। उसके आँगन में प्रायः दो छोटे-छोटे लड़के खेलने के लिए आ जाया करते हैं। उनके शरीर पर वस्त्र नहीं होता, साँवले रंग के स्वस्थ, धूल से सने हुए, स्वाभाविक छवि उन पर होती है। उनमें फुर्ती बहुत होती है। वे बड़ी शीघ्रता से टीले के नीचे उतर जाते हैं और मेरे कूड़े के ढेर में पड़ी हुई रंग-बिरंगी तसवीरें, पत्रिकाओं के रंगीन कवर, सिगरेट के खाली डिब्बे, चमकीली पन्नी आदि ले जाते हैं। इन वस्तुओं को पाकर वे हर्ष से विभोर होकर बन्दर के समान प्रसन्नता से उछल पड़ते हैं। उनके लिए यह वस्तुएँ महान् निधियाँ

हैं। उनकी उम्र छः-सात साल से अधिक नहीं होगी। ऊँचाई विशेष नहीं। वे स्वस्थ बालक इन निधियों को लेकर आँगन में से दौड़कर अपने घर की राह लेते हैं। थोड़ी ही देर के अनंतर वे दिखाई नहीं देते। उनकी निर्वस्त्र देह बड़ी सुंदर लगती है, मन और आँखों को मोह लेती है। यह सोचकर कि वे नंगे, साँवले, धूल भरे हैं तो क्या है, हैं तो मानव, हृदय में उनके प्रति अपनत्व जाग उठता है। इससे कुछ नहीं कि वे पासी जाति के बच्चे हैं पर हैं तो मुझ जैसे मनुष्य ही। उनका रोम-रोम सच्ची मानवता के साँचे में ढला हुआ है।

विशेष--(१) 'पासी' एक अस्पृश्य जाति होती है जिसका पेशा सुअर पालना तथा ताड़ी उतारना है। सवर्ण हिन्दू उनसे दूर रहते हैं पर कवि को उनसे भी स्नेह है। बालक ईश्वर के अवतार माने गए हैं।

(२) कवि अब मानववादी है। उसके लिए सब मानव समान हैं। काश कि उसकी यह प्रगतिवादिता कुछ टिकाऊ होती।

(३) प्रगति-युग में भाव के साथ-साथ भाषा भी पूर्णतया बदल गई। काव्य के विषय अब घूरे में से चुने जाने लगे। कूड़ा-करकट 'सुन्दर निधियाँ' बन गया। भाषा भी जन-भाषा बन गई।

(४) 'सिगरेट के खाली' से प्रारंभ होने वाली दो पंक्तियों का उद्धरण बहुत दिया जाता है।

अस्थि माँस........................धरा पर।

शब्दार्थ—अधिवास=वास स्थान। नश्वर=नाशवान्, विनाशशील। वह्नि=अग्नि। उल्का=रात में आकाश से टूटकर गिरने वाला तारा। लोकोत्तर=अलौकिक। परित=पूर्ण।

भावार्थ—कवि के आँगन में पासी के दो बालक अकसर आ जाते हैं। वे नंगे गदबदे, मटमैले होते हैं पर कवि को उनसे बड़ा प्रेम है। यह सोचकर कि वे भी मानव ही हैं, अपनत्व की भावना जागृत हो उठती है।

इस संसार का निर्माण हाड़-मांस के पुरुषों के ही लिए हुआ है, किसी आत्मा के लिए नहीं। आत्मा तो सूक्ष्म और अमर है। हमारे संसार की प्रत्येक वस्तु स्थूल और मरणशील है। मेरे लिए नश्वर हाड़-माँस के सामने अनश्वर आत्मा कुछ भी नहीं। मैं उसे इस पर न्योछावर करता हूँ। संसार में रहने का अधिकार उसी को है जो दुर्बल है, सबल व्यक्तियों के लिए तो स्वर्ग है। प्रकृति दयाहीन है। वह संसार को आग, बाढ़, उल्का, भीषण झंझा के रूप में क्लेश ही देती रहती है। मानव का कोमल शरीर ऐसे में कैसे रह सकता है? वह तो बड़ी आसानी से विनष्ट हो जाता है। मनुष्य को, इसीलिए, संसार में सुखपूर्वक रहने के लिए उचित साधन वांछनीय हैं। फिर मनुष्य आपस में मिलकर एक श्रेष्ठ मानवता क्यों नहीं निर्मित कर लेते? पृथ्वी पर पारस्परिक सहयोग से मानवता का श्रेष्ठ महल खड़ा हो जाय। इस प्रकार

मानवता का साम्राज्य पृथ्वी पर हो जाय जिससे उसके कल्याण में सन्देह न रह जाय। मैं चाहता हूँ कि मानव जितने क्षणों तक संसार में रहे, भय-विहीन रहे, उसकी कामनाएँ पूर्ण होती रहें, कभी संघर्ष न हो। यदि जीवन की धार इस प्रकार सरल गति से बह निकले तो फिर क्या है, साक्षात् स्वर्ग ही यहाँ उतर आएगा और मानव ईश्वर बन जायगा।

विशेष—(१) प्रथम सोलह पंक्तियों में तो कवि उन दो बच्चों का यथार्थ चित्र खींचता है, अंतिम सोलह पंक्तियों में वह उन बालकों को भूल जाता है, आत्मा एवं भौतिक शरीर के विषय में सोच निकलता है। उसे भौतिक शरीर के समक्ष आत्मा कुछ भी नहीं लगती। अरविंद के प्रभाव से कवि क्या हो गया—यह कहने की आवश्यकता नहीं।

(२) कवि को मानव और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं, अतः वह उसे 'मानव ईश्वर' से संबोधित करता है।

(३) बाइबिल के अनुसार भी संसार दुर्बलों के लिए ही है—"दीन-दुर्बल ही धन्य है क्योंकि वे भू के उत्तराधिकारी होंगे[१]।"

(४) यदि संसार के मानव प्रेम से पास-पास रह सकें, सहअस्तित्व का सिद्धांत मान लें, साम्राज्य शोषण के लिए न होकर हित के लिए हो तो यही धरा स्वर्ग बन जाए।

३६. झंझा में नीम (१६३८, युगवाणी)

सर सर..................................अर।

शब्दार्थ—श्वसन=साँस, हवा। निर्झर—झरना।

भावार्थ—तेज़ पवन आ गया है, नीम हिल उठा है। कवि उसी का रिकार्ड बजाता है—

आँधी चल निकली है। नीम के लम्बे पतले एवं चंचल पत्ते पवन के गुदगुदाने पर पुलकित होकर हिल-हिल उठते हैं उनसे सर-सर ध्वनि निकलती है जो बड़ी कोमल होती है, रेशमी होती है। वृक्ष की चोटी से लेकर धरती तक सैकड़ों मिली-जुली ध्वनियाँ छा जाती हैं। प्रतीत होता है मानो वृक्ष के शिखर से ध्वनि का झरना फूट पड़ा। नीम के कंपन का तो कहना ही क्या?

विशेष—(१) इस कविता में नीम के हिलने की आवाज़ शब्दों में बाँध दी गई है। 'सर् सर् मर् मर्' से लगता है कोई नीम का वृक्ष पवन के कोप से झुका जा रहा है, टूटा जा रहा है।

---

१. 'गॉस्पेल ऑव सेंट मैथ्यू'—सरमन ऑव द माउण्ट (किंग जेम्स का अनुवाद) अध्याय ५

(२) आवाज़ ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर जा रही है। उसे झरना कहना कितना कवितामय है।

(३) प्रसन्नता से मनुष्य के रोम हिल निकलते हैं। प्रिया के स्पर्श से वे एक-दम ऊपर उठ जाते हैं। नीम के पत्ते ही उसके रोम हैं जो समीर के तनिक से स्पर्श से हिल उठते हैं।

झूम झूम.............. ....पल।

शब्दार्थ—भीम=बलवान, विशाल आकार वाला। निखिल दल=सब पत्ते। दरित=भीत, डरपोक।

भावार्थ—पवन आ गया है। नीम झुक-झुक जाता है। उसमें से रेशमी आवाज़ निकल रही है। ऐसा लगता है नीम की चोटी से आवाज़ का झरना बह निकला है।

आँधी के आ जाने के कारण नीम का भीमकाय वृक्ष झूम-झूम कर झुक-झुक जाता है। थर् थर्, सर् मर्, चर् मर् ध्वनि उससे निकल रही है। वायु के लगातार चलने से नीम के तमाम पत्ते लगता है भय के कारण एक जगह इकट्ठे हो गए। उनसे जो आवाज़ निकल उठी है, लगता है वह किसी धातु के पात्र से निकल रही है। और तब ? तब पीले, दुर्बल और भयभीत पत्ते चुपचाप आहें भरकर हर क्षण नीचे गिरते रहते हैं।

विशेष—जब किसी को भय होता है तो वह छुप जाता है। वहाँ भी यदि भय उसका पीछा नहीं छोड़ता तो वह पीला पड़ जाता है और आखिरकार गिर पड़ता है। पत्तों को हवा का भय है वे पहले तो आपस मे इकट्ठे हो जाते है। इतने पर भी हवा जब उनका पीछा नहीं छोड़ती तो वे बेचारे भय से थर थर काँप निकलते हैं और अंत में ज़मीन पर गिर पड़ते है।

४०. याद (जुलाई '३६, ग्राम्या)

विदा हो..............................अंतर।

शब्दार्थ—विनत=नीचा किए हुए। दुकूल=आँचल। सक्रिय=चलायमान, क्रियाशील। अन्तर=हृदय।

भावार्थ—संध्या हो गई है, कोई रुग्णावस्था में शैया पर पड़ा हुआ न जान क्या-क्या सोच रहा है।

संध्या अपने झुके हुए मुँह पर झीना-सा अंचल डालकर विदा हो गई है। मेरा अकेला सा आँगन प्रिया की स्मृतियों से पूर्णतया भर गया है। आकाश आषाढी मेघों से भरा हुआ है। उन मेघों की साड़ी का सुनहरी छोर अब भी क्षितिज पर फहरा रहा है। मैं बरामदे में लेटा हुआ हूँ मेरी गाँठ-गाँठ में दर्द है। मेरे आसपास इस समय कोई नहीं है। आषाढ़ के बादल ही बस मेरे साथी हैं जो मेरी ही भाँति विषाद से भरे हुए हैं। करुणा से भरा विषाद सक्रिय है जो मेघों की भाँति ही उमड़-उमड़

कर भावी के विभिन्न स्वप्नों से मेरे हृदय को भरकर व्यथित कर रहे हैं।

विशेष—(१) प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन है। अकेले में लेटे हुए, और वह भी तब जब बीमारी हो, मन में भाँति-भाँति के भावों का उठना नैसर्गिक है। उसे अपने बहुत से उन कार्यों का स्मरण हो आता है जिन्हें वह पूरा नहीं कर सका। यह सोच-सोचकर रोगी को बड़ा दुख हो रहा है पर भविष्य में पूरा करने की आशा से कुछ शांत हो जाता है।

(२) रोगी अपने आँगन के जिस स्थल को निहारता है प्रिया की स्मृति से भरा हुआ पाता है अर्थात् यहाँ पानी की गागर रखा करती थी, वहाँ नाचा करती थी, उधर से संकेत दिया करती थी आदि आदि। 'आँगन' का अर्थ हृदय भी हो सकता है। हृदय में स्मृतियाँ भर गईं।

(३) सूर्यास्त के कुछ देर बाद तक आकाश लाल बना रहता है वह ही मानो संध्या का 'केसरी दुकूल' है।

मुखर...............................अम्बर।

शब्दार्थ—उत्कंठित = तीव्र इच्छा से, ललक से। दादुर = मेंढक। भेकी = मेंढकी। वर्ह = मोर का पंख। केकी = मोरनी।

भावार्थ—संध्या हो गई है, रोगी बरामदे में बैठा हुआ किसी की याद में विह्वल है। बरसात की प्रतिक्रिया निहारकर उसका मन उससे छूटा जाता है।

आषाढ़ का महीना है पानी पड़ रहा है, रोगी निहारता है कि विरहाकुल मेंढक मेंढकी को पुकार रहा है, मेघ देखकर मोरनी मस्त हो गई है जिसे मनोहर नृत्य दिखा दिखाकर मोर लुभा रहा है। मेघों से लदा हुआ आकाश बिजली की कोंध से थोड़ी-थोड़ी देर बाद ही प्रकाशित हो उठता है। मेरे वियोगी हृदय में भी प्रेयसी की याद कुछ प्रकाश कर जाती है अन्यथा अंधकार ही अंधकार है। मेघ पहले जोर से गर्जन कर निकलते हैं जिससे धरती के हृदय में धड़कन हो निकलती है, उच्छ्-वास उठ निकलते हैं। इसी समय वर्षा प्रारंभ हो निकलती है। ऐसा लगता है मानो सारा आकाश धरती से गलबाहीं करने के लिए सैकड़ों धाराओं के रूप में उतर आता है।

विशेष—(१) पंतजी, जैसा कि मैंने पहले कहा, रीतिकाल में उत्पन्न होने योग्य थे। उन्हें रह-रह कर अभिसार याद आता है। जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिलता है स्त्री-पुरुष का संभोग दिखा देते हैं। कुछ नहीं बना तो प्रस्तुत पंक्तियों में आकाश और धरती का ही मिलन दिखा दिया।

(२) प्रेमी अपनी प्रेयसी को पहले राजी करता है, उसमें कामेच्छा उत्पन्न करता है, तब कहीं कुछ करता है। मेघ भी पहले गर्जे; धरती की छाती उच्छ्वसित हो गई—और तभी वे उससे मिलने नीचे उतर आए।

(३) आसाढ़ के महीने के प्रकृति के मधुर मिलन-व्यापार रोगी की क्या दशा

कर देते होंगे—यह कहीं लिखी जा सकती है।

भीनी भीनी························निश्चल।

शब्दार्थ—शत=सैकड़ों। विह्वल=व्याकुल।

भावार्थ—संध्या हो चली है, आषाढ़ का महीना है, रोगी अकेला बरामदे में लेटा हुआ है। प्रकृति में इधर-उधर मधुर मिलन होता देख उसे प्रिया का स्मरण हो आना नैसर्गिक है।

पानी पड़ जाने से, आकाश और धरती के मिलन से, ज़मीन से भीनी-भीनी गंध निकल रही है। यह मेरी साँस के सहारे जब हृदय में पहुँचती है तो मेरा हृदय और भी अधिक विह्वल हो जाता है। नए आषाढ़ की संध्या है, चारों ओर मेघ का रेशमी अन्धकार छाया हुआ है। ऐसे में मैं अकेला खाट पर लेटा हुआ हूँ। मेरे मन में न जाने कितने-कितने भाव उठ रहे हैं। बीच-बीच में चपला की भाँति तुम्हारी याद चमक जाती है जिससे मेरे हृदय में सदैव वास करने वाली तुम्हारी मूर्ति और भी अधिक उभर आती है।

विशेष—वह तो बेचारा रोगी था, साबित आदमी भी विरह मे, असाढ़ की बूँद पड़ते ही, दुःखी हो जाता है। महाकवि कालिदास का यक्ष 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' कितना दुःखी हो गया था। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी सीता के वियोग में चीत्कार कर उठे थे—

"घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥"

वाल्मीकि के राम की भी यही दशा थी।

(२) 'विरह' और 'स्मृति' दोनों का अस्तित्व होना अत्यन्त दुःखदायी है। यदि इनमें से एक ही न होता तब भी जीवन-कुसुम इतना कंटकमय न होता। 'हरि-औध' जी की गोपियों ने इसीलिए तो शिकवह किया था—

"यदि विरह विधाता ने रचा विश्व में था,
तो स्मृति रचने में कौन-सी चातुरी थी?"

४१—महात्मा जी के प्रति (दिसंबर' ३९, ग्राम्या)

निर्वाणोन्मुख························साधारण।

शब्दार्थ—निर्वाणोन्मुख=नाशोन्मुख, बुझने ही वाला। शिखोदय=दीपक की शिखा, लौ। प्लावित=भरा हुआ, व्याप्त। दिगंचल=दिशाओं के अंचल, दूर-दूर तक। अभिभव=दमन, मिटना, पराजय। प्रतीक=चिह्न, परिचायक। नर वरेण्य=श्रेष्ठ मानव।

भावार्थ—युग-पुरुष गांधी पर प्रत्येक कवि ने अपनी श्रद्धा के कुसुम अर्पित किए हैं। पंत ने भी उनके प्रति कई स्थलों पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई है। उनकी श्रद्धांजलि

में यत्र-तत्र विरोध-कथन भी पाया जाता है।

जब दीपक बुझने को होता है उसका प्रकाश अत्यन्त तीव्र हो जाता है। पंतजी गांधी जी को वैसा ही दीप मानते हैं। वे नाशोन्मुख आदर्शों के अन्तिम प्रकाश हैं। जिनसे देश-देशांतर आलोकित हो उठे हैं। अब वह प्रकाश, वह लौ, आदर्श की वह शिखा समाप्त होने ही वाली है। बीते युग के आदर्शों के विनाश में ही मानव-आत्मा की जय है। महात्मा जी की इसमें पराजय तो है, पूर्ण सफलता नहीं है पर वह विजय से भी अधिक ज्योति प्रदान करने वाली है। गांधी जी को संबोधित करते हुए कवि पुनः कहता है—तुम मानव-आत्मा के प्रतीक हो। मानवात्मा कितनी महान् हो सकती है—इसका अनुमान तुम से लगाया जा सकता है। तुम आदर्शों से भी बड़े हो। तुम्हारे आदर्श महान् हैं; अतः तुम भी महान् हो। तुम्हारा यश अमर है, चिर है, सनातन है, चिरंतन है। तुमने अपने लिए कोई सिद्धि नहीं की, तुमने जो कुछ भी किया संसार के लिए किया। तुमने जनता के लिए अमृत दे दिया और स्वयं विष पी गए। हे नरश्रेष्ठ! आज तुम जीत लिए गए हो और साधारण जन आज विजयी है।

विशेष—कवि महात्मा जी को प्राचीन आदर्शो का समर्थक बताता है। उसे विश्वास है कि पुराने आदर्श गांधी जी के साथ ही समाप्त हो जाएँगे। जनवादी युग में प्राचीन आदर्शों का क्या मूल्य? उनका तो मिट जाना ही अच्छा—और गाँधी जी के उपरांत वे मिट ही जाएँगे, अतः कवि को प्रसन्नता है। नवीन संस्कृति के निर्माण में ही जनता सुख का अनुभव करेगी। गांधी जी की असफलता, इसीलिए, उनकी सफलता से श्रेष्टतर है।

(२) 'अंतिम दीप शिखोदय' का एक अर्थ तो ऊपर ही दिया जा चुका है एक दूसरे अर्थ की भी ध्वनि निकलती है। जैनियों में कई तीर्थंकर हुए हैं, महाबीर उनमें अंतिम थे। उन्हें हम 'अंतिम दीप शिखोदय' कह सकते हैं। अर्थात् वे महान् व्यक्तियों की परंपरा में 'अंतिम' थे, उनके उपरांत ऐसा कोई नहीं हुआ? तो उस परंपरा में गाँधी जी 'अंतिम' हैं? यह भविष्यवाणी तो अत्यंत अरुचिकर है!

युग-युग की ························ निर्मित।

शब्दार्थ—सार सनातन=स्थायी सार, अमर तत्त्व। पदाघात=पैर की ठोकर से। दुर्दम=अडिग, अचल। ध्रुव=अचल। नखशिख=आमूल, पूर्ण। विकसित=सर्वत्र फैला हुआ, सर्वव्याप्त। व्यक्तिवाद=डिक्टेटरशिप, जहाँ एक ही व्यक्ति की इच्छा कानून मानी जाती हैं, जनवाद का विलोम। पराभव=विनाश। सौध=महल। वर्ग व्यक्ति=जनता। स्वर्ण-पाश=सोने जैसे आकर्षक बंधन।

भावार्थ—कवि पंत गांधीजी को 'अंतिम दीप शिखोदय' कहते हैं। उनके अनुसार महात्मा जी की हार-विजय से अधिक कल्याणकारिणी हुई। कवि गांधी

जी को संबोधित करते हुए पुनः कहता है--

तुमने विगत ज़माने की तमाम संस्कृतियों के अमर तत्त्व को चुन-चुनकर संसार के कल्याण के लिए एक नई ही संस्कृति गढ़नी चाही । तुम्हारी संस्कृति के उस वैभव को साम्राज्यों ने मिल जुल कर ठुकरा दिया । उनके द्वारा तुम्हारा आदर्श, तुम्हारी अहिंसा, तुम्हारी संस्कृति ठुकरा दी गई । पर इससे लाभ ही हुआ । जन-साधारण में एक नई ही चेतना जाग्रत हो गई । उनके हृदय मोह-मुक्त हो गए । भारत दूसरों द्वारा सताया हुआ देश है । तुम उसी भारत के ऐसे नेता हो जो किसी के दबाए नहीं दबते । तुम ध्रुव के समान अविचल हो, अत्यंत धैर्यवान हो । भारतीय जाति में कोई जीवन नहीं रह गया था, कोई उत्साह शेष नहीं था । तुमने अपनी आत्म-शक्ति द्वारा उसे बल प्रदान किया । संसार की सभ्यता का आमूल परिवर्तन अवश्यं-भावी था । तुम्हारे रामराज्य का आदर्श व्यर्थ नही गया । व्यक्तिवाद संसार में बहुत बढ़ गया था । आप द्वारा उसका विनाश निश्चित था । विश्व का सामंतवाद अब अधिक जीने योग्य नहीं रह गया था, अब वह खण्डहरमात्र रह गया था । हे भारत के हृदय ! तुम्हारे साथ संसार का विगत सांस्कृतिक हृदय बिखर गया । पिछले युग की संस्कृतियों एवं आदर्श का विनाश सुनिश्चित था क्योंकि उनके भवन व्यक्तिवाद की नींव पर खड़े थे, जनवाद की आधारशिला पर नहीं । व्यक्तिवाद के पिछले सुनहरे आदर्श बंधन थे जो अब समाप्त हो रहे हैं । आज तो मानव में चेतना जाग्रत हो गई है जिससे वह सर्वथा नवीन मानवता के निर्माण में कटिबद्ध है ।

विशेष—मध्ययुगीन संस्कृति व्यक्तिवादी संस्कृति थी । आज के युग में उसका क्या मूल्य ? आज तो जनवाद का युग है, फलतः संस्कृति भी जनवादी ही वांछनीय है । युगों-युगों से चली आ रही व्यक्तिवादी संस्कृति, सभ्यता जंजीर के समान थी—सोने की ही सही । उसकी कड़ियाँ आज तड़ातड़ टूट रही हैं । गांधी जी उसी व्यक्तिवादी संस्कृति के प्रतीक थे ।

किए प्रयोग ························पावन ।

शब्दार्थ—भावादर्श=भावात्मक आदर्श, क्रियात्म नहीं, कल्पित स्वप्न । अधोमूल=जिसकी जड़ें नीचे की ओर हों । अश्वत्थ=पीपल । वस्तु विभव= भौतिक उन्नति । पोषित=पला हुआ । शोषित=चूसा हुआ ।

भावार्थ—गांधीजी को कवि 'निर्वाणोन्मुख आदर्शों के 'अंतिम दीप शिखोदय' बतलाता हुआ कहता है कि संसार की जीत उनकी हार में हुई । आज मध्ययुगीन व्यक्तिवादी संस्कृति समाप्त हो रही है । उसके स्थान पर नव मानवता पनप रही है । कवि गांधीजी को पुनः संबोधित कर रहा है--

तुमने नीति के सत्यों के जन जीवन पर अनेक प्रयोग किए पर सामूहिक जीवन का हित उनसे तनिक भी न हो सका । सत्य, अहिंसा आदि कई आदर्शों को तुमने जनता पर आजमाया पर सब व्यर्थ । यह संसार तो पीपल के उस क्ष के समान

है जिसकी जड़ें धरती में दूर तक फैली हुई है एवं जिसकी अनेक शाखाएँ संस्कृतियाँ हैं। समय आने पर उसकी शाखाओं में भी नवीन कोपलें फूटती हैं फिर भला संसार उसी सत्य, उसी पुराने अहिंसा के आधार पर कैसे चलता रहता ? एक दिन वह था जब आत्मोन्नति ही सबसे बड़ी उन्नति थी, पर आज तो भौतिक उन्नति ही से जन-साधारण की उन्नति संभव है। पर इसके साथ-साथ एक बात और—तुम यदि भौतिकवाद का भी आह्वान करते तो सबसे पहले तुम्हारा भारत ही, जो भौतिक वस्तुओं के अभाव में दुःखी है, तुम्हारा विरोध करता। भारतवासी तो मध्ययुग की नैतिकता में पले हैं, उन्हीं के कारण उनका शोषण हुआ है। पर जब तक भारतवासी यह विश्वास न कर लें कि वे भावात्मक मध्ययुगीन आदर्श खोखले हैं, सारहीन हैं, हानिकारक हैं तब तक वे उन्हें नहीं त्याग सकते।

हे मानव सत्य की खोज करने वाले ! तुम्हारे द्वारा सत्य की खोज सफल रही। तुमने यह सत्य सामने रखा कि धर्म, नीति के सिद्धांत, शास्त्र, दार्शनिक मत-शासन विधान सदा बदलते रहते हैं। युग-परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ही साथ यह सब भी बदलते रहते हैं। मानव के गुण; संसार के नाम, रूप सब परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। युग बदल जाय और शास्त्र, दर्शन, धर्म, नीति आदि के मानदण्ड पुराने ही चले आवें—यह सर्वथा असंभव है।

तुम पूर्ण पुरुष हो, तुम पूर्ण विकसित हो, तुम सर्वगुण सम्पन्न हो, महान अहिंसक हो। संसार के पूज्य महात्मन् ! तुम्हारी मुक्ति के साथ-साथ संसार के जन-साधारण भी मुक्त हो गए। तुम अपने मन की आँखों से मानव के भविष्य को अपलक निहार रहे हो। तुममें वह शक्ति है। तुम्हारे श्री चरणों से धरा पवित्र बन गई है—तुम धन्य हो।

विशेष—(१) कवि का मन अभी अस्थिर है। गाँधी और मार्क्स में वह किसे स्वीकार करे, यह वह अभी नहीं सोच पाया। इसका फल यह हुआ कि उनकी रचनाओं में अंतर्विरोध के दर्शन होते हैं। कहीं गाँधी की विजय हुई है, कहीं उनकी हार ही अच्छी है। कहीं-कहीं तो उसने इतिहास की भौतिक व्याख्या ज्यों की त्यों स्वीकार करली है। 'युग वाणी' की 'मार्क्स के प्रति' की दो पंक्तियाँ देखिए—

> **"विकसित हो, बदले जब-जब जीवनोपाय के साधन,**
> **युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।"**

यही बात प्रस्तुत रचना की 'युग स्थितियाँ' से प्रारंभ होने वाली पंक्तियों में है। 'युग वाणी' में ही उसने कभी बापू को नमस्कार किया है :

> **"बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेज राशि आह्वान,**
> **हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।"**

और कभी मार्क्स को सलाम झुकाया है—

"धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।"

कभी उसे अहिंसा इष्ट है—

"नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जनक्षय,
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।"

पर प्रस्तुत रचना में वे भावादर्श सिद्ध नहीं कर सके। अन्यत्र भी अहिंसा उन्हें 'इष्ट' के साथ-साथ 'बंधन' लगी—

"बंधन बन रही अहिंसा आज जनों के हित।"

'उत्तरा' की भूमिका में उसे गाँधीवाद और मार्क्सवाद का गठबंधन प्रिय है। कवि का यह अन्तर्विरोध स्पष्ट कहता है कि पंतजी कभी-कभी जो दार्शनिक का गंभीर चेहरा अपने मुंह पर रख लेते हैं वह नितान्त भ्रामक है। उनके पास दर्शन के रूप में देने के लिए कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं। पर इस प्रयत्न में वे गाँठ का और गँवा देते हैं—और वह है उनका हृदय को स्पर्श करने वाला, अक्षय प्रभाव छोड़ जाने वाला, कल्पना के अछोर लोक में पहुँचा देने वाला कवित्व। यदि पंतजी प्रस्तुत पंक्तियों जैसी तुकबन्दी न करते तो हिन्दी का बड़ा लाभ था पर बुजुर्गों की महफिल में स्थान स्थान पाने की होंस में वे युवकों की महफ़िल की अपनी सीट भी खो बैठे।

(२) श्रीमद्भगवद्गीता में भी संसार को अश्वत्थ माना है पर उसका मूल ऊपर है, पंत जी के वृक्ष का नीचे। पंचदश अध्याय के प्रथम से छठे श्लोक तक संसारवृक्ष का ही वर्णन है।

४२—भारत माता (फरवरी '४०, ग्राम्या)

भारत माता ··············· तरु तल प्रवासिनी।

शब्दार्थ—दैन्य जड़ित=गरीबी से जड़ बन गई है। विषण्ण=दुःखी। प्रवासिनी=पराई, दूसरे घर की। तरु तल=वृक्ष के नीचे। निवासिनी=रहने वाली।

भावार्थ—उन दिनों भारत परतंत्र था। उसकी दशा निहारकर हृदय भर आता था। फिर भावुक कवि का तो कहना ही क्या ? वह उसका हू-बहू चित्र खींचता है :—

भारत माता गाँव में रहने वाली है। वह निर्धन है। उसका आँचल धूल से भरा हुआ मैला है जो खेतों में फैला हुआ है। दुःख के मारे उसकी आँखों से निरंतर आँसू बहते रहते हैं। गंगा-यमुना मानो वही आँसू हैं। वह मिट्टी की प्रतिमा के समान उदास रहती है। उसमें कोई जीवन नहीं, कोई उत्साह नहीं। दीनता के कारण उसकी चेतना विलुप्त हो गई है। वह खामोशी के साथ एकटक दृष्टि से नीचे की ओर निहार रही है। उसके ओठों पर मुस्कराहट के स्थान पर मौन रुदन फैला

हुआ है। वह न जाने कब से दुःख भोग रही है, अतः उसका मन भारी-भारी है। उसके अपने घर पर दूसरे का अधिकार हो गया है। वह बेचरी प्रवासिनी का जीवन बिता रही है।

विशेष=(१) रचना १६४० की है जिसमें गुलाम भारत का चित्र खींचा गया है। 'प्रवासिनी' शब्द के अतिरिक्त और सब बातें आज भी ज्यों की त्यों हैं।

(२) भारत को दुर्भाग्य से 'माता' कहने की परम्परा न जाने किस दिन प्रारम्भ हुई! उसका प्रस्तुत रचना में मानवीकरण है। खेत ही उसका अंचल है, गंगा-यमुना उसके नेत्रों से बही हुई जल-धाराएँ हैं। उसका घर अँग्रेज़ों के अधिकार में है; अतः वह 'प्रवासिनी' है; उसकी 'घर मँह भयो बिदेस' की दशा है।

तीस कोटि··················शरतेन्दु हासिनी।

शब्दार्थ—क्षुधित=भूखे। तरु तल निवासिनी=वृक्ष के नीचे रहने वाली, गृह विहीन। स्वर्ण शस्य=पकी खेती। पर पद तल=दूसरों के पैरों के नीचे। लुंठित=कुचली हुई। सहिष्णु=सहनशील। कुंठित=खिन्न, दुखी। शरतेन्दु हासिनी=शरद के चन्द्रमा के समान शुभ्र हँसी वाली।

भावार्थ—भारत की सच्ची आत्मा गाँवों में बसती है। वह युग-युग से प्रपीड़ित है, अतः दुख के मारे उसकी निगाह नीचे झुकी रहती है।

भारत की तीस करोड संतान बिना वस्त्र के है। वह आधा पेट खाकर गुज़र करती है, वह विदेशियों द्वारा चूस ली गई है। वह मूर्ख, असभ्य, अपढ, निर्धन है। भारत ने इसी दुख के कारण अपना भाल झुका लिया है। उसके निवास करने के लिए घर कहाँ? वह तो बेचारी वृक्षों की छाया में अपनी ज़िन्दगी गुज़ार रही है।

उसकी भूमि बड़ी उपजाऊ है, पर उसकी पकी हुई समस्त खेती विदेशी पैरों द्वारा रौंदी जा रही है। भारत की सहनशीलता जग प्रसिद्ध है, पर आज उसका मन अत्यंत दुखी है। अनवरत रोते रहने के कारण उसके ओंठ अब भी काँप रहे हैं। ओठों की मुस्कान आज ख़ामोश है। शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान शुभ्र हँसी वाली हमारी भारत माता आज पारतंत्र्य राहु द्वारा ग्रस ली गई है।

विशेष—(१) भारत की जनसंख्या चालीस कोटि है, तीस कोटि नहीं, पर संभव है कवि ने सोचा हो कम से कम दस कोटि तो 'तरुतल निवासी' नहीं है। दोनों बातें ही ग़लत हैं।

(२) क्षमावान् एवं सहनशील धरती के समान और कोई नहीं है। भारतीयों की सहनशीलता भी गर्व की वस्तु है पर अनबरत उत्पीड़न धैर्य का बाँध तोड़ ही देता है।

चिंतित भृकुटि··················विकासिनी।

शब्दार्थ—भृकुटि=भौंह। तिमिरांकित=अंधकार युक्त। नमित=झुके हुए। आनन श्री=मुख की शोभा। छाया शशि=वह चंद्र जिस पर मेघ (दुख)

की छाया पड़ी हुई हो। ज्ञान मूढ़=ज्ञान विहीन, किंकर्तव्यविमूढ़। गीता प्रकाशिनी=ज्ञान देने वाली, संसार को कर्तव्य का पथ दिखाने वाली। स्तन्य=स्तन का, दूध। सुधोपम=अमृत के समान।

भावार्थ—भारत की दशा अत्यंत दयनीय है। उसकी शस्य श्यामला भूमि आज दूसरों के पैरों के नीचे है और वह अपने ही घर में प्रवासिनी का जीवन व्यतीत कर रही है।

भारत का क्षितिज आज अंधकार से भरा हुआ है, भौंहें चिंता से काली पड़ गई हैं। पानीयुक्त मेघों से भरा हुआ आकाश मानो उसके झुके हुए अश्रुपूर्ण नेत्र हैं। उसका मुख खिले हुए चंद्र के समान था पर आज उस पर दुख की छाया पड़ गई है। आज वह श्रीविहीन है। किसी दिन भारत ने संसार को ज्ञान और कर्म का संदेश दिया था, आज वही ज्ञान विहीन किंकर्तव्यविमूढ़ है। पर आज उसका तप और संयम सफल है। अहिंसा के अमृतोपम दुग्ध से भारतीयों के मन का भय, दुखांधकार एवं भ्रम दूर हो गए हैं। हमारी भारत-माता संसार की माता है जो प्रत्येक के जीवन-विकास के साधन प्रस्तुत करती है।

विशेष=(१) दुखी के नयनों से हर समय पानी बहता रहता है एवं वह जब चलता है, दुख के भार से निगाह ऊपर नहीं उठा पाता। भारत की ऐसी ही दशा है।

(२) इतना अधिक सताया जाने पर भी भारत ने हिंसा का प्रत्युत्तर अहिंसा के स्वर में दिया—यह आज के युग को भारत की महान् चुनौती है। सत्य और अहिंसा की यह देन भारत की अपनी है।

४३—ग्राम युवती (दिसम्बर '३९, ग्राम्या)

उन्मद.........................अधरों के तट।

शब्दार्थ—उन्मद=मस्ती से भरा हुआ। अति श्याम=भुजंग काला। श्लथ=शिथिल, धीरे-धीरे। गज गति=हाथी की सी मस्त चाल वाली, गजगामिनी। उरोज=स्तन। युग घट=दोनों घड़े, स्तन। दशन=दाँत।

भावार्थ—ग्राम की काली युवती मस्त चाल से जा रही है। वह यौवन में चूर है। पंत की आलोचक निगाह उस पर पड़ ही गई। वे दूसरों से भी कह निकले :

तनिक उस युवती को तो निहारिए। आषाढ़ की नवीन घटा के समान वह उन्मादकारी यौवन से भरी हुई है। उसका रंग वैसे तो अत्यंत काला है पर वह लगती सुन्दर है। वह अलसाए हुए बड़े धीमे पगों से इठलाती हुई, हाथी की चाल के समान, टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर जा रही है। वह कभी अपने वस्त्र को सरकाती है, कभी बिखरे बालों को सँभालती है और जब अपने घड़ों के समान दोनों स्तनों को देखती है तो झट शरमा जाती है। जब वह खिलखिलाकर हँस पड़ती है तो ऐसा लगता

है मानो दाँतों से निकलकर ओठों के तटों पर फेन से भरा हुआ कोई शुभ्र झरना फूट पड़ा हो।

विशेष—(१) गाँव की काली युवती का हूबहू चित्र है इसमें। जिस प्रकार उस युवती के कार्य झट ही झट होते हैं, तद्वत कविता की पंक्ति भी शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। यह क्षिप्रता भाव समझने में अत्यंत सहायक होती है।

(२) पंतजी जहाँ भी युवती का स्मरण करते हैं 'उरोजों के युग घट' नहीं भूल पाते। वैसे भी यह वर्णन रीतिकालीन कवियों के वर्णन की भाँति नितांत स्थूल है।

वह मग·························पलक पट।

शब्दार्थ—प्रिय पद=अपने प्रेमी के पैर की। उल्लसित=प्रसन्नतापूर्वक।

भावार्थ—आषाढ़ की नई घटा के समान मस्त यौवन वाली अति श्याम वरण ग्राम युवती का वर्णन जारी है—

रास्ते में चले जाते हुए उस युवती को ज्यों ही अपने प्रेमी की पग-ध्वनि सुनाई पड़ती है वह कुछ देर ठहर जाती है। फिर तनिक पीछे देखकर थोडा-सा झुककर अपना अंचल ठीक करती है। इतने में गाँव का युवक जो उसके प्रेम का भूखा होता है, आ जाता है। वह उसे अपलक नयनों से बड़ी प्रसन्नतापूर्वक निहार निकलता है। युवती भी उल्लास और आश्चर्य से भर जाती है और बड़ी शीघ्रता से झूमकर आँखें बंद कर लेती है।

विशेष—पंतजी यह भूल जाते हैं कि गाँव में राह चलते प्रेमी-प्रेमिका अपने प्रेम का प्रदर्शन कभी नहीं करते। यह शहर की गलियों एवं राजमार्गों पर ही संभव है।

पनघट पर·················उर पर धर पट।

शब्दार्थ—उबहनी=(स्थानिक शब्द) रस्सी। युग कलश=दोनों स्तन।

भावार्थ—पंतजी ने पहले गजगामिनी को टेड़ी डगर पर जाते देखा, अब उनकी निगाह यानी खींचती हुई ग्राम युवती पर पड़ती है।

जब वह ग्राम नारी पानी भरने के लिए पनघट पर पहुँचती है तो समस्त नर-नारी उस पर मोहित हो जाते हैं। जब जल से भरी गागर को वह रस्सी से खींचती है तो न चाहते हुए भी रस से भरे हुए उसके दोनों स्तन-कलश चोली से उभर-उभर कर साथ-साथ खिंचते हैं। और फिर वह भारी गागर को अपने सर पर रखकर, वक्ष को ओढ़नी से ढंक कर, रस बिखेरती हुई बड़ी लचक के साथ घर को चल देती है।

विशेष—(१) चोली के कंदुकों को देखना पंतजी यहाँ भी नहीं चूके। कुछ भी हो निरीक्षण बड़ा सूक्ष्म है। भारी गागर खींचते समय चोली के दोनों घड़े वास्तव में कसमसा उठते हैं जिन्हें निहार कर सबको उल्लास होता है। चाहे कोई कहे नहीं।

(२) तुलसी के युग में नारी मोहित नहीं होती थी, पंतजी के युग में सब संभव है—वह भी पनघट पर और ऐसी नारी पर जो 'अति श्याम वरण' है।

कानों में··························पकी बाली।

भावार्थ—खोंस=लगाकर। कच=बाल। पिक=कोयल। श्रम कण=श्रम की वजह से आई हुई पसीने की बूँदें। स्वर्ण शस्य=पका अन्न। डाली=डलिया। उरु=छाती। कीट=कमर। वर्षातप=धूप और बरसात। धनि=स्त्री। क्षिप्र=तेज़।

भावार्थ—ग्राम युवती, श्याम रंग की होते हुए भी, अत्यंत सुंदर लगती है। उसका हँसना अत्यंत मोहक है। जब वह पनघट पर जाती है। तो नर-नारी मोहित हो जाते हैं। वह निर्धन है तो क्या है, गहनों से सजी हुई है।

वह ग्राम-युवती कानों में अड़हुल का फूल लगाए हुए है या फिर कुँई कनेर या गुलाब के फूलों का प्रयोग करती है। अपने बालों का शृंगार वह हारसिंगार के फूलों से करती है। अनन्तर कोमल मौलसिरी का हार गूँथकर वह गायों के साथ वन में जाती है। जब कोयल और चातक आवाज करते हैं, वह भी उनका साथ देती है। जब वह अकेली होती है तब कुँद, काँस, अमलतास, आम की मंजरियों, सहजन एवं पलाश से ऋतु-सिंगार करती है। उसके शरीर में शोभावान् यौवन हिलोरें मार रहा है। मुँह पर श्रम के कारण आए हुए पसीने की बूँदें हैं, काम करने के कारण ही उसका मुँह सूर्य सा लाल हो रहा है। सर पर पके अनाज का गट्ठर रखकर छाती मटकाती एवं कमर लचकाती हुई वह खेतों की मेंढ़ों पर आती जाती है। चाहे वर्षा हो, चाहे गर्मी और चाहे सर्दी—वह सदैव काम में जुटी रहती है। उस स्त्री का रंग काला है। चलने में वह बड़ी जल्दी करती है, उसके ओठों से पकी बाल दबी हुई है।

विशेष—(१) गाँव की ओर यह बहुधा देखा जाता है कि जब कोयल अथवा पपीहा बोलता है, बच्चे भी उसीके पीछे-पीछे बोलते चलते हैं। ग्राम की वह युवती भी पिक चातक के साथ-साथ बोलती चलती है। कवि की यह सूक्ष्म दृष्टि प्रशंसनीय है।

(२) ग्राम-स्त्रियाँ गहनों की अत्यंत शौकीन होती हैं। पंतजी की युवती निर्धन होने के कारण कुँई, कनेर, हारसिंगार, मौलसिरी आदि के फूलों का सहारा लेती है।

(३) 'उरु मटकाती, कटि लचकाती' पंक्तियाँ अत्यंत ही फूहड़ हैं। रंडी-भड़ुओं का-सा दृश्य प्रस्तुत हो जाता है जो मुँह का स्वाद बड़ा बुरा बना जाता है।

रे दो दिन························क्षण।

शब्दार्थ—दो दिन का=चंद दिनों का, थोड़े समय का।

भावार्थ—ग्राम की युवती को कवि ने विभिन्न कार्य करते देखा। उसके यौवन पर वह लट्टू हुआ पर स्वभाव के अनुसार अंत में दार्शनिक का सा गंभीर

चेहरा चढ़ा लिया ।

यह माना कि वह घनवर्णी इस समय मस्ती में है, पर कितने दिन ? उसका यौवन अस्थायी है, क्षण भर का स्वप्न है, चार दिन की चाँदनी है। दुख एवं चिंता के मारे उसकी जवानी बड़ी जल्दी ढल जाती है। उसका मोहक शरीर चार दिन में ही घिस-घिस कर जर्जर हो जाता है। सच पूछो तो उसकी जवानी उस तिनके के समान है जो कुछ समय तक ही लहरों से मुस्कराया हो और बाद में तट से बह गया हो।

विशेष—(१) ग्राम-युवती का चित्र बड़ी गहरी कूँची से खींचा गया है। अंत में उसके भविष्य की भी झाँकी करा दी गई है पर अधिकांशतः उसकी प्रसन्न क्रियाओं का ही चित्रण है।

(२) प्रस्तुत रचना से आगे वाली रचना 'ग्राम-चित्र' में पंत ने ग्रामीणों की अत्यंत दयनीय अवस्था का चित्र खींचा है, पर प्रस्तुत रचना मस्ती में डूबी हुई है। इस विरोध को ध्यान मे रखते हुए पं० विनय मोहन शर्मा लिखते हैं, "जब अगणित ग्रामिक जीवन्मृत दिखलाई देते है तब 'ग्राम-युवती' शीर्षक रचना मे ग्राम-युवती का इठलाते हुए आना और पट सरका, लट खिसका-शरमाई, नमित दृष्टि से उरोजों के युग घर देखने का चापल्य प्रदर्शित करना कहाँ तक तथ्य संगत है, इतना ही नहीं उसमें कवि ने रोमांस के प्रति उन्मादक भावना भी आरोदित की है। वह कानों में गुड़हल आदि फूलों को खोंस, हारसिंगार से कच सँवार प्रन-विहार भी करती है और मेंढ़ों पर 'उर मटका' और 'कटि लचका' कर आती जाती भी है। बेचारी ग्राम-नारी, कवि के शब्दों मे, सुधा और काम से चिर मर्यादित रहती है।

"कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज।"

फिर भी उसे 'ग्राम-युवती' में अत्यधिक कामुक चित्रित कर उसने अपने कथनों में विरोध प्रदर्शित किया है।

४४. ग्राम चित्र (दिसम्बर '३९, ग्राम्या)

यहाँ नहीं है...............संस्कृति से निर्वासित।

शब्दार्थ—म्लान=मुरझाई हुई, दुखी। अभिशापित=जिन्हें अभिशाप दे दिया गया है, दुखी। निर्वासित=जिसे देश निकाला दे दिया गया हो, रहित।

भावार्थ—'ग्राम्या' का कवि गाँवों की दयनीय दशा निहारकर अत्यधिक दुखी होता है। भारतीय ग्राम का चित्र वह ज्यों का त्यों खींच देता है।

यह गाँव है। यहाँ ऐश्वर्य में निमग्न जीवन की चहल-पहल कहाँ ? यहाँ तो वन की मर्मर ध्वनियुक्त सुगंधित समीर डोलती है। पर यहाँ आकर वायु भी अत्यंत खिन्न हो जाती है। गाँव में प्रभात अकेला एवं मौन आता है, संध्या में

उदासी भरी रहती है। दोपहरी में यहाँ स्वप्नों की छाया के समान निराशा छाई रहती है। शहरों की भाँति रात को दिन बनाने वाले बिजली के दीपक (बल्व) यहाँ नहीं जलते। अंधकार में रात और भी अधिक अंधकारमय एवं भयदायिनी लगती है। यहाँ के रहने वाले मनुष्य न जाने कितने जमाने से वानरों के समान दुखी चले आ रहे हैं। वे अन्न वस्त्र-विहीन, दुखी, असभ्य, मूर्ख एवं कीचड़ में पले हुए हैं। क्या यहाँ लोग रहते हैं ? नहीं नहीं, यह तो कोई अनजाना नरक है। अफसोस कि यह भारत का गाँव है जिनमें न सभ्यता है, न संस्कृति।

विशेष—'गाँव' के लिए 'अपरिचित नरक' कहना कितना उपयुक्त है। सुनते हैं नर्क में क्लेश ही क्लेश है। गाँव में ही कहाँ सुख है ? पर इतने पर भी उसे 'सभ्यता संस्कृति से निर्वासित घोषित करना उचित नहीं। शहर की सी चटक-मटक तो वहाँ निस्संदेह नहीं, पर भारतीय सभ्यता बची-खुची ग्रामों में ही आजकल रह गई है— 'मातृ देवोभव, पितृ देवोभव' आचार्य देवोभव' और उससे भी अधिक 'अतिथि देवोभव' अब केवल गाँव में ही रह गया है। यही हमारी संस्कृति है, यही हमारी सभ्यता है। पंतजी को शायद सिविल लाइन्स की सभ्यता भाती हो।

झाड़ फूंस ....जीवन्मृत।

शब्दार्थ—विवर=बिल, घर। जीवन शिल्पी=जीवन का निर्माण करने वाले। विद्युतप्रभ=बिजली की ज्योति से ज्योतित। चिर विषण्ण=हमेशा का दुखी। जीवन्मृत=जीते हुए भी मरे के समान।

भावार्थ—गाँव की दशा निहार कर कवि का गला भर आता है। वहाँ न कोई चहलपहल है, न आशा, न आनन्द, न सभ्यता, न कुछ। कवि को वह 'अपरिचित नरक' लगता है।

यह झोंपड़ियाँ तो देखो। यह उसके घर है जो जीवन का निर्माण करता है। ये कीड़ों के समान कौन रेंग रहे हैं ? आह ! यह बुद्धि और प्राणधारी स्त्री-पुरुष हैं। यहाँ का संसार ऐसी क्षुद्रता एवं लाचारी से भरा हुआ है कि शब्द नही कह सकते। गाँव की दशा इतनी खराब है कि घर, खेत, राह—सर्वत्र लडाई-झगड़ा मचा रहता है। यहाँ सूर्य और चन्द्र प्रसन्नतापूर्वक चमकते हैं, नक्षत्र हँसा करते हैं, पक्षी चहकते हैं, बिजली प्रत्येक क्षण मेघों को ज्योतित कर देती है। यहाँ भाँति-भाँति की वनस्पतियाँ एवं हरियाली है। फूंस, ओस, कोयल, आम की डालियाँ सभी प्रसन्न हे। यहाँ का नीला आकाश है, हरी-भरी धरती है, सूर्य का प्रकाश है, प्रसन्न चाँदनी है। अर्थ यह कि प्रकृति के अतुल भण्डार गाँव का कण-कण प्रसन्न है यदि कोई सदैव दुखी रहने वाला है तो है मानव—वह लाश मात्र है जो चलती-फिरती है।

विशेष—ग्रामीण जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत पंक्तियों में खींचा गया है। प्रसन्न प्रकृति की पृष्ठभूमि में ग्राम चित्र और भी काला रंग गया है। 'वनस्पति'

को कवि ने पुल्लिग माना है ।

४५–धोबियों का नृत्य (जनवरी '४०, ग्राम्या)

लो छन ························ हरती मन ।

शब्दार्थ—कल = सुंदर । कटि = कमर । रजक = धोबी ।

भावार्थ—होली का शुभ दिन है। संसार मस्ती में डूबा हुआ है, चारों ओर जशन मनाए जा रहे हैं, फिर भला धोबी कैसे शांत बैठे रहते ?

होली का मस्ती भरा दिन है। लो पैरों में सुंदर घुँघरू बाँधकर गुजरिया नाच निकली। लोगों के मन लुट निकले। नट की कमर में तरल घण्टियाँ बँधी हुई हैं। उसकी कमर में सैंकड़ों बल पड़ रहे हैं, फलतः घंटियों से तरल ध्वनि निकल रही है। गुजरिया फिरकी के समान तेज़ घूमकर मन हरने लगी। ढोल, हुडुक और मंजीरे बज निकले। उनसे विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलीं। धोबी नशे में चूर है। होली का दिन जो है आज।

विशेष—(१) होली का दिन गाँव में बड़ा मस्ती भरा होता है। निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी उस दिन शराब के नशे में चूर होकर जशन मनाता है। भारतीय ग्रामों में धोबी नाचने के लिए अत्यंत विख्यात हैं।

(२) शब्द-चयन अतीव सुंदर है। छन-छन, धातिन, खिन-खिन की आवाजें अपने स्वामियों के पते चिल्लाकर बता रही हैं।

वह काम ························ हरतो मन ।

शब्दार्थ—नितंब = चूतड़। हुलस = प्रसन्न होकर। कंदुक = गेंद, स्तन।

भावार्थ—होली का चिरभिलषित त्योहार आया है, सर्वत्र प्रसन्नता छाई हुई है। रजक और गुजरिया नाच रहे हैं, लोगों के मन लुट रहे हैं।

गुजरिया का नाच काम की लौ के समान उद्दीपक है। नट की कमर मे लालसा के भँवर पड़ रहे हैं। उसके नितंब बार-बार काँपते हैं जिससे घण्टियों में काम के स्वर भर जाते हैं। गुजरिया नाचे जा रही है। उसका लहँगा फहरा रहा है, ओढ़नी उड़ रही है, चोली कसमसा रही है जिससे स्तनों को जगह लगी हुई कपड़े की गेंदें दिखाई पड़ रही हैं। एँ, यह क्या ? यह दरअसल औरत नहीं, पुरुष है जो स्त्री बन गया है। ढोल और मंजीरे पूरे जोर से बज रहे हैं, लोगों की अतृप्त वासनाएँ और भी भड़क रही हैं। शुभ अवसर है, उत्सव हो रहा है, आदमी औरत का वेष धारे नाच रहा है, मन इस पर ही लुटे जा रहे हैं।

विशेष—(१) स्त्री का नाम आते ही पंत को उसकी चोली के भीतर की चीज़ कहने की बड़ी बुरी आदत पड़ गई है। चाहे वह पानी भरे, चाहे उन्हें किसी छाया में वह दिखाई पड़े, चाहे ग्राम-युवती सर्प डगर पर जाय—चाहे मजदूरी करने जाय—पंत को यह नहीं भूलती।

(२) आचार्य विनयमोहन जी इस नृत्य के विषय में लिखते हैं—"धोबियों में जब छन-छन-छन, गुजरिया नाचने लगती है तब दर्शकों का मन सहज ही हर लेती है। वाद्यों का वर्णन कानों में जैसे वाद्य ध्वनि भर रहा है—

"उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन
औ हुडुक घुड़कता ढिम, ढिम, ढिन
मंजीर खनकते खिन-खिन-खिन,"

किंतु जब हम यह पढ़ते हैं—

"फहराता लहँगा लहर लहर
उड़ रही ओढ़नी फर् फर् फर्,
चोली के कंदुक रहे उघर"
(स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर)

तब गुजरिया के नृत्य से उत्पन्न होनेवाला सहज शृंगार उसे नर के रूप में जानकर रसाभास में परिणत हो जाता है। गुजरिया का नर-रूप प्रकट हो जाने पर कवि **'हुलस गुजरिया हरती मन'** गाता जा रहा है और नारी-रूप नर को उर की अतृप्त वासना का आलंबन बनाता जा रहा है। यह अप्राकृतिक व्यापार घिनौना-सा प्रतीत होता है। अधिक से अधिक रहस्योद्घाटन के पश्चात् गुजरिया की छन-छन छन-छन मुद्रा हास्य का आलंबन बन सकती है—शृंगार का नहीं। चोली के कंदुक उघार कर अपना असली रूप प्रकट करने के बाद भी गुजरिया चतुर (?) ही बनी हुई है। यदि "फहराता लहँगा लहर-लहर' 'हुलस गुजरिया हरती मन" पंक्तियाँ कविता के अंत में आतीं, तो रहस्योद्घाटन अधिक उपयुक्त होता और औत्सुक्य, हास्य आदि भावों का सहज संचार होता। संभवतः ग्रामवासियों के असंस्कारी मन को प्रकट करने के लिए कवि ने यह असंस्कारी चित्रण किया है।" कुछ भी हो भाषा बड़ी मस्त है, लगता है कोई धोबी कमर कसे सामने ही घूमे जा रहा हो।

४६—ग्राम-श्री (फरवरी '४०, ग्राम्या)

फैली खेतों..............................वृन्तों पर।

शब्दार्थ—तलक=तक। फलक=आसमान। किंकिड़ियाँ=घंटियाँ। तैलाक्त=तेल से सनी हुई। तीसी=अलसी, एक तिलहन। छीमियाँ=मटर की फलियाँ। वृत=पत्ता, डाल।

भावार्थ—प्रस्तुत रचना में पंत जी गाँव की शोभा का यथातथ्य चित्रण करते हैं।

खेतों में बहुत दूर तक कोमल हरियाली ही हरियाली दिखाई पड़ रही है। ऐसा लगता है मानो मखमल बिछी हुई हो। उस पर सूर्य की किरणें पड़ रही हैं, लगता

है चाँदी की जाली हो। तिनकों की हरीतिमा पर सूर्य की किरणें पड़कर लाल बन गई हैं। हरी धरती पर नीला आकाश झुका हुआ है। छोटी-छोटी घास लगती है धरती के रोमांच हों। गेहूँ और जौ में बालें आ गई हैं। अरहर और सनई में सुनहरी घुंडियाँ लगी हुई हैं जो अत्यंत मोहक हैं। सरसों खिलकर पीली हो गई है जिसमें से तेल की सी गंध उड़ रही है। उधर हरी ज़मीन से अलसी की नीली कली नीलम से कम शोभायमान नहीं है। मटर विभिन्न रंग के फूलों के साथ हंस रही है। उसकी मखमली पेटियों से फलियाँ लटक रही है जिनके भीतर बीज सुशोभित हैं। रंग-विरंगी ही तितलियाँ है और रंग-बिरंगे ही फूल। उनका एक फूल से उड़कर दूसरे फूल पर जाना ऐसा लगता है जैसे स्वयं फूल ही एक डाल से दूसरी डाल पर जा रहे हैं।

विशेष—कवि ने ग्राम में जैसा देखा है वैसा ही कह दिया है। यत्र-तत्र उपमालंकार है जो अनायास आ गया है।

अब रजत स्वर्ण..................बाग, गृह वन।

शब्दार्थ--मंजरी = कोंपल, कल्ला। चित्तियाँ = चितकबरापन, धब्बे। गंजी = (स्थानिक शब्द) शकरकंद। छायातप = धूपछाँह। श्लथ = थके हुए। छाजन = कपड़ा, छप्पर छाने का ढंग, छप्पर। गजरा = गाजर के पत्ते, हार।

भावार्थ—कवि गाँव के सौंदर्य को जिस रूप में देखता है, लिख देता है। खेतों की सुंदरता दर्शनीय है, सरसों फूली हुई है, मटर की फलियों मे बीज सुरक्षित है, गेहूँ, जौ पर बालें आ गई है।

आम की डालियाँ सफेद और सुनहरी कोपलों से लद गई, ढाक और पीपल पर पतझड़ आ गया, कोपल मस्त होकर गा उठीं। कटहल महकने लगे हैं, जामुन पर फूल आ गए है, जगल में झरबेरी मस्त है। आड़ू, नींबू, अनार, आलू, गोभी, बैंगन, मूली सब पर फूल आ गए हैं। मीठे अमरूदों में लाल-लाल चित्तियाँ पड़ गई हैं। बेर पककर सुनहरे एवं मधुर हो गए है, वृक्ष की डालें अँवली (आँवले ?) से लद गई हैं। पालक लहलहा उठा, धनिए की सुगंधि फैल गई, लौकी और सेम फूल-फल गई। टमाटर जो पहले कुछ हरे से थे, अब लाल हो गए है, मिर्चों की हरी थैली बड़ी हो गई है। शकरकंद की बेल पर पाला पड़ गया है, अरहर के फूल झुलस गए हैं। मालिन की लड़की, तुलसा, अब दिन भर बंदर भगाया करती है। छोटी-छोटी लड़कियाँ गाजर के पत्तों को काटती रहती हैं। जब वे गुपचुप बातें करती हैं, तभी मुस्करा जाती हैं। लगता है अत्यंत छोटी घण्टियाँ बज रही हों। चाँदी की घण्टियों का स्वर उन बालिकाओं के स्वर से किसी भाँति अधिक अच्छा नहीं होता। बहती हुई हवा से फ़सल हिल निकलती है जिससे कहीं धूप दिखाई पड़ती है, कहीं छाया। ईख में के काँस फूल गए हैं। लगता है वे झण्डी फहरा रहे हैं। अरहर के ऊँचे खेत पाकर मदमस्त युवक-युवती निर्द्वन्द्व हो उनमें

केलि कर निकलते हैं। प्रेमी युवकों का चुम्बन पाकर युवतियों की थकान बिल्कुल दूर हो जाती है। बगिया के छोटे-छोटे वृक्षों पर पड़े हुए छोटे-छोटे छाजन बड़े सुदर लगते हैं। गेहूँ की बालो पर ओस की बूंदें मोती के समान चमकती हुई शोभा पा रही हैं। प्रातःकाल चारों ओर कोहरा छा जाने से सांसारिक वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती हैं। ऐसा लगता है जैसे आकाश ही धरती पर उतर आया हो। और फिर कोहरा जब धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है तब का दृश्य बड़ा ही अभिराम लगता है—ऐसा लगता है जैसे खेत, बाग, बन सब उसी कोहरे से निकल रहे हैं।

विशेष—(१) केशव की भाँति पंत जी को जो कुछ याद आया है, उसी का नाम लिखा दिया है। पालक, धनिया, लौकी, सेम, आलू सब एक ही साँस में फुला दिए हैं—'विश्वामित्र विचित्र वन'।

(२) युवतियों की ओर निहारना वे यहाँ भी नहीं चूके। और अब के तो उन्होंने कुछ करते भी देख लिया यद्यपि वे 'ऊँचे अरहर के खेतों में लुका-छिपी खेलती' थीं।

(३) ग्राम का वास्तविक चित्र बनाने के लिए मालिन की लड़की का नाम पंतजी ने 'तुलसा' रक्खा है, ज्योत्स्ना, उर्वशी जैसा नागरिक नहीं।

बालू के......................हरता जन मन।

शब्दार्थ—सतरंगी = अनेक रंगों वाली। पुलिन = तट। कर्दम = कीचड़। धरित्री = धारण करने वाली, धरती। सद्यस्नान = अभी-अभी नहाई हुई। मरकत = पन्ना। आच्छादन = ढकाव, ढक्कन। निरुपम = अनन्य।

भावार्थ—ग्राम-श्री से पंत अत्यधिक प्रभावित हैं। उन्हें न जाने किस गाँव में वे सब वस्तुएँ दिखाई पड़ जाती हैं, जो संभव हैं—कठहल, बेर, गेहूँ, गंजी, अरहर, छीमियाँ, फूली सरसों आदि।

गंगा की रेती पर लहरों ने ऐसे-ऐसे कटाव बना दिए हैं मानो वे साँप हों। उस पर जब सूर्य की किरणे पड़ती हैं तो वह न जाने कितने रंगों से रंगी दिखाई पड़ती है। वहीं तट पर खरबूजे की खेती हो रही है। यह दृश्य अत्यंत मनोहर लगता है। वहीं बगुले दिखाई पड़ते हैं जो अपनी उँगली रूपी कंघी से कलँगी ठीक करते हैं। जल में सुर्खाव तैरते हैं, मगरौठी किनारे पर सोती है, सामुद्रिक जल में डुबकी लगाते हैं, धोबिन पक्षी अपनी पीली चोंच धोती हैं, अबाबील उड़ती है, अबाबील कीचड़, टिटहरी-कीड़े और बया तिनके चुनती है। नीले आकाश में की हलकी धूप में पीलो के समूह मँडराते हैं जिनके पंख कभी काले, कभी भूरे दिखाई पड़ते हैं। कुछ पक्षों वृक्षों पर नीचे मुँह किए लटक रहे हैं जो वन में घूमते हुए बालकों द्वारा जान लिए गए हैं और जिनकी वे दुर्गति कर रहे हैं। कुछ वृक्ष जहाँ हरे-भरे हैं, वहाँ कुछ ऐसे भी हैं जो ठूँठ मात्र रह गए हैं, पत्ते का नाम-निशान नहीं है। वायुवेग से आँगन में घूम रही है जिसके द्वारा लाए गए पत्ते इधर-उधर उड़

रहे हैं। शिशर के समीर में भँवर पड़ रहे हैं। बादल हट जाने से धरा ऐसी लगती है जैसे कोई ऋतुमती, रजस्वला स्त्री अभी-अभी नहाई हो। शरद्काल का आतप वृक्षों को मनभावन लगता है; अतः उस समय वे आराम कर निकलते हैं, प्रतीत होता है वे आलस्य में आकर सो गए हैं। समूची हरियाली उसी प्रकार ख़्वाब में पड़ जाती है जिस प्रकार रात की ओसभरी अँधियारी में तारे।

सारा गाँव, इतनी निधियों सहित, ऐसा लगता है जैसे पन्ने का डिब्बा खोल-कर रख दिया गया है जिस पर आकाश रूपी नीलम का ढक्कन शोभायमान है। शरद् ऋतु के अंत का तो कहना ही क्या ? सर्वत्र शांति छा जाती है, सर्वत्र स्निग्धता फैल जाती है। उस समय की ग्राम की शोभा मनुष्य के मन को अनजाने ही मोहित कर लेती है।

विशेष--(१) प्रस्तुत रचना में अव लगता है, न तो किसी एक ही ग्राम का वर्णन है और न किसी एक ही ऋतु की उपज का। 'गंगा की सतरंगी रेती' हर गाँव में मिलना कैसे संभव है।

(२) गाँव की पंतजी ने हमें दो तस्वीरें दिखाई--एक पिछली, एक यह; एक काली, एक सफेद; एक हृदय की, एक आँख की।

(३) पंतजी अपना छाया युग बहुत पीछे छोड़ आए पर अभी वे उससे अपना पूर्ण सम्बन्ध नहीं तोड़ पाए हैं। सबूत ? अंतिम चार-पाँच पंक्तियाँ पढ़िए। गाँव को 'मरकत डिब्बे सा' कहना जिस पर 'नीलम नभ का आच्छादन' हो प्रगतिवादी नहीं लिख सकता। इसी प्रकार 'तारक स्वप्नों में–से खोए' 'पल्लव' के पंत की याद दिलाता है। तभी तो डा० रामविलास जी ने लिखा था, कि पंत जी छायावाद से नाता तोड़ कर भी नहीं तोड़ सके--"नाता पुराना था, एक बारगी इतनी आसानी से टूट कैसे जाता ?" और बहुबारगी से भी उनका नाता नहीं टूटा। पर यह किसी लिहाज़ से अच्छा ही हुआ।

४७–गंगा (फरवरी '४०, ग्राम्या)

अब आधा..........................परिणत।

शब्दार्थ--संध्यातप=शाम की हलकी धूप। विश्रुत=विख्यात। निर्गत=निकालकर। ऊर्मि=लहर।

भावार्थ—संध्या की कोमल धूप गंगाजल पर पड़ रही है। कवि उसी समय की गंगा का वर्णन करते हुए कह रहा है--

इस समय गंगाजी का आधा जल पीले रंग का एवं स्थिर है तथा आधा जल नीले रंग का एवं चंचल है। उसके गीले शरीर पर साँझ की कोमल भूप का ढीला ढाला रेशमी वस्त्र पड़ा हुआ है। प्रातःकाल और संध्या हमारे यहां सुनहरी रंग के होते हैं, रात और दिन चाँदी के मान श्वेत। न मालूम गंगा इन सब को बहाकर

कहाँ ले जाती है। जीवन के अनगिन युग बड़ी शीघ्रता से, क्षणों के समान, व्यतीत हो गए पर गंगा का प्रवाह जारी है। इसका निकास उस हिमालय पर्वत से है जिसकी ख्याति देश-देशांतरों में फैली है। इसकी उठती हुई चंचल तरंगों पर किरणों का पड़ता हुआ प्रकाश नयनों को अत्यंत अभिराम लगता है। राह में इसे यमुना गोमती आदि अन्य नदियाँ भी मिल जाती हैं। यह उन्हें निराश नहीं करती। उन्हें गले लगा लेती है और सबको साथ ले जाकर महा समुद्र में पर्यवसित होती है।

विशेष--(१) भारत का आकाश निरभ्र रहने से यहाँ के दिन और रात अत्यंत स्वच्छ रहते हैं। साँझ-प्रात को सोने के एवं दिवस-रात को चाँदी के कहना रंग के सादृश्य का परिचायक है। एक अन्य कवि के लिए भी यहाँ 'कनक से दिन, मोती सी रात' सहज प्राप्य हैं।

(२) किनारे का जल कुछ मटमैला सा पर अपेक्षाकृत शांत होता है। बीच में नदी अत्यंत गहरी होती है अतः वहाँ का जल नीला एवं लहरोंयुक्त होता है। पंत जी को इसीलिए प्रारंभ में ही आधा जल पीला एवं आधा नीला दिखाई पड़ता है।

यह भौगोलिक .... कंचुक काया।

शब्दार्थ--प्रथित = प्रसिद्ध, विख्यात। विष्णु पदी = विष्णु के पैर से निकली हुई। शिवमौलि सुता = शिवजी के मस्तक से बही हुई। भीष्म प्रसू = जिसने भीष्म पितामह को जन्म दिया था। जह्नु सुता = महात्मा जह्नु की कन्या। तारिणी = तारने वाली, पुनर्जीवित कर देने वाली। श्रुता = सुनी जाती है, विख्यात। सरी = छोटा सरोवर। कंचुक = केंचुल।

भावार्थ--गंगा जी न जाने कितने युगों से सोने के साँझ-प्रातः एवं चाँदी के बने हुए दिवस-रात को बहा कर ले जा रही है। विख्यात पर्वत हिमालय से निकलकर अन्यान्य नदियों को अपने में मिलाकर यह महासागर में गिरती है।

इस भौगोलिक गंगा से हम परिचित हैं। इसके तट पर विख्यात नगर बसे हैं। किंतु यह गंगा जड़ है जिसके किनारे पर ही एक चेतन गंगा प्रभावित है। यह विष्णु के पैर से निकलती है, शिव जी के मस्तक से बही है, ऋषि जाह्नव की कन्या है। जिसने पितामह भीष्म को जन्म दिया है, वह देवगंगा है, स्वर्गगंगा है, वह राजा सगर के सहस्त्रों पुत्रों को तारने वाली गंगा है। वही गंगा वास्तविक गंगा है। यह चिर परिचित भौगोलिक गंगा तो उसकी छाया मात्र है। लोक-चेतना वाली गंगा तो वस्तुतः वही है, यह तो एक धोखा है, मात्र प्रतीति है जो दरअसल है कुछ नहीं। वह आत्मा को पावन करने वाली, ज्योति का सरोवर है। यह तो मिट्टी में गिरी हुई उसी चेतन गंगा की केंचुली से अधिक नहीं।

विशेष--(१) कवि ने दो गंगाएँ मानी हैं--एक चेतना की दूसरी भूगोल की। उसका कहना है कि चेतना की गंगा भूगोल की गंगा से बहुत गुनी श्रेष्ठ एवं

सुन्दर है।

(२) विष्णुपदी, शिवमौलि सुता, जह्नु सुता आदि गंगा जी के ही नाम हैं जो कार्यों के अनुसार पड़े—जैसे गंगा, विष्णु के कमंडल से ही प्रारंभ में निकलीं उन्हें शिवजी की जटाओं ने रोका जहाँ से वे फिर धरती पर गिरीं आदि। यह सब पौराणिक गाथाएँ हैं।

वह गंगा..........................कुछ अंकित।

शब्दार्थ—जन-मन = मानव-मन। नर्तित = नाचते हुए। सैकत = बालू। प्लावित = जिस पर पानी चढ़ आया हो, सिक्त। वाहित = ढोया हुआ, प्रवाहित, चालित। मृदु = कोमल, मृदुल। उर्वर = उपजाऊ, अव्यर्थ।

भावार्थ—भौगोलिक गंगा तो हिमालय पर्वत से निकलती है किंतु यह गंगा जन-मन से निस्सरित होती है। इसमें बुलबुलों के समान न जाने कितने युग उठ-उठकर विलीन हो गए हैं। वह गंगा आज संसार के निष्प्राण रेतीले किनारों को नम करने के लिए मचल रही है। वह गंगा चारों ओर के जन-मन को सिक्त कर अपार समुद्र में मिल जाती है। वह समस्त दिशाओं रूपी किनारों में नव जीवन भर देगी, उनमें उर्वरा शक्ति उत्पन्न कर देगी।

अब आकाश में तिरछा चाँद उदित हो गया है, गंगा का जल श्याम रंग का है एवं अस्थिर हैं। उन लहरों में शुभ्र चंद्रिका पड़ रही है। ऐसा लगता है वे श्वेत किरणें श्याम पट पर लिख रही हैं। पर यह नहीं जाना जा सकता कि वे लिख क्या रही हैं।

विशेष—(१) भौगोलिक गंगा के साथ-साथ मानसिक गंगा की बात चलाकर पंतजी ने अर्थ को कुछ उलझा-सा दिया है। चेतना की गंगा की यह कल्पना कवि की अपनी है। भौगोलिक गंगा तो मूर्त है, दृश्यमान है, मानसी गंगा अमूर्त है, अदृश्यमान है। यह इस बात की द्योतक है कि भौतिकता से कवि का मन अब कुछ हटने लगा है, वह चेतनावादी डगर की ओर मुड़ गया है और हम देखते हैं कि 'ग्राम्या' के साथ ही साथ पंत की भौतिकवादी (प्रगतिवादी) विचारधारा पर विराम चिह्न लग जाता है। आगे की रचनाओं मे वह अंतश्चेतनावादी बन गया है।

(२) अंतिम चार पंक्तियाँ 'पल्लव' के कवि का स्मरण दिलाती हैं, 'ग्राम्या' के कवि का नहीं। पंत जी को रह-रहकर कदलीवन की याद आती होगी अपने दूसरे युग में। 'पंत-काव्य के तीन युग' शीर्षक अध्याय अवश्य देखिए।

४८—१९४० (जनवरी १९४०, ग्राम्या)

समर भूमि.................. ....निरंतर।

शब्दार्थ—शोणित से रंजित = खून से लथपथ। हालाडोला = हालडोल, हलचल। दुर्धर = दुर्दमनीय, अजेय। वह्नि = आग।

भावार्थ—द्वितीय महासमर के विध्वंसकारी चरण चारों ओर बढ़ रहे थे।

सामाजिक, राजनीतिक उथल-पुथल के कारण त्राहि-त्राहि मची हुई थी। ऐसे में १९४० का नववर्ष आया।

नव वर्ष आ रहा है। युद्ध-स्थल, जो मानव के खून से रंगा हुआ है, पर बिना किसी भय के डग रखता हुआ, पुकारती तोपों की दिशा चीर देने वाली तोपों से स्वागत पाता हुआ, बड़े-बड़े विमानों के पंखों से विष तथा अग्नि की वर्षा करता हुआ, हलचल के अजय यान पर बैठा हुआ नव वर्ष आया है।

विशेष—जिस समय १९४० का प्रारंभ हो रहा था समर-भूमि द्वितीय महा-युद्ध की लाशों से पटी थी, विमानों से बम छोड़े जा रहे थे जिनसे 'विष-वह्नि' निकल रही थी, हिरोशिमा की ईंट रो रही थी।

उधर ....नर्तन।

शब्दार्थ—शत-शत=सैकड़ों प्रकार के। बाने=वस्त्र। सत्व लुब्ध=सत्ता के लोभ में, अधिकार की लालसा से।

भावार्थ—जब १९४० का नव वर्ष प्रारंभ हो रहा था, सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई थी। युद्ध-स्थल लाल हो रहा था, अग्नि से नगर बरबाद हो रहे थे।

संसार में एक ओर तो ब्रिटिश, फ्रांस जैसी साम्राज्यवादी शक्तियाँ संसार को विनष्ट करने के सामान लेकर खड़ी हुई हैं। दूसरी ओर हिटलर जैसी प्रतिगामी शक्तियाँ युद्ध का निमंत्रण दे रही थीं। किस राष्ट्र का विश्वास किया जाता? प्रत्येक की घोषणा थी कि वह सत्य का पक्ष लेकर लड़ रहा है, न्याय के लिए संघर्ष कर रहा है पर सच पूछो तो सबके पीछे एक ही भावना काम कर रही थी और वह थी अपने अधिकारों को बढ़ाने की उत्कट लालसा। प्रत्येक राष्ट्र, सबल राष्ट्र बनना चाहता था कि अधिक से अधिक सागरों पर उसका अधिकार हो जाय ताकि वह क्रय-विक्रय की प्रतियोगिता में सबसे आगे रहें। उनकी यह स्पर्धा समुद्र की छाती पर आज भी नाच रही है।

विशेष—द्वितीय विश्व युद्ध यद्यपि कुछ ही बड़े राष्ट्रों द्वारा प्रत्यक्षतः लड़ा गया था, पर उसका प्रभाव सारे संसार पर पड़ा। विश्व उन दिनों दो शिविरों में बँटा हुआ था—एक ब्रिटेन का दूसरा जर्मनी का। उन्हीं के पीछे अन्य राष्ट्र थे। दोनों का दावा था कि जनतंत्र की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं पर वास्तव में उनके पीछे आर्थिक स्वार्थ था। बाजारों पर अधिकार करने की लालसा उन्हें चैन से नहीं बैठने देती थी। जनतंत्र का तो, जैसा कि युद्ध फल ने दिखा दिया, बहाना मात्र था।

धू-धू ....यौवन।

शब्दार्थ—वाष्प-शक्ति=भाप के यंत्र। दीर्ण=विदारित, फाड़ देना। तुमुल =भयानक, घोर। वत्सर=वर्ष। प्रलयप्रभ=प्रलयकारी भयानक। दुर्धर्ष=दुर्व-मनीय, महान, अजेय। सृजन=निर्माण। विंश=बीसवीं। उत्तर=श्रेष्ठ, नवीन।

भावार्थ—१९४० का नव वर्ष रण-स्थल की लाशों को कुचलता हुआ आ रहा

हैं। दो महान् शक्तियाँ, अपने पीछे अन्य शक्तियों को लिए, आपस में टकरा रही हैं, संसार विचूर्ण हुआ जा रहा है।

भाप के यंत्र धू-धू कर रहे हैं, बिजली की ध्वनि दिशाओं के कानों को फाड़े दे रही है। विस्फोटक पदार्थ (बम, डायनैमायट आदि) सामंतवाद के बचे खुचे प्रासादों को ढहाए दे रहे हैं। जनता का कल्याण वर्ण-संघर्ष में ही है। जिस प्रकार भयानक घटाओं के बीच इन्द्रधनु अत्यंत शोभित होता है उसी भाँति विनाश के बीच में नव-वर्ष आशा का संकेत करता है।

अंत में कवि दुर्दमनीय वर्ष को संबोधित करते हुए कहता है—हे अजेय! तुम्हारा स्वागत है। यह माना कि तुम विनाश के रथ पर आ रहे हो पर इतनी प्रार्थना है कि विनाश के साथ नवनिर्माण भी लाओ। तुम बीसवीं सदी का महान् ज्ञान-विज्ञान एवं नवीन यौवन लेकर आओ। तुम्हारा स्वागत है।

विशेष—(१) निराशा में कवि आशा का संदेश देता है जो प्रगतिवादिता का सूचक है।

(२) कवि को लगता है दुखियों के आँसू वर्ग-संघर्ष (क्लैस स्ट्रगिल) के अनन्तर ही पूछेंगे। साम्यवादियों के अनुसार वर्ग-संघर्ष सदा से चला आ रहा है। जिस दिन इतिहास का पहला ही पन्ना खुला, अमीर और गरीब दो वर्ग हो गए। इनका यह संघर्ष सतत है। अमीर अधिक से अधिक चूसना चाहता है, ग़रीब पिसता आता है। अंत में यह सर्वहारा की स्थिति में आ जाता है। तभी वह विद्रोह कर देता है जिसमें अंतिम विजय उसी की होती है। यही वह 'तुमुल वर्ग-संघर्ष' है जिसमें पंतजी को जनगण का स्वर्णिम भविष्य गोचर होता है।

(३) वसंत पतझर के उपरांत ही आता है। कवि को विनाश में ही सृजन के बीज दिखाई पड़ते हैं। अंतिम दो पंक्तियाँ अच्छी हैं।

४९—वाणी (फरवरी '४०, ग्राम्या)

तुम वहन..............................**अलंकार।**

शब्दार्थ—वहन करना=ले जाना, पहुँचा देना। जन-मन में=जन-साधारण में, गिने-चुने तथा कथित ऊँचे व्यक्तियों में नहीं। भव-कर्म=संसार के काम। रूपांतर=परिवर्तन। जनैक्य=जनता की एकता, संगठन। मनोनभ=मन का आकाश।

भावार्थ—कवि पंत का छायावाद का वह युग चला गया है जब प्रत्येक शब्द को तोला जाता था, खरादा जाता था, चिकना किया जाता था। अब तो ज़माना काफी बदल गया है। अपनी वाणी को सम्बोधित करते हुए वह कहता है—

मेरी वाणी! आज मुझे इतनी ही आवश्यकता है कि तुम किसी प्रकार मेरे विचारों को जन-साधारण तक पहुँचा दो। अब मैं यह नहीं चाहता कि तुम उनके

समक्ष बन-ठन कर ही आओ। संसार का प्रत्येक कार्य आज अपने युग के अनुरूप है, उससे विलग नहीं, भिन्न नहीं। संसार की दशा इस समय अत्यंत दयनीय है। इसका कायाकल्प तो तभी संभव है जब सारी जनता एक होकर दुर्दमनीय शक्ति का संचय कर ले। एकता के अभाव में शक्ति प्राप्त करना असंभव है और उसके बिना उनका निस्तार नहीं हो सकता। मै नहीं चाहता कि तुम अलंकारों से अपना शरीर सजाने में समय गुजारती रहो। मेरी तो एक ही अभिलाषा है और वह यह कि शब्द रूपी पंख मार-मार कर दूर-दूर तक लोगों के हृदय रूपी आकाश में उड़ान भर सको। इसके लिए किसी अलंकार की आवश्यकता नहीं।

विशेष—(१) प्रगतिवादी युग में भाव ही नहीं, अभिव्यंजना की पद्धति भी परिवर्तित हो गई थी। अब शब्द-शब्द में कोई अंतर नहीं रह गया था। छायावाद युग में कुछ शब्द तो काव्य के उपयुक्त ही नहीं समझे जाते थे, पर अब वह बात नहीं। अब तो तथ्य किसी भी प्रकार जनता तक पहुँच जाय—बस। भाषा की कोई चिन्ता नहीं।

(२) प्रगति-युग में कल्पना पर भी ब्रेक लगा दी गई थी। पूर्वयुग में बेसिर-पैर की बातों का बड़ा महत्त्व था, आकाश के गीतों का बड़ा स्वागत था। प्रगति-युग बुद्धिवादी युग था। बुद्धि से भाव नहीं, विचार निकलते हैं। अतः पंतजी अपनी वाणी से 'भाव' नहीं, 'विचार' ले जाने की प्रार्थना करते हैं।

१ **चित् शून्य .... स्वराकार।**

१ **शब्दार्थ**—चित् शून्य = चेतना से रहित, ज्ञान विहीन। निनाद = स्वर, वाणी, गर्जन। स्वराकार = शब्दों का रूप दे सकना, कह सकना।

भावार्थ—प्रगतिवादी पंत अपनी वाणी से प्रार्थना करते हैं कि वह किसी भी तरह हो उनके मन की बात जन-साधारण तक पहुँचा दे। उसे अब अलंकारों की आवश्यकता नहीं।

...तनिक विश्व को देखो। आज उसमें चेतना तो जैसे रह ही नहीं गई है। मैं चाहता हूँ कि उसमें नए स्वर भर जायँ। उनमें आज के युग की नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ही गुण जागृत होवें। हे वाणी! तुम जड़-चेतन से ऊपर उठकर किसी प्रकार भविष्य को मूर्तिमान कर दो—बस यही एक आकांक्षा है। मैं यह नहीं चाहता कि तुम अलंकारों के लिए रूठी रहो।

विशेष—कवि अपनी वाणी को अत्यंत सशक्त देखना चाहता है। वह यह ...चाहता कि उसकी समस्त शक्ति अलंकरण में ही विनष्ट हो जाय। उसे समष्टि ... करना है और इसके लिए टीम-टाम की आवश्कता नहीं। भविष्य ... में खींचकर दिखा देना ही उसका एकमात्र लक्ष्य होना

युग कर्म.......................निःशब्द द्वार.

शब्दार्थ—शाब्दित कर=चित्रण करके, शब्दों में खींचकर, अभिव्यक्ति कर के। भावी=भविष्य। अब्द=वर्ष। ज्योतित=प्रकाशित। निःशब्द=शब्द-हीन, खामोश।

भावार्थ—कवि अपनी वाणी से कहता है कि अब उसे अलंकारों से क्या? युग समस्याओं से आक्रान्त है, उसमें कल्पना को स्थान नहीं। वह किसी प्रकार विचारों को जनसाधारण तक पहुँचा सके—इतना ही पर्याप्त है।

शब्दों का कार्य युग-सत्य को मुखरित करना है। तुम भविष्य के हज़ारों वर्षों के कर्म, रूप एवं सत्य को अभी से जतला दो। जनता के मन में दुःख एवं असन्तोष का अन्धकार छाया हुआ है, तुम उसे दूर कर दो। उसके स्थान पर संतोष एवं आशा का संदेश देकर उन्हें प्रकाशित कर दो। मानव के हृदय का उत्साह इस समय चुप-चाप पड़ा है। तुम हृदय के द्वार खोल दो ताकि जन-जन में शक्ति का संचार हो जाय। तुम यह काम सीधे-सादे ढंग से कर दो। इसके करने में किसी अलंकार की आवश्यकता नहीं।

विशेष—(१) अलंकार, रस, भाषा की मसृणता आदि की उपेक्षा करना प्रगतिवाद का बहुत बड़ा नारा था। 'ग्राम्या' में पंत जी अपने प्रगतिवाद के शिखर पर हैं; अतः वाणी से बार-बार अलंकारों के लिए न मचलने की प्रार्थना करते हैं भावों की अभिव्यंजना के लिए अलंकारों की उँगली थामनी पड़ती थी, पर विचा[र] तो विचार हैं। सादा विचारों के लिए सादा भाषा ही अपेक्षित है। कवि ने अप[ने] [इ]स कथन को कर दिखाया 'पल्लव' 'गुंजन' का कवि 'युग वाणी 'ग्राम्या' में कित[ना] बदल गया—विश्वास नहीं होता। पहले के उसके व्यष्टिवाद के स्थान पर समष्टि[-]वाद आ बैठा। अब उसका ध्यान जनता की ही भलाई में लगा रहता है। छायावा[द] का व्यक्तिवाद अब हवाओं में फेंका जा चुका है।

(२) जन-साधारण की शक्ति अतुल है, उनके हृदय में अमित उत्साह है, पर इसे वे जानते नहीं हैं। कवि की अभिलाषा है कि उसकी वाणी उनके मूक हृदयों के भीतर का बल बाहर दिखा दे, एवं उनके भविष्य को बता दे ताकि वे भावी क्रांति के लिए तैयार हो जायँ। इस समय उन्हें अपने बल का बोध नहीं; अतः क्राति से घबराते हैं। पर, जैसाकि उसने पिछली रचना में कहा है दुखियों का दर्द 'वर्ग संघर्ष' से ही दूर हो सकेगा। यदि उसकी वाणी ऐसा कर सके तो वह अपने को धन्य मानेगा। इसमें, छायायुगीन अलंकरण, अननिवार्य है।

परिशिष्ट—१

सहायक-ग्रंथ-सूची

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२. प्रबंध-पद्म—निराला
३. सुमित्रानंदन पंत—नगेन्द्र
४. सुमित्रानंदन पंत—शचिरानी गुर्टू
५. त्रयी—जानकीबल्लभ शास्त्री
६. भारतीय दर्शन का परिचय—डा० रामानंद तिवारी
७. पंत जी का नूतन काव्य—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
८. छायावाद—रामरतन भटनागर
९. छायावाद और रहस्यवाद—गंगाप्रसाद पाण्डे
१०. हिन्दी-साहित्य में विविधवाद—प्रेमनारायण शुक्ल
११. हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण—किरणकुमारी गुप्त
१२. प्रगति और परम्परा—डा० रामविलास शर्मा
१३. रिकलैक्शन्स ऑव लैनिन—क्लैरा जैटकिन
१४. स्टडी ऑव पोयट्री—ऐनटि्वस्टिल
१५. हिन्दी-साहित्य—बीसवीं शताब्दी—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी
१६. सामयिकी—शांतिप्रिय द्विवेदी
१७. युग और साहित्य—शांतिप्रिय द्विवेदी
१८. सिद्धांत और अध्ययन—गुलाबराय एम० ए०
१९. काव्य के रूप—गुलाबराय एम० ए०
२०. आधुनिक काव्यधारा—डा० केशरीनारायण शुक्ल
२१. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—डा० केशरीनारायण शुक्ल
२२. आधुनिक कवियों की काव्य-साधना—राजेन्द्रसिंह गौड़
२३. नया हिन्दी-साहित्य—एक दृष्टि—प्रकाशचन्द्र गुप्त
२४. मिट्टी की ओर—दिनकर
२५. आधुनिक कवि पंत—आचार्य विद्यासागर
२६. प्रसाद एवं पंत का तुलनात्मक विवेचन—रामरजपाल द्विवेदी
२७. आधुनिक कवि पन्त—कृष्णकुमार सिन्हा